प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में प्रमाण व्यवस्था का मूल्यांकन

(व्यवहाराध्याय के सन्दर्भ में)

Pramukha Dharmasūtroṃ Evaṃ Smṛtiyoṃ Meṃ Pramāṇa Vyavasthā Kā Mūlyāṃkana

(Vyavahārādhyāya Ke Sandharbha Meṃ)

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की पीएच.डी. शोध-उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-*प्रबन्ध*

शोध निर्देशक

डॉ० सन्तोष कुमार शुक्ल

शोधच्छात्रा

दिव्या भारती

संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली- 110067

भारत

2019

संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली- 110067

School Of Sanskrit And Indic Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi- 110067

28 JANUARY 2019

DECLARATION

I declare that the ~~thesis~~ entitled **"प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में प्रमाण व्यवस्था का मूल्यांकन (व्यवहाराध्याय के सन्दर्भ में)"** submitted by me for the award of degree of `Doctor of Philosophy' is an original research work and has not been previously submitted for any other degree or diploma in any other institution/university.

Divya Bharti

(Divya Bharti)

संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली- 110067

School Of Sanskrit And Indic Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi- 110067

28 JANUARY 2019

CERTIFICATE

The thesis entitled **"प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में प्रमाण व्यवस्था का मूल्यांकन (व्यवहाराध्याय के सन्दर्भ में)"** submitted by DIVYA BHARTI to School Of Sanskrit And Indic Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi- 110067 for the award of degree of 'Doctor of Philosophy' is an original research work and has not been submitted so far, In part or full for any other degree or diploma in any other institution/university. This may be placed before the examiners for evaluation.

Prof. Grishnath Jha
(Dean)
School of Sanskrit & Indic Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067, INDIA

Dr. Santosh Kumar Shukla
(Supervisor)

आत्मनिवेदन

सर्वप्रथम मैं इस शोध-प्रबन्ध कार्य को पूर्ण करने में अपने शोध निर्देशक डॉ. सन्तोष कुमार शुक्ल के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। जिनके निर्देशन में मुझे अनन्त धैर्य एवं अमूल्य मार्गदर्शन मिला तथा जिनके सतत प्रोत्साहन और परामर्श के बिना मैं इस शोध प्रबन्ध के पूरा होने की कल्पना भी नहीं कर सकती थी। जिन्होंने मुझें इस शोध-कार्य के लिए न केवल मार्गदर्शन दिया अपितु यथा सम्भव पर्याप्त सामग्री भी उपलब्ध करायी। अतः उनके अमूल्य योगदान को मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकती।

संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान के अध्यक्ष प्रो. गिरीश नाथ झा को मैं अपना आभार व्यक्त करती हूँ। जिन्होंने यथासमय अपना अमूल्य समय देकर इस शोध कार्य में यथा सम्भव सहायता प्रदान की। संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान के गुरुजन प्रो. शशिप्रभा कुमार, प्रो. रामनाथ झा, डॉ. रजनीश कुमार मिश्रा, डॉ. हरिराम मिश्रा, प्रो. उपेन्द्र राव को भी मैं हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने मुझे शिक्षा प्रदान करके इस योग्य बनाया।

जे.एन.यू., दिल्ली वि.वि., एल.बी.एस. विद्यापीठ पुस्तकालय के सभी सहायक कर्मचारियों का भी मैं आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने इस शोध कार्य से संबन्धित विभिन्न ग्रन्थों एवं शोध पत्रिकाओं को उपलब्ध कराने में मुझे दिन-प्रतिदिन सहायता प्रदान की। इसी कड़ी में मैं संस्कृत एवं प्राच्यविद्या अध्ययन संस्थान के कर्मचारी शबनम मैडम, मन्जू मैडम के साथ अन्य सहायक कर्मचारियों को धन्यवाद ज्ञापन करती हूँ।

मैं अपने पिता परमपूजनीय श्री बाबूलाल मीणा, माता श्रीमती शीला देवी को धन्यवाद ज्ञापन करती हूँ, जिन्होंने कठिन एवं विषम परिस्थितियों में भी मुझे इस विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया और हर कठिन परिस्थितियों में मुझे हौसला दिया ताकि मैं अपने लक्ष्य से न भटक पाऊं। जो मेरे जीवन में एक पतवार के समान हमेशा मेरे जीवन रूपी नाव को न केवल अपने लक्ष्य की ओर बढ़ाते गये बल्कि हर समय एक सुरक्षा ढ़ाल के रूप में मुझे हर मुसीबत से निकालने का प्रयास भी किया। जिनके सहयोग के बिना मेरे जीवन का कोई कार्य सम्भव नहीं हो सकता था एवं इस शोध क्षेत्र में भी हमेशा मुझे मार्गदर्शन प्रदान किया।

इसके अतिरिक्त मैं अपने अन्य पूजनीय सदस्य दादा स्व. रामकुवार मीणा, दादी स्व. कौशला देवी, बड़े पापा मामराज मीणा, चाचा फूलसिंह, उदयसिंह, जुगलकिशोर, भुआ गीता को भी आभार व्यक्त करती हूँ, जिन्होंने मुझे इस क्षेत्र में मार्गदर्शन प्रदान किया।

मैं अपने छोटे भाई-बहन इन्दू, रोशन, दौलत को धन्यवाद ज्ञापन करती हूँ, जिन्होंने मुझे प्रेरित कर हमेशा मेरा साथ दिया और ये मेरे जीवन के वे मुख्य हिस्से है जिनके बिना मेरा शोध सम्भव नहीं हो सकता था।

शोध कार्य हेतु हार्दिक विशेष धन्यवाद सत्येन्द्र जी को करती हूँ, जिन्होंने हर तरह से इस शोध कार्य में मेरी सहायता की है। मैं अपने वरिष्ठ सहपाठी रोहित को भी आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने इस शोध-कार्य में मेरी सहायता की है। साथ ही रवि प्रताप को भी धन्यवाद करती हूं।

इन सब के अतिरिक्त मैं परमपिता परमेश्वर का धन्यवाद ज्ञापन करती हूँ, जिन्होंने मुझे इस कार्य को पूरा करने की शक्ति प्रदान की तथा उन सभी व्यक्तियों का धन्यवाद ज्ञापन करती हूँ, जिन्होंने मेरी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से इस शोध कार्य को पूरा करने में सहायता प्रदान की।

दिव्या भारती

समर्पण

परम पूजनीया पितामही स्व.श्रीमती कौशल्या देवी एवं पितामह स्व. रामकुवार मीणा के चरणकमलों में सादर-सश्रद्ध समर्पित

भूमिका

वर्तमान भारतीय साक्ष्य (प्रमाण) व्यवस्था को देखकर मन में स्वत: प्रश्न उठता है कि क्या वर्तमान की तरह धर्मशास्त्रकाल में भी साक्ष्य/प्रमाण व्यवस्था थी? क्या तब भी किसी को दण्डस्वरूप जेल या फांसी की सजा देने के लिए प्रमाण की आवश्यकता पडती थी? अगर धर्मशास्त्रकाल में प्रमाणव्यवस्था थी तो उसका स्वरूप क्या था? इसकी प्रक्रिया कैसी थी? अपराधी के अपराध की परीक्षा किस प्रकार की जाती थी? निर्णय का आधार क्या होता था? कौन-कौन से अपराध होते थे? और उनमें कौन-कौन से प्रमाण को स्वीकार किया जाता था? इन प्रश्नों के समाधानार्थ मेरी जिज्ञासा धर्मशास्त्रकालीन प्रमाणों को जानने की हुई । परमपूजनीय गुरु डॉ. सन्तोष कुमार शुक्ल ने मेरी जिज्ञासा का समर्थन करते हुए मुझे इस विषय पर शोध करने हेतु प्रेरित किया । जिसके तहत मेरे द्वारा इसे शोध विषय के रूप में चयन किया गया ।

धर्मशास्त्रकालीन प्रमाण व्यवस्था जैसा विषय कहां तक रुचिकर होगा यह नहीं कहा जा सकता है । परन्तु किसी भी विषय की श्रेष्ठता की परीक्षा उसके गुणों के आधार पर की जाती है फिर चाहे वह विषय प्राचीन हो अथवा अर्वाचीन । इसलिए इस शोध में धर्मशास्त्रकालीन प्रमाणों एवं वर्तमानकालीन भारतीय साक्ष्य अधिनियम का तुलनात्मक अध्ययन करके, इनके भलीभांति ज्ञान के द्वारा धर्मशास्त्रकालीन प्रमाणों के महत्त्व को समझा जा सकता है ।

धर्मशास्त्रकाल में विवाद (अपराध) को व्यवहार, अभियोग को व्यवहारपद तथा अपराध की न्यायिक प्रक्रिया को व्यवहारप्रक्रिया कहा जाता था । इस प्रक्रिया में राजा अन्तिम निर्णायक होता था परन्तु राजा को अपराध के विषयों में निर्णय करने हेतु परामर्श न्यायाधीशों अर्थात् सभासदों एवं प्राड्विवाकों से लेना पडता था । इन सभासदों एवं प्राड्विवाकों के द्वारा उचित परामर्श ही दिया जाता था, क्योंकि उन्हें गलत परामर्श देने हेतु अपराध के दुगुने दण्ड से दण्डित किया जाता था । यह दण्डभय उन्हें भ्रष्ट कार्यों को करने से रोकता था । ये परामर्शदाता विद्वान् जन होते थे क्योंकि इनकी नियुक्ति के लिए योग्यताओं का निर्धारण किया गया था । इनके परामर्श पर ही राजा द्वारा न्यायिक निर्णय लिया जाता था ।

धर्मशास्त्रीय व्यवहारप्रक्रिया के चार चरण होते थे- भाषापाद, उत्तरपाद, क्रियापाद एवं सिद्धिपाद । क्रमश: इन चरणों के माध्यम से ही विवाद अन्तिम निर्णय तक पहुंता था । भाषापाद में वादी अर्थात् पीड़ित अपने अभियोग को लिखित रूप देता था, उत्तरपाद में प्रतिवादी अर्थात् पीडनकर्त्ता को बुलाकर वादी के सम्मुख प्रश्न किया जाता था, क्रियापाद में वादी एवं प्रतिवादी अपने-अपने पक्ष की प्रामाणिकता हेतु प्रमाण (जैसे- लिखित, भुक्ति तथा साक्षी आदि) को उपस्थापित करते थे और अन्तिम सिद्धिपाद में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर निर्णय लिया जाता था ।

इस व्यवहारप्रक्रिया के माध्यम से १८ व्यवहारपदों (विवादों) जैसे वाक्पारूष्य, दण्डपारूष्य, साहस, स्तेय आदि का निर्णय लिया जाता था । व्यवहारप्रक्रिया में विवाद (अपराध) की प्रकृति, देश एवं काल पर सम्यक् विचार करके ही दण्ड दिया जाता था । हालांकि वे अपराध जिनसे समाज में अव्यवस्था फैलती थी उसमें कठोर दण्डों का प्रयोग किया जाता था । इस प्रकार के दण्ड का उद्देश्य

व्यक्ति को बेसहारा बनाना नहीं होता था बल्कि उस व्यक्ति के दण्ड को देखकर अन्यजनों में उस अपराध विशेष के प्रति भय को पैदा करते हुए उन्हें अपराध करने से रोकना होता था । शायद इसलिए तब अपराध तो होते थे पर उनकी संख्या अत्यन्त न्यून होती थी ।

प्रस्तुत शोधकार्य का उद्देश्य धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था को जानना है और यह निश्चित करना है कि भारतीय साक्ष्य अधिनियम से पूर्व भी, २-३ ई. में भारतीय समाज में न्यायार्थ साक्ष्य/प्रमाण व्यवस्था विद्यमान थी किन्तु वह आज की प्रमाण व्यवस्था के समान क्रमबद्ध लिखित नहीं थी । इस प्रमाण व्यवस्था को धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के माध्यम से क्रमबद्ध स्वरूप देना ही इस शोध का मुख्य उद्देश्य है । इसलिए मेरे द्वारा उन धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों को आधार बनाया गया जिनमें प्रमाणों का उल्लेख प्राप्त होता है ।

मेरे शोध का विषय है- प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में प्रमाण व्यवस्था का मूल्यांकन (व्यवहाराध्याय के सन्दर्भ में) । इस प्रकृत शोध का मुख्य उद्देश्य- धर्मशास्त्र में निहित प्रमुख धर्मसूत्रों (जैसे- गौतम धर्मसूत्र, बोधायन धर्मसूत्र, आपस्तम्भ धर्मसूत्र, वशिष्ठ धर्मसूत्र, विष्णु धर्मसूत्र, हारीत धर्मसूत्र एवं हिरण्यकेशि धर्मसूत्र), स्मृतियों (जैसे- मनु स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति, बृहस्पति स्मृति, कात्यायन स्मृति, पितामह स्मृति एवं व्यास स्मृति) एवं अर्थशास्त्र का प्रमाण व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण अध्ययन को प्रस्तुत करना है । तथा इस शोध के अन्य उद्देश्य हैं- वर्तमान विधि के प्रमाण परिप्रेक्ष्य में प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों की प्रमाण व्यवस्था के स्वरूप को प्रस्तुत करना, क्या प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों की प्रमाण व्यवस्था की प्रासंगिकता को वर्तमान प्रमाण व्यवस्था में सिद्ध किया जा सकता? क्या प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों की प्रमाण व्यवस्था का आधुनिक प्रमाण व्यवस्था के समान विश्लेषण किया जा सकता है? क्या वर्तमान की प्रमाण व्यवस्था में प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों की प्रमाण व्यवस्था की भूमिका है अथवा नही? प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों की प्रमाण व्यवस्था का विश्लेषण करना तथा प्राचीन संस्कृत साहित्य के स्त्रोत धर्मशास्त्र ग्रन्थों की सार्थकता एवं औचित्य को सिद्ध करने का प्रयास करना । इस प्रकार शोध के मुख्य उद्देश्य को केन्द्र में रखते हुए अन्य उद्देश्य का भी सविस्तार विवेचन अग्रिम अध्यायों में किया जायेगा ।

इस शोध में क्रमश: प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के व्यवहाराध्याय को आधार बनाकर सम्पूर्ण व्यवहार प्रक्रिया (न्यायिक प्रक्रिया) का विवेचन करते हुए चार प्रमाण- लिखित, भुक्ति, साक्षी और दिव्य इत्यादि का विवेचन किया जायेगा । जो मेरे प्रकृत शोध की नवीनता के साथ वैशिष्ट्य को भी प्रमाणित करता है । यह शोध कार्य पूर्ववर्ती शोध कार्यों से भिन्न एवं नवीन है क्योंकि पूर्ववर्ती शोध कार्यों में या तो प्रमाणों का अत्यन्त संक्षिप्त विवरण है या प्रमाणों के एक भाग साक्षी पर ही शोध किया गया है । अत: सम्पूर्ण प्रमाण व्यवस्था को जानने के जिज्ञासार्थ मेरे द्वारा सम्पूर्ण धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था का विवेचन किया जायेगा । ताकि धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था का सम्यक् ज्ञान हो सके और वर्तमान प्रमाण व्यवस्था में धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था की प्रासंगिकता को सिद्ध किया जा सके । इस धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था का आधुनिक भारतीय प्रमाण/साक्ष्य व्यवस्था से तुलना करके इसके औचित्य एवं प्रासंगिकता को भी वर्तमान में सिद्ध किया जायेगा । जिसके आधार पर वर्तमान प्रमाण व्यवस्था के लिए अनेक प्रमाण संबंधी सुझावों भी दिये जा सकते है । इन विषयों को

प्रतिपादित करने वाला यह शोध प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त किया गया है और प्रत्येक अध्याय के मुख्य प्रतिपाद्य विषय अधोलिखित हैं-

अध्याय-1 धर्मशास्त्र में व्यवहार

इस अध्याय में व्यवहार परिप्रेक्ष्य में धर्म के स्वरूप को बतलाते हुए धर्मशास्त्र का परिचय दिया गया है । धर्मसूत्रग्रन्थों, स्मृतिग्रन्थों एवं निबन्धग्रन्थों को इनके रचियता, काल, उल्लिखित विषयों एवं टीकाओं के साथ संक्षेप में विवेचित किया गया है । साथ ही इतिहास ग्रन्थ का भी सूक्ष्म विवेचन किया है। अन्त में शोध विषय के उद्देश्य की विवेचना की गई है ।

अध्याय-2 चतुष्पाद-व्यवहार

इस अध्याय में व्यवहार, व्यवहार के अंग, व्यवहारपद, व्यवहारपद के भेद, न्यायसभा, राजा, न्यायधीश- नियुक्त एवं अनियुक्त, न्यायालय, स्थानीय न्यायालय गण, पूग कुलादि, व्यवहार प्रक्रिया का वर्णन किया गया है । तथा चतुष्पाद व्यवहार अर्थात् व्यवहार प्रक्रिया के चार चरणों जैसे- भाषापाद, उत्तरपाद, क्रियापाद (प्रमाण) तथा सिद्धिपाद(निर्णय) के साथ पुनर्विवाद की प्रक्रिया को प्रस्तुत किया गया है ।

अध्याय-3 क्रिया प्रमाण-लिखित प्रमाण

इस अध्याय में क्रिया प्रमाण, सबूत का भार, प्रमाण का वर्गीकरण/स्त्रोत, मानुषी प्रमाण के भेद, अनुमान प्रमाण (परिस्थितिजन्य साक्ष्य), अनुश्रुत प्रमाण (मौखिक), लिखित प्रमाण, लिखित प्रमाण के भेद- राजकीय (शासन) लेख एवं जानपद लेख, लिखित प्रमाण की प्रमाणिकता एवं अप्रमाणिकता, परिस्थितिविशेष में लिखित प्रमाण संबंधी नियम तथा जाली लेख पर दण्ड आदि वर्णन किया गया है ।

अध्याय-4 भुक्ति प्रमाण

इस अध्याय में भुक्ति प्रमाण, भुक्ति के प्रकार, सागम भुक्ति प्रमाण, अनागम भुक्ति प्रमाण, स्वामित्व के संबंध में भुक्ति प्रमाण, स्वामित्व के संबंध में भुक्ति प्रमाण के अपवाद को आदि को वर्णित किया गया है ।

अध्याय-5 साक्षी प्रमाण

इस अध्याय में साक्षी प्रमाण, साक्षियों की संख्या, साक्षियों के भेद- कृत साक्षी एवं अकृत साक्षी, साक्षी की गुण/योग्यताएं, साक्ष्यार्थ वर्ण-वर्ग-जाति की समानता, साक्षी की अयोग्यताएं तथा इनके अपवाद, साक्ष्य देने के सर्वथा अयोग्य साक्षी, शपथ, शपथ विधि, शपथ में प्रमाण, वर्णानुसार शपथ का स्वरूप, साक्षी को प्रश्न-प्रतिप्रश्न/परिक्षा करना, कूटसाक्षी, परिस्थितिविशेष में कूट साक्ष्यों को मान्यता, साक्षित्व स्वीकार कर साक्ष्य न देना, विवादयुक्त साक्ष्यों में उचित साक्ष्य की ग्रहिता आदि का वर्णन किया गया है ।

अध्याय-6 दिव्य प्रमाण

इस अध्याय में दिव्य प्रमाण, दिव्य प्रमाण का आश्रय लिये जाने का कारण, मानुषी एवं दिव्य प्रमाण दोनों की उपस्थिति में स्वीकृत प्रमाण, दिव्य प्रमाण के प्रयोग संबंधी नियम, दिव्य प्रमाण ग्रहण करने की विधि, दिव्य के प्रकार- घटविधि(तुलाविधि)-अग्निविधि-जलविधि-विषविधि-कोशविधि-तण्डुल विधि-तप्तमाष विधि- फाल विधि तथा धर्म-अधर्म विधि, दिव्य प्रमाण संबंधी नियम, दिव्य प्रमाण का उपयोग, दिव्य प्रयोग का स्थान, वर्णानुक्रम में दिव्य प्रमाण, ऋतु भेद से दिव्य प्रमाण का प्रयोग एवं निषेध, परिस्थिति विशेष में दिव्य प्रमाण का निषेध, शपथ, दिव्य प्रमाण का महत्व आदि को वर्णित किया गया है।

अध्याय-7 धर्मसूत्र-स्मृतियों की प्रमाण व्यवस्था एवं भारतीय साक्ष्य अधिनियम की समीक्षा

इस अध्याय में धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों अर्थात् धर्मशास्त्र में वर्णित प्रमाण व्यवस्था का परिचय, भारतीय साक्ष्य अधिनियम का परिचय, भारतीय साक्ष्य अधिनियम एवं धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन, भारतीय साक्ष्य अधिनियम एवं धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था में साम्य एवं वैषम्य, भारतीय साक्ष्य अधिनियम के लिए सुझाव आदि को प्रस्तुत किया गया है।

अन्त में उपसंहार एवं सन्दर्भ सूची दी गयी है।

विषयानुक्रमणिका

आत्मनिवेदन iv-v

भूमिका vii-x

विषयसूची xi-xiii

1. धर्मशास्त्र में व्यवहार 1-31

1.1 धर्मशास्त्र
- 1.2 धर्मसूत्रों में वर्णित व्यवहार
- 1.3 अर्थशास्त्र में वर्णित व्यवहार
- 1.4 स्मृति ग्रन्थों में वर्णित व्यवहार
- 1.5 निबन्ध ग्रन्थों में वर्णित व्यवहार
- 1.6 इतिहास ग्रन्थों में वर्णित व्यवहार
- 1.7 शोध विषय एवं उद्देश्य

2. चतुष्पाद-व्यवहार 32-85
- 2.1 व्यवहार
- 2.2 व्यवहार के अंग
- 2.3 व्यवहारपद
- 2.4 व्यवहारपद के भेद
- 2.5 न्यायसभा
  - 2.5.1 राजा
  - 2.5.2 न्यायधीश
  - 2.5.3 स्थानीय न्यायालय
- 2.6 चतुष्पाद-व्यवहार
  - 2.6.1 प्रथम चरण- भाषापाद
  - 2.6.2 द्वितीय चरण- उत्तरपाद
  - 2.6.3 तृतीय चरण- क्रियापाद (प्रमाण)
  - 2.6.4 चर्त्तुथ चरण- सिद्धिपाद (निर्णय)
- 2.7 पुन: न्याय

3. क्रिया प्रमाण-लिखित प्रमाण 86-119
- 3.1 क्रिया प्रमाण

3.2 सबूत का भार
3.3 प्रमाण का वर्गीकरण/स्त्रोत
3.3.1 मानुषी प्रमाण
3.4 अनुमान (परिस्थितिजन्य साक्ष्य)
3.5 अनुश्रुत साक्ष्य
3.6 लिखित प्रमाण
3.6.1 लिखित प्रमाण के भेद
3.6.1.1 राजकीय (शासन) लेख
3.6.1.2 जानपद लेख
3.6.2 लिखित प्रमाण स्वरूप
3.6.3 लिखित प्रमाण की प्रमाणिकता/अप्रमाणिकता
3.6.4 परिस्थिति विशेष में लिखित प्रमाण संबंधी नियम
3.6.5 जाली लेख पर दण्ड

4. भुक्ति प्रमाण 120-131

4.1 भुक्ति प्रमाण
4.2 भुक्ति के प्रकार
4.2.1 सागम भुक्ति प्रमाण
4.2.2 अनागम भुक्ति प्रमाण
4.3 स्वामित्व संबंध में भुक्ति प्रमाण
4.3.1 स्वामित्व संबंध में भुक्ति प्रमाण के अपवाद

5. साक्षी प्रमाण 132-164

5.1 साक्षी प्रमाण
5.2 साक्षी की संख्या
5.3 साक्षी के भेद
5.3.1 कृत साक्षी
5.3.2 अकृत साक्षी
5.4 साक्षी की गुण/योग्यताएं
5.4.1 वर्ण, वर्ग एवं जाति की समानता
5.5 साक्षी की अयोग्यताएं
5.6 साक्ष्य देने के सर्वथा अयोग्य साक्षी
5.7 शपथ
5.7.1 शपथ विधि
5.7.2 शपथ में प्रमाण
5.7.3 वर्णानुसार शपथ का स्वरूप

5.8 साक्षी को प्रश्न-प्रतिप्रश्न/परिक्षा करना
5.9 कूटसाक्षी
5.10 परिस्थितिविशेष में कूट साक्ष्यों को मान्यता
5.11 साक्षित्व स्वीकार कर साक्ष्य न देना
5.12 विवादयुक्त साक्ष्यों में उचित साक्ष्य की ग्रहिता

6. दिव्य प्रमाण 165-186

6.1 दिव्य का आश्रय क्यों
6.2 मानुषी एवं दिव्य प्रमाण दोनों की उपस्थिति में स्वीकृत प्रमाण
6.3 दिव्य प्रमाण
6.4 दिव्य प्रमाण के प्रयोग संबंधी नियम
6.5 दिव्य प्रमाण की विधि
6.6 दिव्य के प्रकार
6.7 दिव्य प्रमाण संबंधी नियम
6.7.1 दिव्य प्रमाण का उपयोग
6.7.2 दिव्य प्रयोग का स्थान
6.7.3 वर्णानुक्रम में दिव्य प्रमाण
6.7.4 ऋतु भेद से दिव्य प्रमाण का प्रयोग एवं निषेध
6.7.5 परिस्थिति विशेष में दिव्य प्रमाण का निषेध
6.7.6 शपथ
6.8 दिव्य प्रमाण का महत्व

7. धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था एवं भारतीय साक्ष्य अधिनियम की समीक्षा 187-211

7.1 धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था का परिचय
7.2 भारतीय साक्ष्य अधिनियम का परिचय
7.3 भारतीय साक्ष्य अधिनियम एवं धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन
7.4 भारतीय साक्ष्य अधिनियम एवं धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था में साम्य एवं वैषम्य
7.5 भारतीय साक्ष्य अधिनियम के लिए सुझाव

- **उपसंहार** 212-219
- **सन्दर्भ सूची** 220-228

धर्मशास्त्र में व्यवहार

अध्याय - 1

धर्मशास्त्र में व्यवहार

सभ्यता के विकासक्रम में भारत में अनेक संस्कृतियों का विकास हुआ । इन संस्कृतियों के तहत अनेक समाजों की उत्पत्ति हुई । इसी विकासक्रम में आने वाले समाजों ने किस तरह व्यवहार (दैनिकव्यवहार) करना शुरु किया? क्या उनके बीच भी विवाद/ संघर्ष की स्थिति थी? अगर नहीं थी तो वे लोग किस को आदर्श मानते हुए शासित होते थे? आज की न्यायप्रक्रिया किन विकासक्रमों का परिणाम है? इत्यादि प्रश्नों की उत्पत्ति स्वत: जिज्ञासापूर्ण मन में उत्पन्न होती है । जिनके समाधानार्थ यदि शुरुआत आदि वैदिक समाज से की जाये तो ज्ञात होगा कि तब वर्तमान न्यायव्यवस्था के समान कोई विधि नहीं होती थी । क्योंकि आदि वैदिककालिक समाज प्राकृतिक विधि से संचालित होता था । प्राकृतिक विधि से तात्पर्य उस नैसर्गिक विधि या सार्वभौम विधि से है जिससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का हर कण शासित होता है तथा इससे ही वस्तुओं की उत्पत्ति एवं नाश होता है । वैदिक काल में इस प्राकृतिक विधि का स्वरूप “ऋत्” में दिखाई देने लगा । ऋत् वह सर्वोच्च नियम होता था जिससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ज्ञान होता है[1] और इसी ऋत् पर यह ब्रह्माण्ड भी आश्रित था ।[2] यह ऋत् ही मानव को सत्मार्ग पर गमनार्थ प्रेरित करता था, मनुष्य की बुद्धिगत कलुषिता को नष्ट करता था तथा श्रेष्ठ नियमों का अनुसरण करने की प्रेरणा भी प्रदान करता था ।[3] इस ऋत् से शासित व्यक्ति व्यवस्थात्मक प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन नहीं करता था और इस कल्याणकारी ऋत् के अनुसरण से उसमें तीन प्रकार की शक्तियां पैदा होती थी- धर्म, रक्षा एवं ऊर्जा ।[4] ऐसा माना गया है कि विधि एवं न्यायप्रशासक वरुण के द्वारा ही ऋत् से ऋतवान् शक्ति प्राप्त की गई थी । यह शक्ति नियंत्रित एवं प्रयोजनकारी भी होती थी ।[5]

समय के परिवर्तन के साथ ऋत् का स्थान धर्म (सामाजिक विधि) ने ले लिया । ऋग्वेद ने इसी धर्म को “व्रत” (परिवर्तनशील धर्म) कहा है जिसका उल्लेख ऋत् के साथ भी किया गया है ।[6] महाभारत में कहा गया है कि जब न राज्य था, न राजा था, न दण्ड था तथा न कोई दाण्डिक तब समस्त प्रजा परस्पर धर्मानुसार रक्षा करती थी ।[7] 'धर्म' भारतीय संस्कृति का आधार है जिस पर आरूढ़ होकर यह संस्कृति व्यष्टि में समष्टि को समाहित करती है । यह धर्म इसमें (संस्कृति) उदारता एवं संयोजकता के गुणों को विकसित करता है जिससे इसमें समन्वय एवं त्याग के भाव प्रस्फुटित होते हैं

---

[1] ऋग्वेद १/६८/२, १/१०५/१२, १/१४२/७

[2] ऋग्वेद ४/२३/९

[3] ऋग्वेद ४/२३/८

[4] अर्थववेद ८/८/१३

[5] ऋग्वेद ५/६८/१

[6] ऋग्वेद ८/२५/१७

[7] न वै राज्यं न राजासीत् न दण्डौ न च दाण्डिक: । धर्मेणव प्रजा: सर्वा: रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥ महाभारत १४/५९

जो इस संस्कृति को अन्य संस्कृतियों से श्रेष्ठ बना देता है। क्योंकि यह धर्म सन्मार्ग का उपदेष्टा एवं समष्टि की भावना से युक्त है। इस धर्म का उपदेष्टा मानव न होकर सबका गुरु ईश्वर है।[8] यह धर्म सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा है जो पापों का निवर्तक है इसलिए इसमें सब प्रतिष्ठित होने से यह श्रेष्ठ है।[9] पर इस धर्म का स्वरूप क्या है?, यह किस पर प्रतिष्ठित है?, और इसके उपादान कौन से है? जिससे यह अभ्युदय एवं नि:श्रेयस का साधक बनता है। इस धर्म का प्रतिपादन बृहद रूप में धर्मशास्त्र द्वारा प्रतिपादित किया गया है।

1.1 धर्मशास्त्र-

धर्मशास्त्र दो शब्दों से मिलकर बना है- धर्म एवं शास्त्र। जिसमें धर्म शब्द 'धृञ्' धातु से मन् प्रत्यय लगने पर निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है धारण करना, आलम्बन देना, पालन करना। अर्थात् जो प्रजा को धारण करता है या जिससे संसार को धारण किया जाये। तथा शास्त्र शब्द "शास् अनुशिष्टौ" धातु में जयल् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है अनुशासन बनाए रखना।

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजा:।

यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चय:॥ (कर्णपर्व ५८)

धर्म शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओं से परवर्ती साहित्य तक विभिन्न अर्थो में हुआ है। **ऋग्वेद** में धर्म शब्द का प्रयोग आचरण नियम के अर्थ में[10], **अथर्ववेद** में धार्मिक क्रिया संस्कार करने पर प्राप्त गुण के अर्थ में[11], **तैत्तिरीय उपनिषद्** में शिष्य के शिक्षार्थ अनुशासन अर्थ में किया है।[12] **छान्दोग्य उपनिषद्** में धर्म के तीन स्कन्ध बताये हैं जो आश्रम के विलक्षण कर्तव्य की ओर संकेत करते हैं वे हैं- १. यज्ञ, अध्ययन तथा दान, २. तापस धर्म, ३. ब्रह्मचारित्व।[13] **पूर्व मीमांसा** में वेदों के नियमानुसार आचरण को धर्म माना है।[14] **वैशेषिक दर्शन** ने अभ्युदय एवं नि:श्रेयस की प्राप्ति के साधन को धर्म कहा है।[15]

---

[8] तस्य आत्मानुग्रहोभावेऽपि भूतानुग्रह: प्रयोजनम् ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिण: पुरुषानुद्धरिष्यामीति। योगभाष्य पृष्ट. ७८
स पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्। योगसूत्र १/१/२८

[9] धर्मो विश्वस्य जगत: प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति। तैत्तिरीय आरण्यक १०/६३

[10] आ प्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देव: कृणुते स्वाय धर्मणे॥ ऋग्वेद ४/५३/३
धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया॥ ऋग्वेद ५/६३/७
द्यावा पृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कमिते अजरे भूरि रेतसा॥ ऋग्वेद ६/७०/१

[11] ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च। भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं जले॥ अथर्ववेद ११/९/१४

[12] सत्यं वद, धर्म चर.....। तैत्तिरीयोपनिषद् १/११

[13] त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एवेति द्वितीयोब्रह्मचार्याकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमान्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। छन्दोग्योपनिषद् २/२३/१

[14] चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म:। पूर्वमीमांसा १/१/२

[15] अथातो धर्म व्याख्यास्याम:। यतोऽभ्युदयनि:श्रेयससिद्धि: स: धर्म:॥ वैशेषिक सूत्र

धर्म (सामाजिक विधि) के स्त्रोत – वेदों को धर्म का मूल प्रमाण माना गया है तथा धर्मानुसार / धर्मज्ञों के आचरण को भी धर्म में प्रमाण माना गया है। मनु ने वेद, स्मृति, वेदज्ञों की परम्परा एवं आचरण, साधुओं के आचार तथा आत्मा की तुष्टि को धर्म का उपादान स्त्रोत माना है।[16] वशिष्ठ धर्मसूत्र में धर्म के विषय में श्रुति तथा स्मृति के अतिरिक्त शिष्टाचार को भी प्रमाण माना गया है।[17] याज्ञवल्क्य स्मृति ने धर्म के पांच उपादान माने हैं - श्रुति, स्मृति, सदाचार, स्वयं को प्रिय आचारण तथा सम्यक् संकल्प।[18] गौतम ने वेदों को धर्ममूल मानने के साथ ही वेदों को धर्मशास्त्र, वेदाङ्गों, उपवेदों, पुराणों एवं व्यवहारों में भी सहायक माना है।[19] इस प्रकार धर्म के लक्षण में श्रुति के साथ स्मृति एवं शिष्टाचार को भी सम्मिलित किया गया था।

इस धर्म का प्रतिपादन धर्मशास्त्र के द्वारा किया जाता था। धर्म एक विद्या या ग्रन्थ नहीं है बल्कि अनेक विद्याओं का सम्मिलित रूप धर्म है जिसमें १४ विद्याएं आती हैं। जो इस प्रकार हैं- पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, ६ वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष), ४ वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद) आदि। इन १४ विद्याओं को भी धर्म में प्रमाण माना जाता था।[20] धर्मशास्त्र में धर्म के साथ सूत्र ग्रन्थ (धर्मसूत्र जैसे- गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब आदि), स्मृति ग्रन्थ (मनु, याज्ञवल्क्य, नारद आदि), इतिहास ग्रन्थ (रामायण एवं महाभारत), निबन्ध एवं पुराण आदि का भी विवेचन किया जाता है। इन ग्रन्थों को विषय विवेचना की दृष्टि से तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है- आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित। जिसमें आचार का सम्बन्ध सामाजिक कर्त्तव्यों से हैं, व्यवहार का सम्बन्ध न्यायव्यवस्था एवं उसमें प्रचलित दण्डों से हैं तथा प्रायश्चित का सम्बन्ध उन व्रतों एवं विधानों से हैं जिनका प्रयोग व्यक्ति स्वयं के शुद्धीकरण के लिए करता है।

इन धर्मग्रन्थों के माध्यम से तात्कालिक समाज में प्रचलित व्यवहार (न्याय व्यवस्था) का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है जो मेरे शोध का विषय है। परन्तु धर्मशास्त्र की विशद् व्यापकता के कारण शोध हेतु व्यवहार विषयों को उल्लेखित करने वाले कुछ धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों को आधार बनाया गया हैं। अत: यहां पर धर्मशास्त्र वाङ्मय को व्यवहार(न्यायव्यवस्था) के परिप्रेक्ष्य में संक्षिप्त में विवेचित किया जायेगा ताकि धर्मशास्त्र के बारे में जानकारी हो सके।

1.2 धर्मसूत्र में वर्णित व्यवहार-

सूत्रग्रन्थों का निर्माण वेदों के पठन-पाठन की सुविधा के लिये किया गया था। धर्मसूत्र सूत्रग्रन्थ-कल्पशास्त्र का अंग है। कल्पशास्त्र वेदों में विहीत कर्मों को क्रमपूर्वक व्यवस्थित करने वाला शास्त्र है। कल्पसूत्र के चार प्रकार हैं - प्रथम-श्रौतसूत्र, जिनका संबंध महायज्ञों से है, द्वितीय-

---

[16] वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ मनुस्मृति २/६

[17] श्रुतिस्मृतिविहितो धर्म:। तदलाभे शिष्टाचार: प्रमाणम्। शिष्ट पुनरकामात्मा॥ वशिष्ट धर्मसूत्र १/४/६

[18] श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥ याज्ञवल्क्यस्मृति १/७

[19] तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदा: पुराणम्॥ गौतम धर्मसूत्र ११/१२
वेदों धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले॥ गौतम धर्मसूत्र १/१/२

[20] पुराणन्यायमीमांसा- धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥ याज्ञवल्क्यस्मृति १/३

गृह्यसूत्र जो गृह संस्कारों से संबंधित है, तृतीय-धर्मसूत्र, जिसका संबंध धर्म तथा धार्मिक नियमों से है, चतुर्थ-शुल्वसूत्र, जिसका संबंध यज्ञ, हवन-कुण्ठ, वेदी, नाम आदि से है । धर्मसूत्र का संबंध धर्मशास्त्र से होने के कारण इसका विवेचन यहां संक्षिप्त में किया गया है । धर्मसूत्र के प्रतिपाद्य विषय हैं- आचार, विधिनियम एवं क्रिया संस्कारों का विवेचन ।

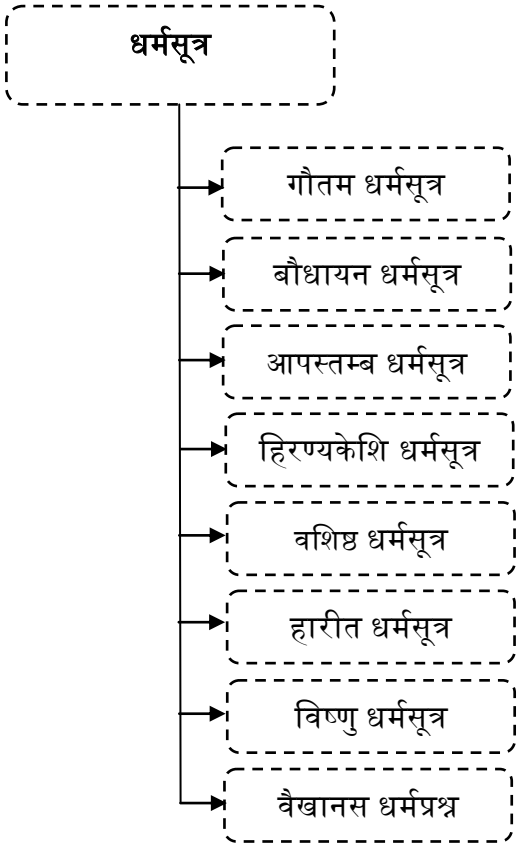

अधिकाशत: धर्मसूत्र गद्यमय है पर कुछ धर्मसूत्र गद्य एवं पद्य दोनों में भी है । धर्मसूत्र का संबंध मानव के धार्मिक कर्त्तव्यों के साथ-साथ सामाजिक, नैतिक एवं न्यायिक विधानों से भी हैं । इसलिये डॉ पारस दीवान का मत है कि धर्मसूत्रों की रचना देश के विभिन्न भागों में पृथक-पृथक समय पर हुई है तब भी इनमें विसंगतियां नहीं है । ये एक-दूसरे से मेल खाते हैं । ये धर्मसूत्र धार्मिक, नैतिक एवं सामाजिक नियमों का मिश्रण है । धर्मसूत्रकारों ने मानव समाज को एक विधि/न्याय व्यवस्था दी हैं पर यह धर्मशास्त्रों के समान सुव्यवस्थित एवं क्रमबद्ध नहीं है । फिर भी इन धर्मसूत्रों को न्याय व्यवस्था का मार्गदर्शन अवश्य माना जा सकता है ।[21]

गौतम धर्मसूत्र (६०० ई.पू.- ४०० ई.पू.)-

गौतम धर्मसूत्र का सम्बन्ध सामवेद से है । चरणव्यूह की टीका के अनुसार गौतम सामवेद की राणायनी शाखा के एक उपविभाग के आचार्य, शाखाकार थे ।[22] यह केवल गद्यमय होने के साथ ही सबसे प्राचीनतम धर्मसूत्र भी है । इसमें तीन प्रश्न हैं, प्रथम एवं द्वितीय प्रश्न में नौ–नौ अध्याय तथा तृतीय प्रश्न में दस अध्याय हैं । अत: गौतम धर्मसूत्र में कुल २८ अध्याय हैं । गौतम धर्मसूत्र के द्वितीय प्रश्न में- वर्णधर्म, राजधर्म, अपराध और उनके दण्ड, सूद, ऋण, साक्षी, अशौच, श्राद्ध, स्त्री के कर्तव्य आदि का वर्णन है ।[23] जिनका सम्बन्ध उस व्यवहार विधि से जो तात्कालिक समय में प्रचलित थी । गौतम धर्मसूत्र का प्रणयन काल ६०० ई.पू.-४०० ई.पू. माना

[21] डॉ. पारस दीवान, आधुनिक हिन्दू विधि, १९९६, पृ.सं. १३

[22] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ११

[23] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ११

गया है ।[24] इस धर्मसूत्र पर अधोलिखित टीकाएं मिलती हैं[25]- **हरदत्त**– हरदत्त ने 'मिताक्षरा' नामक टीका लिखी है, जो उपलब्ध है । हरदत्त का समय ११०० –१३०० ई. के मध्य स्वीकार किया जाता है । **भर्तृयज्ञ** (८०० ई. से पूर्व), **असहाय** (७५० ई. से पूर्ववर्ती) एवं **मस्करी** – गौतम धर्मसूत्र के प्राचीन व्याख्याकार है पर इनकी टीकायें वर्तमान में उपलब्ध नहीं है ।

बौधायन धर्मसूत्र (५००ई.पू.-२०० ई.पू.)-

बौधायन कृष्णयजुर्वेद शाखा के थे । इन्हें दक्षिण भारत का माना गया है । वेद भाष्यकार सायण भी बौधायनीय थे ।[26] बौधायन धर्मसूत्र के टीकाकार गोविन्दस्वामी ने बौधायन को काण्वायन कहा है । बौधायन धर्मसूत्र चार प्रश्नों में विभक्त है, जिनका विभाजन अध्याय तथा खण्डों में किया गया है-प्रथम प्रश्न में ११ अध्याय तथा २१ खण्ड हैं एवं इसमें प्रतिपादित विषय हैं- धर्म, आचार, ब्रह्मचर्य, स्नातक के नियम, अशौच, यज्ञ, वर्णधर्म, अष्ट विवाह आदि । द्वितीय प्रश्न में १० अध्याय तथा १२ खण्ड हैं एवं इसमें प्रतिपादित विषय हैं- प्रायश्चित, सम्पत्ति का विभाजन, पुत्र के भेद, स्त्री की आश्रिता, सन्ध्योपासना, पञ्च महायज्ञ, गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यास के कर्तव्य, श्राद्ध एवं संन्यास के नियम आदि । तृतीय प्रश्न में १० अध्याय तथा १० खण्ड हैं एवं इसमें प्रतिपादित विषय हैं- यायावर और शालीन नामक गृहस्थों की जीविका, परिव्राजक के भेद, पाप मुक्ति हेतु चान्द्रायण आदि व्रत एवं प्रायश्चित्त आदि । चतुर्थ प्रश्न में ८ अध्याय तथा ८ खण्ड हैं एवं इसमें प्रतिपादित विषय हैं- प्राणायाम, गुप्त प्रायश्चित्त, जप एवं होम आदि । परन्तु चतुर्थ प्रश्न को क्षेपक माना गया है ।[27]

इस धर्मसूत्र के विवेचित विषयों से यह ज्ञात किया जा सकता है कि इस धर्मसूत्र में व्यवहार की बजाय धर्मशास्त्र के अन्य विषय जैसे आचार एवं प्रायश्चित्त पर विस्तृत विवेचना की गई । पर इसमें व्यवहार के कुछ विषय जैसे- विवाह, सम्पत्ति-विभाजन आदि विधिक विषयों के साथ ही तात्कालिक समय में प्रचलित भारतीय रूढियों का भी उल्लेख किया गया है । बोधायन ने दक्षिण भारत में प्रचलित रूढि, जैसे- मामा की पुत्री से विवाह की मान्यता, उत्पादकशुल्क, सीमा शुल्क आदि का भी उल्लेख किया है ।[28] गौतम धर्मसूत्र के बाद बौधायन धर्मसूत्र की रचना हुई है क्योंकि स्वयं बौधायन ने गौतम धर्मसूत्र की चर्चा की है एवं आपस्तम्ब को भी बौधायन से पूर्ववर्ती माना गया है । अत: इसका रचना काल ५००ई.पू. से २०० ई.पू. निर्धारित किया गया है ।[29]

---

[24] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. १३

[25] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. १३

[26] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. १५

[27] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. १९

[28] डॉ. पारस दीवान, आधुनिक हिन्दु विधि (१९९२), पृ.सं. १३

[29] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. १६

आपस्तम्ब धर्मसूत्र (६००-३०० ई.पू.)-

आपस्तम्ब धर्मसूत्र का संबंध कृष्ण यजुर्वेद से है । आपस्तम्ब की श्रौत, गृह्य, धर्म और शुल्बसूत्र युक्त पूर्ण कल्प परम्परा है, जिनका प्रणेता एक व्यक्ति हो, ऐसा कहना कठिन है । पर गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र के प्रणेता एक ही है ।[30] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में दो प्रश्न हैं जिन्हें ११-११ पटलों में विभक्त किया है, इन पटलों में क्रमशः ३२ और २९ कण्डिकायें हैं । इसमें वर्णित विषय है-[31] प्रश्न-१- धर्म के उपादन, चार वर्ण, उपनयन, ब्रह्मचारी के कर्तव्य, स्नातक के लिए नियम, पञ्चमहायज्ञ, वर्णानुसार स्वास्थ्य के बारे में पूछने की विधियां, यज्ञोपवीत पहनने के अवसर, आचमन का काल, भक्ष्याभक्ष्य विचार, भ्रूणहत्या, व्यभिचार, सुरापान, स्वर्णस्तेय आदि गम्भीर अपराध, प्रायश्चित्त, द्वादशरात्रि पर्यन्त कृच्छ्र के नियम, परस्त्री–गमन के लिए प्रायश्चित्त, आत्मरक्षार्थ ब्राह्मण के लिए शस्त्रग्रहण वर्जित, अभिशस्त (अपराधी) का प्रायश्चित्त, विविध स्नातकों के व्रत । प्रश्न-२- विवाह उपरान्त गृहस्थ के नियम, वैश्वदेव, ब्राह्मण आदि के विशिष्ट कर्म, षड्विध विवाह, पैतृक सम्पत्ति का विभाजन, श्राद्ध, नृप के कर्तव्य, आचार–नियमों का उल्लंघन करने पर दण्ड, विवादों का निर्णय, अपराध एवं दण्ड । आपस्तम्ब धर्मसूत्र में न्यायव्यवस्था का विवरण स्पष्टत: द्वितीय प्रश्न में मिलता है जिसमें राजाओं के कर्त्तव्यों के साथ ही तत्समय में प्रचलित अपराधों जैसे- व्यभिचार, भ्रूणहत्या, स्वर्णस्तेय, सम्पत्तिविभाजन आदि एवं उनमें निहित दण्डों का वर्णन करते हुए विवाद के निर्णय तक पहुंचा गया है ।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र का सम्बन्ध दक्षिण भारत के आन्ध्रप्रदेश से माना गया है । इस धर्मसूत्र का पूर्वमीमांसा से भी संबंध है क्योंकि इसमें मीमांसा के विभिन्न परिभाषिक शब्द एवं सिद्धान्त वर्णित है । अत: आपस्तम्ब से पूर्व मीमांसासूत्र विकसित हो चुका था । आपस्तम्ब धर्मसूत्र को गौतम एवं बौधायन से परवर्ती माना गया है । पी. वी. काणे ने इसका प्रणयन काल ६०० – ३०० ई. पू. के बीच का माना है ।[32] इस धर्मसूत्र पर श्री हरदत्त की '**उज्जवलावृत्ति**' नामक टीका मिलती है ।

हिरण्यकेशि धर्मसूत्र (४००-२०० ई.पू.)-

हिरण्यकेशि धर्मसूत्र हिरण्यकेशिकल्प का २६ वां तथा २७ वां प्रश्न हैं । हिरण्यकेशि ने आपस्तम्ब धर्मसूत्र से अनेक सूत्रों को यथावत् ग्रहण किया है । अत: यह स्वतन्त्र सूत्र ग्रन्थ नहीं है

---

[30] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. १७

[31] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. २१

[32] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. २०

।[33] इसका रचना काल ४००-२०० ई.पू. माना है ।[34] आपस्तम्ब धर्मसूत्र पर महादेव दीक्षित कृत की 'उज्ज्वला' व्याख्या है, जो हरदत्त की उज्जवलावृत्ति से मिलती झुलती है ।[35] इस धर्मसूत्र में व्यवहार विषयों की विवेचना नहीं की गई है ।

वशिष्ठ धर्मसूत्र (३००- १००ई.पू.)-

भट्ट कुमारिल ने वशिष्ठ धर्मसूत्र का सम्बन्ध ऋग्वेद से स्थापित किया है । पी. वी. काणे ने भी इसे स्वीकार किया है । वशिष्ठ धर्मसूत्र के प्रकाशित जीवानंद संस्करण में लगभग २१ अध्याय हैं तथा आनन्दाश्रम के स्मृतिसंग्रह और डॉ. फ्यूहरर के संस्करणों में ३० अध्याय हैं ।[36] इसमें प्रतिपादित विषय– धर्म का लक्षण, पाप, छः प्रकार के विवाह, लोकव्यवहार, आचार का महत्त्व, चातुर्वर्ण्यविधान, संस्कारों का महत्त्व, अतिथि सत्कार, मधुपर्क, चारों आश्रम एवं गृहस्थों के कर्तव्य, स्नातक व्यवहार का विधान, भक्ष्याभक्ष्य निर्णय, न्याय व्यवस्था, त्रिविध प्रमाण, साक्षी, न्यायालय, स्त्रीधन, सम्पत्ति का विभाजन, प्रतिलोम जातियां, राजा के कर्तव्य, प्रायश्चित्त, प्राणायम, गायत्री, स्त्रियों के कर्तव्य, दान, ब्रह्मचर्य, तप, सत्य, धर्म और ब्राह्मण की प्रशंसा आदि ।[37] वाशिष्ठ धर्मसूत्र में तात्कालिक व्यवहार (विवाद) में प्रचलित त्रिविध प्रमाण व्यवस्था में साक्षी प्रमाण की महत्ता को स्वीकार किया गया था ।

विश्वरूप, मेधातिथि प्रभृति प्राचीन व्याख्याकारों ने वशिष्ठ धर्मसूत्र को उद्धृत किया है । इसका प्रणयन काल ३००- १०० ई.पू. के मध्य का माना गया है ।[38] इस धर्मसूत्र पर अधोलिखित टीकाएं मिलती हैं[39]- वशिष्ठ धर्मसूत्र पर कृष्ण पण्डित की **'विद्वन्मोदिनी'** । बौधायन धर्मसूत्र के टीकाकार गोविन्दस्वामी ने वशिष्ठ धर्मसूत्र के व्याख्याकार के रूप में 'यज्ञस्वामी' का उल्लेख किया है ।

हारीत धर्मसूत्र-

हारीत धर्मसूत्र का संबंध कृष्ण यजुर्वेद से है । हारीत को प्राचीन धर्मसूत्रकार माना गया है । बौधायन, आपस्तम्ब एवं वशिष्ठ सूत्रकारों ने हारीत को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है । हारीत ने अन्य धर्मसूत्रकारों के समान ही विषयों को वर्णित किया है- धर्म का उपादान, ब्रह्मचारी, स्नातक, गृहस्थ, आरण्यक (वानप्रस्थ) सन्यासी, भक्ष्याभक्ष्य, जन्म एवं मृत्युजन्य अशौच, श्राद्ध, आचार के

---

[33] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. २०

[34] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. २१

[35] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. २०

[36] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. २१

[37] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. २३

[38] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. २३

[39] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. २३

नियम, पञ्चमहायज्ञ, वेदाध्ययन, राजधर्म, शासनकर्म, न्याय, व्यवहार विधि, स्त्रियों के कर्तव्य, प्रायश्चित्त आदि ।[40] हारीत ने अष्ट विवाहों में आर्ष एवं प्राजापत्य के स्थान पर क्षेत्र एवं मानुष को जोड़ा है । नारी के दो प्रकार माने हैं- ब्रह्मवादिनी एवं सद्योवधू । जिसमें ब्रह्मवादिनी स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार दिया गया है ।[41] नासिक निवासी स्व. वामनशास्त्री इस्मालपुरकर को हारीत धर्मसूत्र की एक हस्तलिखित प्रति मिली ।[42]

विष्णु धर्मसूत्र (३००-१०० ई.पू.) –

विष्णु धर्मसूत्र का सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा के चरक संहिता से माना जाता है । इसमें १०० अध्याय है जिनमें प्रथम और अन्तिम दो अध्याय पद्य में है तथा अन्य अध्याय गद्य एवं पद्य का मिश्रित रूप हैं ।[43] इसमें वर्णित विषय है-[44] वर्णधर्म, राजधर्म, कार्षापण, अपराध के लिए दण्ड, ऋण लेने वाले तथा देने वाले, ब्याज दर, बन्धक, त्रिविध व्यवहार–पत्र, साक्षी, दिव्य परीक्षाएँ–तुला, अग्नि, जल, विष और कोष, १२ प्रकार के पुत्र, मिश्रित विवाह, सम्पत्ति–विभाजन, अन्त्येष्टि, विवाह के प्रकार, नारी धर्म, संस्कार, ब्रह्मचारी नियम, आचार्य स्तुति, वेदाध्ययनकाल, पिता और आचार्य का सम्मान, पाप, विविध पातक, नरक, कृच्छ्र, चान्द्रायण, बहुविध अपराध और उनके प्रायश्चित्त, त्रिविध धन, गृहस्थ के कर्तव्य, पञ्चमहायज्ञ, स्नातक के व्रत, श्राद्ध, कार्त्तिक स्नान, दान प्रशंसा, कूप-तडागादि के निर्माण की प्रशंसा, वानप्रस्थ, संन्यास, शरीर विज्ञान, एकाग्रता, वासुदेव प्रशंसा एवं विष्णु धर्मसूत्र का माहात्म्य आदि । धर्मसूत्रों में विष्णु धर्मसूत्र में विस्तार से क्रमबद्ध व्यवहारविधि की विवेचना की गई जिससे व्यवहार के क्षेत्र में विष्णु धर्मसूत्र का महत्त्व अधिक सिद्ध हो जाता है । इस धर्मसूत्र में मनु, याज्ञवल्क्य, व्यास के वाक्यों को उद्धरण स्वरूप स्वीकार किया गया है । इसका प्रणयन समय ३००-१०० ई.पू. माना गया है ।[45] इस धर्मसूत्र पर अधोलिखित टीकाएं मिलती हैं-[46] नन्द पण्डित ने '**वैजयन्ती**' नामक व्याख्या की है जिसका प्रणयन काल १६२२-२३ ई. माना है । भारूचि की भी विष्णु धर्मसूत्र पर टीका है पर वह अनुपलब्ध है। इसका उल्लेख प्रतापरुद्रदेवविरचित 'सरस्वतीविलास' में प्राप्त होता है ।

---

[40] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. २६

[41] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. २६

[42] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. २५

[43] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. २३

[44] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. २५

[45] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. २५

[46] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. २५

वैखानस धर्मप्रश्न-

वैखानस धर्मप्रश्न में तीन प्रश्न है जिनका विभाजन ४१ खण्डों में किया गया है । इसमें प्रतिपादित विषय हैं- प्रथम प्रश्न में चारों वर्णों एवं आश्रमों, ब्रह्मचारी एवं गृहस्थ के कर्त्तव्यों का निरूपण आदि किया; द्वितीय प्रश्न में वानप्रस्थ आश्रम का वर्णन; तृतीय प्रश्न में गृहस्थ एवं सन्यासी के सामान्य नियम आदि । वैखानस धर्मप्रश्न पर वैष्णव सम्प्रदाय का प्रभाव है । वैखानस धर्मप्रश्न में योग के आठ अंगों और आयुर्वेद के भी आठ अंगों की भी चर्चा की गई है ।[47] पर वैखानस धर्मसूत्र में व्यवहार की चर्चा नहीं मिलती है ।

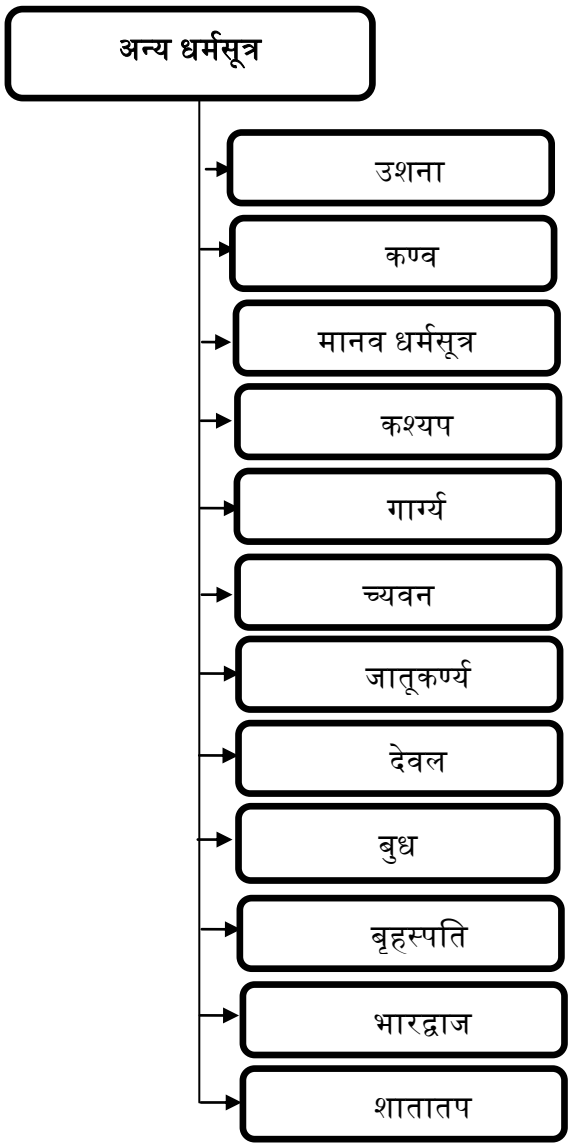

इस प्रकार धर्मसूत्रों में प्रचलित न्याय व्यवस्था का जो स्वरूप प्राप्त होता है, वह न्याय व्यवस्था का प्रांरभिक रूप है । हालांकि इनमें (धर्मसूत्रों) व्यवहार अर्थात् विवादों का विस्तृत एवं क्रमबद्ध अध्ययन प्राप्त नहीं होता है । परन्तु धर्मसूत्रों के समग्र अध्ययन से इन व्यवहार के क्रम को स्थापित करने का प्रयास किया जा सकता है । जैसे- राज्य में होने वाले अपराधों एवं उनके लिये निर्धारित दण्ड का विधान गौतम, आपस्तम्ब, वशिष्ठ एवं विष्णु धर्मसूत्र में किञ्चित विस्तार के साथ किया गया है । इन अपराधों के निर्णय में प्रमाण की आवश्यकता होती है जिसका वर्णन वशिष्ठ एवं विष्णु धर्मसूत्र में प्राप्त होता है । इसके साथ ही अधिकांश सभी धर्मसूत्र व्यवहार की यथोचित संक्षिप्त व्याख्या भी करते हैं । इसलिए उत्तरवैदिक काल की न्यायव्यवस्था का ज्ञान धर्मसूत्रों के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है ।

अन्य धर्मसूत्र-

इन मुख्य धर्मसूत्र ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य सूत्रग्रन्थ भी हैं, जिनकी प्रतियां प्राय: अनुपलब्ध हैं । परन्तु इन धर्मसूत्रों के उद्धरणों तथा नामों का उल्लेख प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृति ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं । वे धर्मसूत्र हैं-

---

[47] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ३५

1.3 अर्थशास्त्र में वर्णित व्यवहार (३०० ई.पू.)-

अर्थशास्त्र न केवल राजनीतिग्रन्थ है बल्कि इसका स्थान व्यवहार विधि/ न्याय के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण है। अर्थशास्त्र अर्थात् मनुष्यों की वृत्ति एवं मनुष्यों से संयुक्त भूमि को अर्थ कहा जाता है और इनकी प्राप्ति एवं इनके पालन के उपायों की विवेचना करने वाले शास्त्र को अर्थशास्त्र कहा गया हैं (चाणक्य सूत्र १५.१) । अर्थशास्त्र के प्रणेता चाणक्य या कौटिल्य या विष्णुगुप्त है । अर्थशास्त्र का धर्मशास्त्र से विभेद है परन्तु अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र की ही एक शाखा है। अर्थशास्त्र में १५ अधिकरण, १५० अध्याय, १८० उपविभाग तथा ६००० श्लोक उद्धृत हैं। इसका प्रणयन काल ३०० ई.पू. निर्धारित किया गया है।[48] ये १५ अधिकरण इस प्रकार हैं :-(१.) विनयाधिकरण, (२.) अध्यक्षप्रचार, (३.) धर्मस्थीयाधिकरण- न्याय शासन, विधिनियम, एवं व्यवहार का वर्णन, (४.) कंटकशोधन- विविध अपराध एवं उनके दण्ड का निर्धारण, (५.) वृत्ताधिकरण, (६.) योन्यधिकरण, (७.) षाड्गुण्य, (८.) व्यसनाधिकरण, (९.) अभियास्यत्कर्माधिकरण, (१०.) संग्रामाधिकरण,(११.) संघवृत्ताधिकरण, (१२.) आबलीयसाधिकरण, (१३.) दुर्गलम्भोपायाधिकरण, (१४.) औपनिषदिकाधिकरण और (१५.) तंत्रयुक्त्यधिकरण। अर्थशास्त्र का तीसरा और चतुर्थ अधिकरण व्यवहार से सम्बन्धित है जिसमें न्यायालय, न्याय प्रशासन, अपराध एवं दण्ड का विस्तृत विवेचन किया गया है। धर्मस्थीयाधिकरण का संबंध उन सामान्यजन के अपराधों से होता था जिनकी प्रस्तुति न्यायार्थ न्यायालय में होती थी तथा कण्टकशोधन का संबंध उन गम्भीर अपराधों से होता था जो राज्य की गरिमा, सुरक्षा एवं शान्तिव्यवस्था से जुडे होते थे। अगर किसी विवाद पर धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के नियमों में विरोध होता है तो अर्थशात्र की बजाय धर्मशास्त्र से आचरण करने का विधान किया गया था।[49] अर्थशास्त्र पर निम्न टीकाएं मिलती हैं- '**श्रीमूला**' टीका- पं. टी. गणपति शास्त्री, '**नयचन्द्रिका**' टीका- माधवयज्वा, **'प्रतिपदपंचिका'** टीका- भट्टस्वामी।

1.4 स्मृतियों में वर्णित व्यवहार-

स्मृति शब्द को पी.वी. काणे ने दो अर्थों में प्रयुक्त किया है- विस्तृत अर्थ में, यह वेदवाङ्मय से इतर ग्रन्थों यथा- पाणिनि के व्याकरण, श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्रों, महाभारत, मनु, याज्ञवल्क्य एवं अन्य ग्रन्थों से संबन्धित है, किन्तु संकीर्ण अर्थ में स्मृति धर्मशास्त्र कहलाता है।[50] मनु ने स्मृति को

---

[48] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ३०

[49] आपस्तम्ब धर्मसूत्र १/९/२४/२३
मनुस्मृति ७/१
नारद १/३९
याज्ञवल्क्य २/१

[50] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ४०

धर्मशास्त्र मानते हुये कहा है कि वेद को श्रुति तथा धर्मशास्त्र को स्मृति जानना चाहिए ।[51] गौतम धर्मसूत्र ने स्मृति को धर्म का उपादान माना है ।[52]

स्मृतियों एवं धर्मसूत्रों में प्रतिपादित विषयों के लिये साम्यता है । स्मृतियां मूलत: उन्हीं विषयों का प्रतिपादन करती है जिनका विवेचन धर्मसूत्रों में किया गया है । क्योंकि धर्मसूत्रों के समान स्मृतियों का प्रतिपाद्य विषय- आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित है । स्मृतियों एवं धर्मसूत्रों में प्रतिपादित विषयों के लिये साम्यता होने के बावजूद कुछ असाम्यता भी है, जैसे- स्मृतियां धर्मसूत्र के गद्य की बजाय पद्य में है, इसकी भाषा धर्मसूत्र की अपेक्षा अत्यन्त सरल है और विषय वस्तु की दृष्टि से धर्मसूत्रों से अधिक व्यवस्थित तथा सुसंगठित है । स्मृतियों पर धर्मशास्त्र का प्रभाव अधिक दिखायी पड़ता है ।[53]

स्मृतियों की संख्या- स्मृतियों की संख्या के विषय में विभिन्न मत प्राप्त होते हैं । पी. वी काणे के अनुसार स्मृतियों की संख्या १८ है, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, पराशर स्मृति, नारद स्मृति, बृहस्पति स्मृति, कात्यायन स्मृति, अंगिरा स्मृति, ऋष्यश्रृंग स्मृति, काष्र्णाजिनि स्मृति, दक्ष स्मृति, पितामह स्मृति, पुलस्त्य स्मृति, प्रचेता स्मृति, प्रजापति स्मृति, मरीचि स्मृति, यम स्मृति, संवर्त स्मृति, हारीत स्मृति ।[54] इन मुख्य स्मृतियों के अतिरिक्त ऐसे शताधिक स्मृति ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जिनके संग्रह प्रकाशित हैं, वे कुछ स्मृतियां हैं- उशना स्मृति, लिखित स्मृति, शंख स्मृति, अत्रि स्मृति, विष्णु स्मृति, शातातप स्मृति, आपस्तम्ब स्मृति इत्यादि । वीरमित्रोदय ने १८ मुख्यस्मृतियां, १८ उपस्मृतियां तथा २१ अन्य स्मृतिकारों के नाम को उल्लेखित किया है ।[55]

स्मृतियों का काल/समय-

स्मृतिग्रन्थ		
स्मृति		**रचनाकाल**
१	मनुस्मृति	३०० - १०० ई.पू.
२	याज्ञवल्क्य स्मृति	१०० - ३०० ई.
३	पराशर स्मृति	१०० - ५००ई.
४	नारद स्मृति	१०० - ३०० ई.

[51] श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृति: । मनुस्मृति २/१०

[52] गौतम धर्मसूत्र १/२

[53] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. १०

[54] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ४१

[55] वीरमित्रोदय, परिभाषाप्रकाश, पृ.१८

५	बृहस्पति स्मृति	२०० - ४०० ई.
६	कात्यायन स्मृति	४०० - ६०० ई.
७	हारीत स्मृति	४०० - ७०० ई.
८	अंगिरा स्मृति	६०० - ७०० ई.
९	दक्ष स्मृति	६०० - ८०० ई.
१०	व्यास	२०० - ५०० ई.
११	यम स्मृति	३०० - ६०० ई.
१२	पितामह स्मृति	४०० - ७०० ई.
१३	ऋष्यश्रृंग स्मृति	
१४	पुलस्त्य स्मृति	४०० - ७०० ई.
१५	प्रचेता स्मृति	
१६	मरीचि स्मृति,	
१७	काष्र्णाजिनि स्मृति,	
१८	प्रजापति स्मृति,	
१९	संवर्त स्मृति,	
२०	लिखित एवं शंख स्मृति	५०० - ७०० ई.

पी.वी. काणे के अनुसार इन स्मृतियों का कालनिर्धारण अत्यन्त कठिन कार्य है, क्योंकि कुछ स्मृतियां पुराने धर्मसूत्रों के पद्यबद्ध किये गये संशोधन मात्र ही है, जैसे- शखस्मृति; कभी-कभी दो-तीन स्मृतियां एक ही नाम के साथ चलती है, जैसे- शतातत, हारीत, अत्रिस्मृति; कुछ स्मृतियों के प्रणेता प्रमुख स्मृतिकार होते हुए भी स्मृति भेद से कुछ शब्द- वृद्ध, वृहत् एवं लघु शब्द जोड दिये गये है जैसे- वृद्ध गौतम, वृद्धयाज्ञवल्क्य, वृहत पाराशर, लघु हारीत आदि।[56]

अत: यहां पर स्मृतिग्रन्थों के व्यवहार विषय को दृष्टिगत करते हुए संक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है जो इस प्रकार है-

[56] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ४२

मनुस्मृति (३०० ई.पू.-१०० ई.पू.)-

स्मृतियों में सर्वप्रथम मनुस्मृति ने व्यवहार पर चर्चा की है । मनुस्मृति में यवनों, कम्बोजों, शकों, पहलवों एवं चीनों के नामों को उल्लेख किया गया है । इनका उल्लेख अशोक के पंचम शिला अभिलेख में प्राप्त होता है- (धंमयुतस च योण कंबो (ज) गंधाशन रिस्टिकपेतेणिकान्) । यूनानी आक्रमण के बाद ये जातियां भारत के सम्पर्क में आई । अतः स्पष्ट है कि मनुस्मृति की रचना दूसरी शताब्दी ई.पू. के बाद हुई ।[57] अर्थात् मनुस्मृति का रचनाकाल ३०० ई.पू. से १०० ई.पू. के मध्य का माना जा सकता है ।[58] मनुस्मृति के रचयिता कौन हैं इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है । नारदस्मृति में वर्णित है कि मनु ने १,००,००० श्लोकों, १०८० अध्यायों एवं २४ प्रकरणों में धर्मशास्त्र लिखा और उसे नारद को पढ़ाया, तदनन्तर नारद ने उसे १२,००० श्लोकों में संक्षिप्त किया और मार्कण्डेय को पढ़ाया । मार्कण्डेय ने उसे ८,००० श्लोकों में संक्षिप्त कर सुमति भार्गव को पढ़ाया, जिन्होने इसे ४,००० में श्लोकों में संक्षिप्त किया । वर्तमान में मनुस्मृति में बारह अध्याय हैं तथा २६९४ श्लोक है ।[59]

मनुस्मृति के बारह अध्याय में वर्णित विषय- (१) सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन, (२) धर्म के स्वरूप, संस्कार, ब्रह्मचर्य एवं इसके कर्तव्य तथा आचरण का वर्णन, (३) विवाह, गृहस्थ जीवन की प्रशंसा, अतिथि सत्कार एवं श्राद्ध का वर्णन, (४) गृहस्थ की वृत्ति, स्नातक आचार विधि, भक्ष्य- अभक्ष्य के नियम, (५) शुद्धि के नियम, स्त्री धर्म का वर्णन, (६) वानप्रस्थाश्रम एवं संन्यासाश्रम का वर्णन, (७) राजधर्म, राजा के गुण एवं अवगुण, मन्त्रिपरिषद्, विविध विभागाध्यक्ष, गुप्तचर, दुर्ग, चतुष्ट साधन, षड्गुण आदि का वर्णन, (८) सम्पूर्ण व्यवहार प्रक्रिया- दण्डाधिकारी राजा के कर्तव्य, १८ व्यवहारपद, न्यायाधीश, साक्षी, चार प्रकार के दण्ड, १८ व्यवहार पदों से संबंधी विवादों के दण्डों का विधान, (९) स्त्रीधर्म, पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी, पुत्रों के प्रकार, दायभाग, स्त्रीधन एवं इसका उत्तराधिकारी, बन्दिगृह, राजा के सप्तांग, (१०) वर्णों के कर्त्तव्यों का वर्णन, (११) प्रायश्चित का विधान, (१२) कर्मों के फल, त्रैगुण्य, निःश्रेयस की प्राप्ति आदि का वर्णन ।[60] मनुस्मृति के अध्याय आठ में व्यवहार प्रक्रिया, १८ व्यवहारपदों (विवाद), न्यायाधीश, त्रिविध प्रमाण, साक्षी, १८ व्यवहारपदों में निहीत दण्डों का विधान किया गया है । यह व्यवहार की दृष्टि से महत्वपूर्ण अध्याय है ।

---

[57] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ४६

[58] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. ४६

[59] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ४२-४३

[60] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ४४-४५

मनुस्मृति के टीकाकार- मेधातिथि मनुस्मृति के सबसे प्राचीन भाष्यकार है । मेधातिथि के बाद गोविन्दराज, कुल्लूकभट्ट, सर्वज्ञनारायण, राघवानन्द, नन्दन, रामचन्द्र, मणिराम, भारूचि आदि ने भी टीकाएं लिखी ।

- **मनुभाष्य**- मनुभाष्य मेधातिथि की टीका है । मनुभाष्य मनुस्मृति का प्रथम प्रधान भाष्य है । मेधातिथि कृत मनुभाष्य की हस्तलिखित प्रतियों के प्रमाण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मेधातिथि की प्रतियों को सहारण के पुत्र मदन नामक राजा ने किसी देश से मंगाकर भाष्य का जीर्णोद्धार करवाया । मनुभाष्य में मेधातिथि के जन्मस्थान का स्पष्ट वर्णन नहीं है, पर इन्हें कश्मीर या उत्तर भारत का रहने वाला माना जा सकता है क्योंकि इनके भाष्य में कश्मीर का अतिशय वर्णन मिलता है । मेधातिथि ने अपने भाष्य में गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वशिष्ठ, विष्णु, शंङ्ख, मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, पराशर, बृहस्पति, कात्यायन आदि विभिन्न स्मृतिकारों को भी उद्धृत किया है । मेघातिथि की 'स्मृति विवेक' नामक कृति भी है ।[61] पी.वी. काणे ने इनका समय ८२० ई. के बाद का माना है । विज्ञानेश्वर ने (मिताक्षरा में) मेधातिथि को प्रमाणिक भाष्यकार के रूप में गृहीत किया है, अतः मिताक्षराकार मेधातिथि को १०५० के पूर्व का मानते हैं ।[62]

- **मन्वर्थमुक्तावली**- मन्वर्थमुक्तावली टीका की रचना कुल्लूक भट्ट ने की है । कुल्लूक ने टीका में भोजदेव, मेधातिथि, गोविन्दराज, हलायुध की चर्चा की है अत: वे ११५० ई. के बाद के माने जा सकते हैं । पी. वी. काणे के अनुसार कुल्लूक को ११५०-१३०० ई. के मध्य का बतलाया है ।[63] कुल्लूक ने 'स्मृतिसागर' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा है, जिसमें अशौचसागर, विवादसागर, श्राद्धसागर नामक प्रकरण लिखे हैं ।[64]

- **मनुटीका**- मनुटीका के भाष्यकार गोविन्दराज है । गोविन्दराज की अन्य कृति 'स्मृतिमंजरी' है । पी. वी. काणे ने गोविन्दराज को १०९०-११४० ई. के मध्य का माना है ।[65]

- **मन्वर्थ विवृति**- सर्वज्ञनारायण की मनुस्मृति पर मन्वर्थविवृति नामक टीका है ।[66]

- **मन्वर्थचन्द्रिका** - राघवानन्द सरस्वती ने मन्वर्थचन्द्रिका नामक टीका रचना की ।[67]

---

[61] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ६९

[62] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ७०

[63] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ८४

[64] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ८४

[65] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ७६

[66] मिश्रः, जयकृष्णः, धर्मशास्त्रस्येतिहासः प्रथमः भागः, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, २०१०, पृ. सं. ६६

- **नन्दिनी**- नन्दनाचार्य की मनुस्मृति पर नन्दिनी नामक टीका है ।[68]
- **मनुवार्थचन्द्रिका**- रामचन्द्र की मनुवार्थचन्द्रिका नामक टीका है ।[69]
- **भारूचि**- विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा ने (याज्ञ. १/८१, २/१२४), पराशर स्मृति में माधवाचार्य ने (२/३, पृ. सं.- १०) भारूचि का उल्लेख किया हैं । आचार्य रामानुज ने छः वेदान्ताचार्यों में भारूचि के नाम का उल्लेख किया है (बौधायन, टंक, द्रविण, गुहदेव, कपर्दी एवं भारूचि)।[70] पी. वी. काणे ने वेदान्ताचार्य और धर्मशास्त्रकार भारूचि को एक मानते हुए इनका रचनाकाल ९ वीं शताब्दी का प्रथमार्ध माना है ।[71]

याज्ञवल्क्य स्मृति (१००-३०० ई.)-

याज्ञवल्क्य स्मृति उपलब्ध स्मृतियों में सबसे अधिक सुव्यवस्थित एवं सरल है । याज्ञवल्क्य स्मृति पर लिखित मिताक्षरा को वर्तमान में व्यवहार विषय पर छोटाकानूनीग्रन्थ कहा जाता है । इसका रचनाकाल १०० ई.पू.–३०० ई. के मध्य का माना गया है ।[72] याज्ञवल्क्य स्मृति के निर्णयसागर संस्करण, त्रिवेन्द्रेम संस्करण एवं आनन्दाश्रम संस्करण (विश्वरूप की टीका) के अनुसार क्रमश: १०१०, १००३ एवं १००६ श्लोक हैं । विज्ञानेश्वर प्रणीत मिताक्षरा में श्लोकों की संख्या १००९ है । विश्वरूप बालक्रीड़ा के भाष्य में (प्रस्तुत संस्करण) ९०३ श्लोक है ।[73]

याज्ञवल्क्य स्मृति को तीन अध्यायों में विभक्त किया गया है - आचाराध्याय, व्यवहाराध्याय एवं प्रायश्चित्त अध्याय ।[74] इन अध्यायों में वर्णित विषय- (१.) आचाराध्याय- १. उपोद्धात प्रकरण, २. ब्रह्मचर्य प्रकरण, ३. विवाह प्रकरण, ४. वर्णजाति विवेक का वर्णन, ५. गृहस्थ धर्म प्रकरण, ६. स्नातक प्रकरण, ७. भक्ष्याभक्ष्य प्रकरण, ८. द्रव्यशुद्धि प्रकरण, ९. दान प्रकरण, १०. श्राद्ध प्रकरण, ११. विनायकादिकल्प प्रकरण, १२. ग्रह शान्ति प्रकरण, १३. राजधर्म प्रकरण । (२.) व्यवहाराध्याय- १. साधारण व्यवहार मातृका प्रकरण, २. असाधारण व्यवहारमातृका प्रकरण, ३. ऋणादान प्रकरण, ४. उपनिधि प्रकरण, ५. साक्षी प्रकरण, ६. लेख्य प्रकरण, ७. दिव्य प्रकरण, ८.

---

67 मिश्र:, जयकृष्ण:, धर्मशास्त्रस्येतिहास: प्रथम: भाग:, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, २०१०, पृ. सं. ६६

68 मिश्र:, जयकृष्ण:, धर्मशास्त्रस्येतिहास: प्रथम: भाग:, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, २०१०, पृ. सं.६६

69 मिश्र:, जयकृष्ण:, धर्मशास्त्रस्येतिहास: प्रथम: भाग:, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, २०१०, पृ. सं.६६

70 पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. ६९

71 काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ६८

72 पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. ३९

73 काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ५०

74 पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. ३९-४०

दायभाग प्रकरण, ९. सीमाविवाद प्रकरण, १०. अस्वामिविक्रय प्रकरण, ११. स्वामिपाल विवाद, १२. दत्ताप्रदानिक प्रकरण, १३. क्रीतानुशय प्रकरण, १४. अभ्युपेत्याशुश्रूषा प्रकरण, १५. संविद्व्यतिक्रम प्रकरण, १६. वेतनादान प्रकरण, १७. द्यूतसमाह्वय प्रकरण, १८. वाक्पारुष्य प्रकरण, १९. दण्डपारुष्य प्रकरण, २०. साहस प्रकरण, २१. विक्रीयासंप्रदान प्रकरण, २२. संभूयसमुत्थान प्रकरण, २३. स्तेय प्रकरण, २४. स्त्री-संग्रहण प्रकरण, २६. प्रकीर्ण प्रकरण। (३.) प्रायश्चित्ताध्याय- १. अशौच प्रकरण, २. आपद्धर्म प्रकरण, ३. वानप्रस्थ प्रकरण, ४. पतिधर्म प्रकरण, ५. प्रायश्चित्त प्रकरण।

इस प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति के व्यवहारध्याय में व्यवहार से सम्बन्धित सूक्ष्म से सूक्ष्म तथ्यों को भी अधिक गहराई से विवेचित किया गया है जो यह बताते हैं कि इस समय तक व्यवहार विधि की नियमबद्ध सुनिश्चित व्यवस्था की जा चुकी थी और समाज को न्यायिक दृष्टि से लिपिबद्ध किया जा चुका था। हिन्दू विधि की दण्ड व्यवस्था के निर्माण में इस स्मृति का विशिष्ट स्थान है। याज्ञवल्क्य के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य नाम की तीन स्मृतियां हैं - वृद्ध याज्ञवल्क्य, योग याज्ञवल्क्य एवं वृहद् याज्ञवल्क्य।

- **बालक्रीड़ा** - विश्वरूप कृत याज्ञवल्क्य स्मृति पर 'बालक्रीड़ा' नामक टीका प्रसिद्ध है। यह टीका त्रिवेन्द्रम संस्कृतग्रन्थ माला में गणपति शास्त्री ने प्रकाशित की है।[75] विज्ञानेश्वर ने अपने मिताक्षरा भाष्य में विश्वरूप भाष्य की चर्चा की है। बालक्रीड़ा भाष्य आचार एवं प्रायश्चित प्रकरण पर आधारित है, व्यवहार प्रकरण का यहां उल्लेख नहीं मिलता है।[76] विश्वरूप के संबंध में मत है कि आचार्य शंकर के शिष्य सुरेश्वर ही विश्वरूप है (आचार्य शंकर के चार शिष्य थे- सुरेश्वर, पद्मवाद, त्रोटक एवं हस्तामलक)। श्री रामतीर्थ ने अपने ग्रन्थ 'मानसोल्लास' में स्पष्ट उल्लेख किया है कि शंकर के शिष्य सुरेश्वर का दूसरा नाम विश्वरूप है। विश्वरूप का समय ८००-८२५ ई. के मध्य हो सकता है।[77]

- **मिताक्षरा** - विज्ञानेश्वर कृत मिताक्षरा टीका का स्मृति ग्रन्थों में अद्वितीय स्थान है। विज्ञानेश्वर ने स्वयं को मिताक्षरा के अन्त में विज्ञानयोगी कहा है जो पूर्व मीमांसा पद्धति के गूढ़ ज्ञाता थे और इन्होंने इस पद्धति का प्रयोग मिताक्षरा में अन्त:विरोधों को दूर करने के लिए किया। मिताक्षरा याज्ञवल्क्य स्मृति का एक भाष्य मात्र ही नहीं है अपितु यह स्मृति सम्बन्धी निबन्ध ग्रन्थ भी है। इसमें बहुत सी स्मृतियों के उद्धरण सम्मलित हैं और इसमें छ: भाष्य स्मृतिकारों यथा- असहाय, विश्वरूप, मेधातिथि, श्रीकर, भारूचि एवं भोजदेव का नामोल्लेख हैं।[78]

---

[75] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ६६

[76] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ६७

[77] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ६८

[78] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ७२

मिताक्षरा पर भी टीकायें हैं- जिसमें विश्वेश्वर, नन्दपण्डित एवं बालभट्ट की टीकायें प्रसिद्ध है । विज्ञानेश्वर का अन्य ग्रन्थ अशौचदशक भी है ।[79] मिताक्षरा का प्रणयन कल्याणनगरी में विक्रमादित्यदेव के शासनकाल में हुआ था । इसमें मेधातिथि, विश्वरूप और धारेश्वर का नाम भी आता है । अत: पी. वी. काणे ने विज्ञानेश्वर कृत मिताक्षरा टीका का रचना काल १०७० -११०० ई. के मध्य माना है ।[80] मिताक्षरा का भारतीय विधि निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान है । बंगाल में मिताक्षरा के केवल दायभाग की प्रबलता है ।[81]

- **अपरार्क** - याज्ञवल्क्य स्मृति पर अपरार्क कृत अपरार्क भाष्य मिताक्षरा से वृहद् है । अत: इसे याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र निबन्ध ग्रन्थ भी कहते हैं । अपरार्क को ही अपरादित्य कहते हैं । अपरादित्यदेव जीमूतवाहन वंश के शिलाहार राजकुमार थे । नगरपुर परमेशवर, शिलाहार नरेन्द्र, जीमूतवाहनन्वयप्रूत, महामण्डलेश्वर आदि शिलालेखों एवं शिलाहारों अभिलेखों से ज्ञात होता है जीमूतवाहन वंश के तीन राज्य थे- (१) उत्तरी कोंकण (२) दक्षिण कोंकण (३) कोल्हापुर । अपरादित्यदेव उत्तरी कोंकण वाले शिलाहार थे । इन्हीं शिलालेखों एवं प्राप्त अभिलेखों के आधार पर पी.वी. काणे ने इनका काल १२वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध (१११५-११३० ई.) का माना है । यह भाष्य १२वीं शताब्दी से कश्मीर में लोकप्रिय है । यह आनन्दाश्रम प्रेस से दो जिल्दो में प्रकाशित हो चुका है ।[82]

- **दीपकलिका** - शूलपाणि ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर 'दीपकलिका' भाष्य लिखा । यह अत्यन्त संक्षिप्त भाष्य है । शूलपाणि साहुडियाल राढ़ीय ब्राह्मण थे । बल्लालसेन के काल से बंगाल में साहुडियाल को निम्न श्रेणी का ब्राह्मण कहा जाने लगा । पी. वी. काणे ने शूलपाणि का काल १३७५-१४६० ई.पू. माना है । शूलपाणि का अन्य ग्रन्थ 'स्मृतिविवेक' है ।[83]

- **वीरमित्रोदय** – वीरमित्रोदय मित्रमिश्र द्वारा लिखित भाष्य है । इस भाष्य की रचना मित्रमिश्र ने ओरछा नरेश वीरसिंह के आदेश से की थी । अत: मित्रमिश्र का काल मध्यकालीन १७वी. शाताब्दी का प्रथम चरण है । इस भाष्य में धर्मशास्त्रीय सभी विषयों को समावेशित किया गया है, यह अत्यन्त विशाल धर्मशास्त्रीय भाष्य ११ खण्ड़ों (प्रकाश) में रचित है । हिन्दू कानून की बनारसी शाखा में वीरमित्रोदय का अधिक महत्त्व है ।[84]

- **प्रमिताक्षराटीका**- दक्षिण भारतीय नन्दपण्डित द्वारा कृत प्रमिताक्षरा विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा पर आधारित एक संक्षिप्त टीका है । इसी टीका में नन्दपण्डित कृत अन्य छ: ग्रन्थों का भी

---

[79] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ७३

[80] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ७३

[81] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ७२

[82] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ८०

[83] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ८८

[84] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. १०४

उल्लेख मिलता है- प्रमिताक्षरा, श्राद्धकल्पलता, शुद्धिचन्द्रिका, दत्तकमीमांसा एवं विद्वन्मनोहरा । **दत्तकमीमांसा** का स्थान सर्वोपरि है क्योंकि इसी के आधार पर अंग्रेज शासन काल में गोद लेने से संबंधी विवादों का निर्णय लिया जाता था । नन्दपण्डित का काल १५६०-१६३० ई. माना गया है ।[85]

पराशर स्मृति (१००ई.-५००ई.)-

पराशर स्मृति में १२ अध्याय, ५९३ श्लोक तथा दो काण्ड हैं - आचार तथा प्रायश्चित्त । परन्तु माधव ने स्वयं से इसमें व्यवहार काण्ड जोड़ा है । याज्ञवल्क्य ने पराशर को प्राचीन धर्मवक्ताओं में गिना है । पराशर स्मृति में १९ स्मृतिकारों के नाम प्राप्त होते हैं जो हैं- मनु, काश्यप, गार्गेय, गौतम, वशिष्ट, उशनस, अत्रि, विष्णु, साम्वर्त, दक्ष, अंगिरस, शतातप, हारीत, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, प्रचेतस, आपस्तम्ब, प्रजापति, शङ्ख तथा लिखित आदि ।[86] विश्वरूप, मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि आदि ने अनेक ग्रन्थों में पराशर को उद्धृत किया है । पी. वी. काणे ने पराशर स्मृति को प्रथम शताब्दी से पांचवीं शताब्दी के मध्य का माना है । पराशर स्मृति के अतिरिक्त एक बृहत्पराशर स्मृति भी है जो पराशर स्मृति का ही विस्तृत रूप है । इसमें १२ अध्याय एवं २२०० श्लोक हैं । पराशर स्मृति के दो संस्करण जीवानन्द तथा बम्बई संस्कृतग्रन्थमाला अधिक प्रसिद्ध हैं ये संस्करण माधव टीका से युक्त है ।[87] माधवाचार्य एवं नन्दपण्डित पराशर स्मृति के टीकाकार हैं ।[88] पराशर स्मृति पर अधोलिखित टीकाएं मिलती हैं-

- **माधवाचार्य**- दक्षिण भारतीय माधवाचार्य ने पराशर स्मृति पर 'पराशरमाधवी' नामक टीका लिखी । यह आचार संबंधी निबन्ध ग्रन्थ है । माधवाचार्य ने इसमें सम्पूर्ण व्यवहार अध्याय को प्रतिपादित किया है । विजयनगर साम्राज्य के संस्थापक राजा बुक्का के शासनकाल में इस भाष्य का प्रणयन किया गया था । अत: पी. वी. काणे ने इनका समय १३३०-१३८५ ई. के मध्य निर्धारित किया है ।[89]

- **विद्वन्मनोहरा**- दक्षिण भारतीय नन्दपण्डित ने 'विद्वन्मनोहरा' नामक टीका लिखी । इनका समय पी. वी. काणे ने १५९५-१६३० के मध्य निर्धारित किया है ।[90]

नारद स्मृति (१०० - ३०० ई.)-

---

[85] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. १०१

[86] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. ४२

[87] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ५४

[88]काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ५५

[89] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ८६

[90] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ९२

नारद स्मृति का प्रतिपाद्य विषय केवल व्यवहार है। इसमें व्यवहार की पूर्ण विस्तार के साथ विवेचना की गई है। नारद स्मृति में ४ अध्याय, १८ प्रकरण तथा १०२८ श्लोक हैं। याज्ञवल्क्य ने नारद को धर्मवक्ता नहीं माना है क्योंकि याज्ञवल्क्य स्मृति के स्मृतिकारों की सूची में नारद स्मृति का उल्लेख नहीं किया गया है। नारद स्मृति के चार अध्याय में से प्रारम्भ के तीन अध्याय का संबंध व्यवहारमातृका यानी न्यायिक प्रक्रिया से हैं और अन्तिम चतुर्थ अध्याय में १८ प्रकरणों का उल्लेख है। वे १८ प्रकरण है- ऋणाधान (ऋण वापस प्राप्त करना), उपनिधि (जमानत), सम्भूयसमुत्थान (सहकारिता), दत्ताप्रदानिक (निश्चित करने के उपरान्त मना करना), अभ्युपेत्य-अशुश्रुषा (सेवा अनुबंध को तोड़ना), वेतनस्यानपाकर्म (काम करवाने पर भी वेतन का भुगतान न करना), अस्वामिविक्रय (बिना स्वामित्व के किसी चीज का विक्रय कर देना), विक्रीयासंप्रदान (बेच कर सामान न देना), क्रीतानुशय (खरीदकर भी सामान न लेना), समयानपाकर्म (निगम श्रेणी आदि के नियमों को भंग करना), सीमाविवाद (सीमा का विवाद), स्त्रीपुंसंयोग (वैवाहिक संबंध के नियम), दायभाग (पैतृक संपत्ति पर उत्तराधिकार एवं विभाजन), साहस (बल प्रयोग), वाक्पारुष्य (मानहानि करना), दण्डपारुष्य (शारीरिक क्षति पहुंचाना), प्रकीर्णक (विविध राजकीय अपराध) और परिशिष्ट (चौर्य एवं दिव्य परिणाम का निरूपण)।[91] नारद ने मनु के समान १८ व्यवहारपदों को तो स्वीकार किया ही साथ में इन व्यवहारपदों का अनेक उपशीर्षकों में विभाजन भी किया। प्रमाणों का उल्लेख ऋणादान प्रकरण में किया गया है।

नारद स्मृति पर मनु स्मृति का पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है, क्योंकि नारद ने अधिकांश श्लोकों को मनुस्मृति से लिया है। वर्तमान समय में प्राप्त नारद स्मृति के रचनाकाल के विषय में निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता है पर नारद स्मृति में प्रदत्त अर्थदण्ड में प्रचलित दीनार सिक्का जिसका (रोमन सिक्के) प्रचलन शकों द्वारा प्रथम शताब्दी में किया था, के आधार पर पी. वी. काणे ने नारद स्मृति का रचनाकाल १००-३०० ई. के मध्य का माना है। नारद स्मृति के भाष्यकार असहाय है।[92] नारद स्मृति पर अधोलिखित टीकाएं मिलती हैं-

- **असहाय** - असहाय द्वारा नारद स्मृति पर लिखित भाष्य दुर्भाग्यवश पूर्णरूप से उपलब्ध नहीं है, पर कल्याणभट्ट द्वारा इसका संशोधित रूप प्राप्य है जिसका सम्पादन डॉ. जाली ने किया है। मेधातिथि और विश्वरूप ने अपने भाष्य में असहाय का नामोल्लेख किया है। अतः असहाय का समय ७५० ई. के आसपास का होना चाहिए।[93] नारद स्मृति का एक संक्षिप्त और एक वृहद् संस्करण है जिसका सम्पादन डॉ. जाली ने किया है।[94]

---

[91] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ५५

[92] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ५६

[93] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ६६

[94] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ५५

बृहस्पति स्मृति (२००-४००ई.)-

याज्ञवल्क्य ने बृहस्पति को धर्मशास्त्रकारों में नहीं गिना है । बृहस्पति मानो मनु के वार्तिककार हो ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि इन्होंने मनु से बहुत सी बातें ली और बहुत जगहों पर मनु के संक्षिप्त विवरण की व्याख्या भी की है । बृहस्पति स्मृति वर्तमान में पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं है पर यह स्मृति ग्रन्थ **व्यवहार प्रधान** है और इसकी विलक्षण व्यवहार संबंधी सूची को वीरमित्रोदय, अपरार्क तथा अन्य ग्रन्थों के आधार पर उपस्थापित किया जा सकता है । यथा- व्यवहाराभियोग के चार स्तर, प्रमाण (तीन मानवीय एवं एक दैवीय), गवाह (१२ प्रकार), लेखप्रमाण (दस प्रकार), भुक्ति (स्वत्व), दिव्य (९ प्रकार), १८ स्वत्व । अठादश व्यवहारपद- ऋणादान, निक्षेप, अस्वामिविक्रय, सम्भूयसमुत्थान, दत्ताप्रदानिक, अभ्युपेत्याशुश्रूषा, वेतनस्यानपाकर्म, स्वामिपालविवाद, संविद्व्यतिक्रम, विक्रीयासम्प्रदान, पारुष्य (२ प्रकार), साहस (३ प्रकार), स्त्रीसंग्रहण, स्त्रीपुंसधर्म विभाग, द्यूतसमाह्वय, प्रकीर्णक । बृहस्पति ने प्रारम्भ के १४ व्यवहार पदों को धनमूलक और अन्तिम चार को हिंसामूलक में विभाजित कर अन्तर्भेद को प्रकट किया है ।[95]

डॉ. जाली द्वारा सम्पादित बृहस्पति स्मृति में ७११ श्लोक हैं ।[96] पी. वी. काणे ने बृहस्पति स्मृति का समय २००-४००ई. के मध्य निर्धारित किया है ।[97] बृहस्पति स्मृति पर किसी भी टीकाकार का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है ।

कात्यायन स्मृति (४००-६००ई.) -

प्राचीन भारतीय व्यवहार (न्याय) एवं व्यवहारविधि (न्यायिकप्रक्रिया) में नारद, बृहस्पति तथा कात्यायन को त्रिरत्नमण्डल माना जाता है । व्यवहार सम्बन्धी विषयों के विवरण में कात्यायन ने नारद तथा बृहस्पति को आदर्श माना है । पर कात्यायन ने इन दोनों से बढ़कर व्यवहार संबंधी नयी संज्ञाएं दी हैं, यथा- 'पश्चात्कार', 'जयपत्र' आदि ।[98] (पश्चात्कार वह निर्णय है जो उग्र वाद-विवाद के बाद लिया जाता है । जयपत्र वह निर्णय है जो प्रतिवादी के अपराध स्वीकारोक्ति पर लिया जाता है)।[99] कात्यायन की व्यवहार संबंधी कृति दुर्भाग्यवश उपलब्ध नहीं है परन्तु जीवानन्द के संग्रह में ३ प्रपाठकों, २९ खण्ड़ों, एवं ५०० श्लोकों में एक कात्यायन स्मृति ग्रन्थ है । यह स्मृतिग्रन्थ आनन्दाश्रम संग्रह में भी है । इस ग्रन्थ को कात्यायन का 'कर्मप्रदीप' कहा जाता है ।[100] स्त्रीधन संबंधी विषय कात्यायन का बहुचर्चित है ।[101] याज्ञवल्क्य तथा पराशर के द्वारा

---

[95] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ५७

[96] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ५७

[97] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ५७

[98] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ५८

[99] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. ४७

[100] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ५९

कात्यायन को धर्मवक्ताओं में गिना गया है । पी. वी. काणे के अनुसार कात्यायन स्मृति, मनु एवं याज्ञवल्क्य स्मृति के पश्चात् तथा नारद एवं बृहस्पति स्मृति के पूर्व की प्रतीत होती है । अत: इनका समय चौथी से छठी शताब्दी के मध्य माना जा सकता है ।[102] कात्यायन स्मृति पर किसी टीकाकार का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है ।

हारीत स्मृति (४००-७००ई.) -

हारीत स्मृतिग्रन्थ व्यवहार पर आधारित है । हारीत ने उसी व्यवहारविधि को उचित माना जो धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित है और सदाचार से युक्त होते हुए प्रपंच से दूर है ।[103] हारीत ने नारद के समान व्यवहार के चार स्वरूप– धर्म, व्यवहार, चरित्र एवं नृपाज्ञा बतलाये हैं ।[104] हारीत द्वारा लिखित दो स्मृतियां हैं - लघु हारीत स्मृति, वृद्ध हारीत स्मृति । लघु हारीत स्मृति में ७ अध्याय एवं १९२ श्लोक हैं तथा इसके प्रतिपाद्य विषय है- वर्णधर्म, वर्णाश्रमधर्मों का वर्णन आदि । वृद्ध हारीत स्मृति में आठ अध्याय एवं २५२९ श्लोक हैं तथा इसके प्रतिपाद्य विषय है- पंच संस्कार, वैष्णव सम्प्रदाय के संस्कार, मन्त्र-विधान, भगवत् समाराधन विधि, कृषि का वर्णन, राजधर्म, नित्य-नैमित्तिक-समाराधन विधि का वर्णन, भगवान के महोत्सव, महापातकादि प्रायश्चित्तों का वर्णन, विष्णु पूजा की विधि आदि का वर्णन किया गया है ।[105] पी. वी. काणे ने हारीत स्मृति को ४००-७०० ई. ईस्वीं के मध्य प्रणीत माना है ।[106] हारीत स्मृति पर भी किसी टीका का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है ।

आङ्गिरस स्मृति (६००-७०० ई.) -

आङ्गिरस स्मृति में आचार एवं प्रायश्चित विषय वर्णित है । इसके दो भाग हैं - १. पूर्वाङ्गिरस, २. उत्तराङ्गिरस । पूर्वाङ्गिरस में १११३ श्लोक हैं, इसमें आचार विषय वर्णित है । उत्तराङ्गिरस में १६४ श्लोक तथा १२ अध्याय हैं, इसमें प्रायश्चित विषय वर्णित है । याज्ञवल्क्य ने अङ्गिरा को धर्मशास्त्रकारों में उल्लेख किया है । आङ्गिरस स्मृति के कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, यथा- थियोसोफिकल सोसाइटी के अधीन अड्यार पुस्तकालय, मद्रास से आङ्गिरस स्मृति का दो खण्डों में प्रकाशिन, जीवानन्द संङ्ग्रह में प्रकाशित ७२ श्लोकों से युक्त आङ्गिरस स्मृति (यह अत्यन्त संक्षिप्त संस्करण है) तथा मनसुखराय मोर ने प्रकाशित (वृहद संस्करण) । आङ्गिरस स्मृति

---

[101] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. ४७

[102] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ५९

[103] स्वधनस्य वृथा प्राप्ति: परधर्मस्य वर्जनम् । न्याये न क्रियते यत्र व्यवहार रस उच्यते ॥ हारीत, स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ. २

[104] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ६५

[105] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. ५२-५३

[106] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ६५

का प्रणयन काल ६००-७०० ई. के बीच निश्चित किया गया है ।[107] आङ्गिरा स्मृति पर भी किसी की टीका प्राप्त नहीं है ।

दक्ष स्मृति (६००-८००ई.)-

मनसुखराय मोर द्वारा प्रकाशित दक्ष स्मृति में ७ अध्याय तथा २०८ श्लोक हैं तथा जीवानन्द संग्रह में प्रकाशित दक्षस्मृति में ७ अध्याय एवं २२० श्लोक हैं ।[108] दक्ष स्मृति के सातों अध्यायों में अत्यन्त रोचकपूर्ण तरीके से आश्रम एवं आचार को वर्णित किया गया है । याज्ञवल्क्य ने दक्ष का धर्मशास्त्रकारों में उल्लेख किया है । विश्वरूप, मिताक्षरा, अपरार्क आदि प्राचीन टीकाकारों ने दक्ष को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है । दक्ष स्मृति का प्रणयन काल ६००-८०० ई. निर्धारित किया गया है ।[109] दक्ष स्मृति पर भी कोई टीका प्राप्त नहीं होती है ।

व्यास स्मृति (२००-५०० ई.) -

मनसुखराय मोर द्वारा प्रकाशित व्यास स्मृति में ४ अध्याय एवं २४१ श्लोक हैं तथा जीवानन्द एवं आनन्दाश्रम में संग्रहीत व्यास स्मृति में १५० श्लोक एवं चार अध्याय हैं । व्यास स्मृति में लेख्य प्रमाण के तीन प्रकार- स्वहस्त, जानपद तथा राजशासन, व्यवहार, दिव्यों के पांच प्रकार आदि विषयों का उल्लेख किया गया है ।[110] अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका तथा अन्य ग्रन्थों में व्यास स्मृति के लगभग २०० श्लोक उद्धृत हैं जिनसे प्रतीत होता है कि व्यास स्मृति व्यवहार विधि पर आधारित ग्रन्थ है । व्यास स्मृति में निष्क नामक सोने के सिक्के का उल्लेख है जो १४ सुवर्णों के बराबर होता था, जिसमें एक सुवर्ण ८ पल के बराबर होता था । इस प्रचलित सिक्के के आधार पर पी. वी. काणे ने व्यास स्मृति का समय २००ई. -५०० ई. के बीच का माना है ।[111] व्यास स्मृति पर भी कोई टीका उपलब्ध नहीं हैं ।

यम स्मृति (३०० - ६०० ई.)-

यमस्मृति पर मनु का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है । यम नाम से तीन स्मृतियां प्राप्त होती हैं- लघुयमस्मृति, वृहद्यमस्मृति एवं लघुयमस्मृति । लघुयमस्मृति में ९९ श्लोक हैं एवं वृहद्यमस्मृति में १८२ श्लोक हैं, परन्तु दोनों ही यमस्मृति में नानाविध प्रायश्चितों का वर्णन है । ये तीनों स्मृतियां मनसुखराय मोर के स्मृतिसंदर्भ के चतुर्थ भाग में संग्रहीत है ।[112] जीवानन्द में संग्रहीत यमस्मृति में ७८ श्लोक हैं जिसमें प्रायश्चित एवं शुद्धि का विवेचन है तथा आनन्दाश्रम में संग्रहीत यमस्मृति में

---

[107] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. ४८-४९

[108] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. ४९-५०

[109] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ६१

[110] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. ५०-५१

[111] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ६३

[112] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. ५३-५४

९९ श्लोक हैं, जिसमें श्राद्ध, प्रायश्चित एवं पवित्रीकरण का विवेचन है ।[113] यमस्मृति का प्रणयन काल याज्ञवल्क्य के बाद अर्थात् ३००-६००ई. के मध्य निश्चित किया गया है ।[114] यम स्मृति की भी कोई टीका प्राप्त नहीं होती हैं ।

पितामहस्मृति (४००-७०० ई.)-

पितामहस्मृति व्यवहार से संबंधित ग्रन्थ है । इसमें बृहस्पति के समान नौ प्रकार के दिव्य, व्यास की भांति लेख प्रमाण में क्रयपत्र, स्थितिपत्र, सन्धिपत्र, विशुद्धपत्र का उल्लेख, २२ व्यवहारपद तथा आठ न्यायालयकरण- लिपिक, गायक, शास्त्र, साध्यपाल, सभासद, अग्नि एवं जल आदि का वर्णन किया गया है । पितामहस्मृति वर्तमान में उपलब्ध नहीं है परन्तु विश्वरूप, मिताक्षरा ने व्यवहार संबंधी उद्धरण पितामहस्मृति से लिये हैं । इसका प्रणयन काल ४००-७०० ई. निर्धारित किया गया है ।[115] पितामहस्मृति की भी कोई टीका प्राप्त नहीं होती हैं ।

ऋष्यश्रृंग स्मृति-

ऋष्यश्रृंग स्मृति वर्तमान में उपलब्ध नहीं है परन्तु मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका तथा अन्य ग्रन्थों ने ऋष्यश्रृंग से आचार, शौच, श्राद्ध एवं प्रायश्चित संबंधी उद्धरण लिये हैं ।[116]

पुलस्त्य स्मृति (४००-७०० ई.)-

पुलस्त्य स्मृति में संध्या, अशौच, श्राद्ध, यतिधर्म एवं प्रायश्चित आदि का उल्लेख है जिन्हें उद्धरण स्वरूप विश्वरूप, मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका आदि भाष्यकारों ने लिया हैं । पी.वी.काणे ने इसका समय ४००-७०० ई. के मध्य का माना है ।[117]

प्रचेता स्मृति-

प्रचेता स्मृति का अशौच प्रकरण विशेष महत्त्व का है । मिताक्षरा में उद्धृत प्रचेता स्मृति के मतानुसार कर्मचारियों, शिल्पकारों, चिकित्सकों, क्षत्रियों, दासों, राजाओं एवं राजकर्मचारियों को अशौच की अवधि नहीं माननी चाहिए । प्रचेता स्मृति के अशौच संबंधी उद्धरणों का प्रयोग मेधातिथि, मिताक्षरा, हरदत्त, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका आदि भाष्यकारों ने भी किया है ।[118]

---

[113] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ६२

[114] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. ५४

[115] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ६१

[116] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ६०

[117] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ६१

[118] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. ६०

मारीचि स्मृति-

मारीचि स्मृति में वर्णित आह्निक, अशौच, व्यवहार एवं प्रायश्चित आदि विषयों को उद्धरण स्वरूप विज्ञानेश्वर, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका आदि भाष्यकारों ने लिया है । मारीचि ने अनुसार श्रावण-भाद्रपद मास में नदी में स्नान नहीं करना चाहिये, क्योंकि इस समय नदियां रजस्वला होती हैं । बंधक, बिक्री, विभाजन, अचल सम्पत्ति के विषय में जो भी निर्णय लिया जाये वह लिखित होना चाहिए ।[119]

काष्र्णाजिनि स्मृति-

काष्र्णाजिनि स्मृति के श्राद्ध संबंधी मतों को विज्ञानेश्वर, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका आदि धर्मशास्त्रकारों ने उद्धरण स्वरूप लिया है ।[120]

प्रजापति स्मृति-

आनन्दाश्रम से प्रकाशित प्रजापति स्मृति में १९८ श्लोक हैं । इस स्मृति में अशौच, श्राद्ध, दिव्य, प्रायश्चित, परिव्राजक एवं व्यवहार आदि का उल्लेख किया गया है । जिन्हें प्रमाण स्वरूप विज्ञानेश्वर, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका ने उद्धृत किया है ।[121]

संवर्त स्मृति-

मनसुखराय मोर के स्मृतिसन्दर्भ में प्रकाशित संवर्त स्मृति में २२७ श्लोक हैं । इसमें प्रतिपादित विषय हैं- ब्रह्मचर्य, सन्ध्योपासना, विवाह, अशौच, शुद्धि, श्राद्धकर्म, विविध दानों का महात्म्य, कन्या का विवाहकाल, दान, गृहस्थ की दिनचर्या, वानप्रस्थ, याति धर्म, पापों का प्रायश्चित्त, उपवास, ब्राह्मण भोजन, गायत्री जप, प्राणायाम आदि का वर्णन है । याज्ञवल्क्य ने धर्मशास्त्रकारों में संवर्त का उल्लेख किया है । संवर्त के आचार सम्बन्धी श्लोकों को विज्ञानेश्वर, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका आदि भाष्यकारों ने भी उद्धृत किया है ।

शंख एवं लिखित स्मृति (५००-७०० ई.)-

शंख एवं लिखित समकालीन स्मृतिकार थे । इनके द्वारा लिखित ग्रन्थ- लघुशंख स्मृति, शंखस्मृति, लिखितस्मृति एवं शंखलिखित स्मृति । इन चारों पर मनु एवं याज्ञवल्कय का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है क्योंकि मनु एवं याज्ञवल्कय के अनेक श्लोकों को बिना परिवर्तन किये शंख ने ग्रहण किया है (याज्ञ.१/६१, शंख ४/६) । शंखस्मृति में २७५ श्लोक एवं १८ अध्याय हैं और लिखितस्मृति में ९३ श्लोक एवं एक ही अध्याय है । इन दोनों ही स्मृतियों में नित्य कर्मों एवं कुछ

---

[119] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ६२

[120] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ६०

[121] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ६२

प्रायश्चित का विधान वर्णित है। इनका रचनाकाल ५००-७०० ई. के मध्य का माना गया है। यह मनसुखराय मोर के स्मृतिसन्दर्भ में प्रकाशित है।[122]

इस प्रकार स्मृतिग्रन्थों को "प्राचीन व्यवहार (विधि) व्यवस्था की नियमसंहिता" कहा जा सकता है, क्योंकि स्मृतियों में तात्कालिक मानव समाज के सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, राजनीतिक एवं न्यायिक आदि नियमों की विस्तृत व्याख्या की गई है। इन स्मृतियों को प्राचीन न्यायव्यवस्था का सुनियोजित स्त्रोत कहा जा सकता है। क्योंकि स्मृतियों का व्यवहाराध्याय प्राचीन न्याय व्यवस्था से सम्बन्धित सभी उपबन्धों की विस्तृत चर्चा करता है, जैसे- न्याय व्यवस्था के अधिकारी राजा के कर्तव्य, न्यायालय, न्यायाधीश, व्यवहारप्रक्रिया (न्यायिक प्रकिया), व्यवहारपदों (विवादों), प्रमाणों, अपराधों में निहीत दण्डों तथा निर्णय की स्थिति आदि। इस व्यवहाराध्याय के माध्यम से प्राचीन व्यवहार (विधि) व्यवस्था, प्रमाण (साक्ष्य) व्यवस्था को संहिताबद्ध किया जा सकता है।

1.5 निबन्ध ग्रन्थों में वर्णित व्यवहार-

निबन्ध ग्रन्थ स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं, जिनकी रचना स्मृतियों के बाद की गई है। परन्तु इन निबन्ध ग्रन्थों में प्रतिपादित विषय स्मृतियों के समान आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित है। इन निबन्धों को धर्मशास्त्र का मुख्य अंग माना जाता है। अत: इनका संक्षिप्त परिचय अधोलिखित किया जाता है[123]-

निबन्धकार	आचार	व्यवहार	प्रायश्चित	आचार एवं प्रायश्चित	आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित	काल
भवदेव भट्ट	दशकर्मपद्धति	व्यवहारतिलक	प्रायश्चित निरूपण			११००-१२०० ई.
प्रकाश					महार्णव प्रकाश	१०००-११०० ई.
जीमूतवाहन	कालविवेक	व्यवहारमातृका, दायभाग				१५ वी. शताब्दी
लक्ष्मीधर					कृत्यकल्पतरु	११०५-११०० ई.
देवणभट्ट	स्मृतिचन्द्रिका					१२००० ई.
श्रीधर				स्मृत्यर्थ सार		१५००-१२०० ई.

[122] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. ५८-५९

[123] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ.सं. ६३-१०७

अनिरूद्ध	हारलता, पितृदयिता					११५०-११८० ई.
बल्लासेन	आचारसागर, प्रतिष्ठासागर, दानसागर					११६९ ई.
हेमाद्रि	चतुवर्गचिन्तामणि					१२६०-१३०९ ई.
कुल्लूक भट्ट			स्मृतिसागर			११५०-१३०० ई.
श्रीदत्त उपाध्याय	आचारादर्श					१२००-१४०० ई.
चण्डेश्वर		स्मृतिरत्नाकर				१३००-१३७० ई.
हरिनाथ					स्मृतिसार	१२५०-१३०० ई.
माधवाचार्य	कालनिर्णय					१४ वी. शताब्दी
विश्वेश्वरभट्ट					मदनपरिजात, तिथिनिर्णयसागर, स्मृतिकौमुदी	१३६०-१३९० ई.
मदनरत्न					मदनरत्नप्रदीप	१४५० ई.
शूलपाणि					स्मृतिविवेक	१३७४-१४६० ई.
रुद्रधर	श्राद्धविवेक					१४२०-१४६५ ई.
मिसरु मिश्र	विवाद चन्द्र					१४००-१४५० ई.
वाचस्पति मिश्र		चिन्तामणि				१४५०-१४९० ई.
प्रतापरुद्र देव		सरस्वतीविलास				१५००-१५२५ ई.

गोविन्दानन्द	क्रियाकौमुद्री					१४७५-१५४० ई.
रघुनन्द					स्मृतितत्त्व	१६ वी. शताब्दी
नारायण भट्ट	प्रयोग रत्न		अत्येष्टिपद्धति			१५३५-१५५९ ई.
टोडरामल	श्राद्धसौख्य	व्यवहारसौख्य				१५८१ ई.
नन्दपण्डित		दत्तकमीमांसा				१५९०-१६३० ई.
कमलाकार भट्ट	शूद्रकमलाकर			निर्णयसिन्धु	विवादताण्डव	१६०८-१६४५ ई.
नीलकण्ठ भट्ट					भगवन्त भास्कर	१६१०-१६४५ ई.
मित्रमिश्र					वीरमित्रोदय	१६००-१६४० ई.
अनन्तदेव	स्मृतिकौस्तुभ, संस्कारकौस्तुभ, राजकौस्तुभ					१६५०-१६८० ई.
नागोजीभट्ट	श्राद्धेन्दुशेखर		अशौचनिर्णय, प्रायश्चित्तेन्दुशेखर			
काशीनाथ उपाध्याय	धर्मसिन्धुसार					१८०५-६० ई.
जगन्नाथ तर्कपंचानन	विवादसारार्णव					१७८९ ई.

न्याय के क्षेत्र में इन निबन्धों ग्रन्थों ने प्राचीन भारत के अनेक हिस्सों में पृथक्-पृथक् प्रभाव को स्थापित किया है, जैसे- प्राचीन विधि व्यवस्था में वाराणसी शाखा को- वीरमित्रोदय (मित्रमिश्र) ने, मिथिला विचारधारा को- विवादरत्नाकर (चन्देश्वर) एवं विवादचिन्तामणि (वाचस्पति मिश्र) ने, मद्रास विचारधारा को- स्मृतिचन्द्रिका (देवणभट्ट) एवं सस्वतीविलास (प्रतापरुद्र) ने जन्म दिया। जिसे उस क्षेत्र विशेष के निवासियों ने प्राधिकारयुक्त स्वीकार कर लिया

।[124] जीमूतवाहन का दायभाग नामक निबन्ध ग्रन्थ आज भी बंगाल के न्यायिक क्षेत्र में प्रवर्तित है। इससे इन निबन्ध गन्थों की व्यवहारिकता आज भी सिद्ध होती है।

1.6 इतिहास-पुराण में वर्णित व्यवहार-

रामायण, महाभारत एवं पुराण वाङ्मय की गणना धर्मशास्त्र के अन्तर्गत की गई। क्योंकि इनमें भी स्मृतियों के समान आचार, व्यवहार और प्रायश्चित विषयों का विवेचन किया गया है। अत: इनका संक्षिप्त वर्णन व्यवहार के संदर्भ में इस प्रकार है-

रामायण-

रामायण आदिकवि वाल्मीकि द्वारा रचित एक संस्कृत महाकाव्य है। जिसमें सात काण्ड, ६४५ सर्ग एवं २४००० श्लोक हैं (बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तराकाण्ड)। रामायण में धर्मशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन किया गया है जो रामायण को इतिहास ग्रन्थ के रूप में भी प्रकट करते हैं, यथा- राजनीति एवं शासन का वर्णन- अयोध्याकाण्ड (सर्ग १००), अरण्यकाण्ड (सर्ग ३३); राजधर्म का वर्णन- बालकाण्ड(सर्ग ७), अयोध्याकाण्ड (सर्ग १००), अरण्यकाण्ड (सर्ग ६/११-१४, ९/२-९, ३३, ४०/१०-१४, ४१/१-६), युद्धकाण्ड (सर्ग-१७-१८, ६३); श्राद्ध का वर्णन- अयोध्याकाण्ड (सर्ग ७७, १०३, १११, १०४-१२०) एवं सत्यप्रशंसा का वर्णन- अयोध्याकाण्ड (सर्ग २४, २६-२७, २९, ३९, १०९, ११७-११८) आदि।[125]

महाभारत-

महाभारत महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित है, जिसमें १८ पर्व हैं- आदिपर्व, सभापर्व, वनपर्व, विराटपर्व, उद्योगपर्व, भीष्मपर्व, द्रोणपर्व, कर्णपर्व, शल्यपर्व, सौप्तिकपर्व, आश्वमेधिकपर्व, महाप्रास्थानिकपर्व, स्त्रीपर्व, शान्तिपर्व, अनुशासनपर्व, मौसलपर्व, स्वर्गारोहणपर्व, आश्रमवासिकपर्व। महाभारत मूलत: शासन व्यवस्था पर आधारित महाकाव्य है, जिसमें धर्म, शासन, दण्ड, न्यायव्यवस्था, कूट एवं अन्य शासन संबंधी विधाओं का विस्तृत वर्णन है। साथ ही इसमें व्यवहार संबंधी विषयों का भी विवेचन मिलता है। इन विवेचित विषयों के कारण ही महाभारत को आदिपर्व में "धर्मशास्त्र" कहा गया है (आदिपर्व २/८३)। यथा- धर्म के तीन स्रोत हैं- श्रुति, स्मृति तथा शिष्टाचार (शान्तिपर्व २४/३०), दण्ड के चार प्रकार- वाक्दण्ड, धन दण्ड, काम दण्ड तथा वध दण्ड (शान्तिपर्व १६०/६८), राजा न्याय व्यवस्था का सर्वोच्च अधिकारी है अत:

---

[124] डॉ. श्रद्धाकर सुपकार, लॉ ऑफ प्रोसीजर एण्ड जस्टिस इन अन्सिएन्ट इण्डिया (१९८६), पृ. ४४

[125] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ४८

राजा को न्याय विद्वानों के सहयोग से करना चाहिए (शान्तिपर्व ६९/२८), दायभाग (अनुशासनपर्व ४५,४७) आदि ।[126]

पुराण-

पुराणों को प्राचीन न्यायव्यवस्था में मान्य स्त्रोत के रूप में स्वीकार नहीं किया गया था किन्तु याज्ञवल्क्य[127] ने धर्म के कोश के रूप में पुराण का उल्लेख किया है । पुराण से तात्पर्य उन इतिहासग्रन्थों से है जिनमें पुरातन तथ्यों, घटनाओं, सिद्धांतों एवं नियमों का वर्णन किया गया हैं और साथ ही जिनमें सृष्टि के निर्माण से लेकर प्रलय तक के इतिहास की विवेचना भी की गई है । इतिहास और पुराण को पांचवां वेद भी कहा गया है (छा. उप. ७/१/२ एवं ४) । पुराण की संख्या अठारह हैं । मत्स्य पुराण के अनुसार उन १८ पुराणों के नाम हैं— ब्रह्म, पद्म, विष्णु, वायु, भागवत, नारद, मार्कंडेय, आग्नेय, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड, और ब्रह्मांड । तथा १८ उपपुराण भी माने गये हैं जो हैं- गणेश पुराण, श्री नरसिंह पुराण, कल्कि पुराण, कपिल पुराण, दत्त पुराण, सनत्कुमार पुराण, शिवधर्म पुराण, आचार्य पुराण, वामन पुराण, उश्ना पुराण, वरुण पुराण, कालिका पुराण, महेश्वर पुराण, साम्ब पुराण, सौर पुराण, पराशर पुराण, मरीच पुराण और भार्गव पुराण ।[128] पुराण वाङ्मय में धर्मशास्त्र के विषयों का प्रतिपादन भी किया गया है ।

इस प्रकार धर्मशास्त्र के विषयों का धर्मसूत्रों, स्मृतियों, निबन्धग्रन्थों, इतिहासग्रन्थों तथा पुराणों में संक्षिप्त विवेचन किया गया हैं । मूलत: धर्मशास्त्र तीन विषयों पर आधारित हैं- आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित । आचाराध्याय में ब्रह्मचर्य, विवाहादि संस्कार, दान, श्राद्ध तथा राजधर्म आदि का वर्णन किया गया हैं । व्यवहाराध्याय में व्यवहारप्रक्रिया एवं व्यवहारपदों का विवेचन किया गया है । प्रायश्चिताध्याय में अनिष्ट कार्यों के शमनार्थ प्रायश्चित व्रत, अशौच आदि का वर्णन किया गया है । इन अध्यायों में व्यवहाराध्याय का सम्बन्ध प्राचीन न्यायव्यवस्था से होने के कारण, इस अध्याय को मेरे द्वारा शोध रूप में स्वीकार किया गया है ।

1.7 शोध विषय एवं उद्देश्य -

शोध का विषय क्षेत्र- **प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में प्रमाण व्यवस्था का मूल्यांकन (व्यवहाराध्याय के सन्दर्भ में)** है । धर्मशास्त्र में निहित प्रमुख धर्मसूत्रों (जैसे- गौतम धर्मसूत्र, बोधायन धर्मसूत्र, आपस्तम्भ धर्मसूत्र, वशिष्ठ धर्मसूत्र, विष्णु धर्मसूत्र, हारीत धर्मसूत्र एवं हिरण्यकेशि धर्मसूत्र), स्मृतियों (जैसे- मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति, बृहस्पति स्मृति,

---

[126] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ.सं. ४८

[127] याज्ञवल्क्य १/५

[128] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ,सं.४८-४९

कात्यायन स्मृति, पितामह स्मृति एवं व्यास स्मृति) एवं अर्थशास्त्र का प्रमाण व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण अध्ययन को प्रस्तुत करना प्रकृत शोध का मुख्य उद्देश्य है। इस शोध के अन्य उद्देश्य हैं-

१. वर्तमान विधि के प्रमाण परिप्रेक्ष्य में प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों की प्रमाण व्यवस्था के स्वरूप को प्रस्तुत करना।
२. क्या प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों की प्रमाण व्यवस्था की प्रासंगिकता को वर्तमान प्रमाण व्यवस्था में सिद्ध किया जा सकता?
३. क्या प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों की प्रमाण व्यवस्था का आधुनिक प्रमाण व्यवस्था के समान विश्लेषण किया जा सकता है?
४. क्या वर्तमान की प्रमाण व्यवस्था में प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों की प्रमाण व्यवस्था की भूमिका है अथवा नहीं?
५. प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों की प्रमाण व्यवस्था का विश्लेषण करना।
६. प्राचीन संस्कृत साहित्य के स्त्रोत धर्मशास्त्र ग्रन्थों की सार्थकता एवं औचित्य को सिद्ध करने का प्रयास करना।

मेरे शोध विषय में प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के व्यवहाराध्याय को आधार बनाकर सम्पूर्ण व्यवहार प्रक्रिया (न्यायिक प्रक्रिया) का विवेचन करते हुए चार प्रमाण लिखित, भुक्ति, साक्षी और दिव्य इत्यादि का विवेचन किया जायेगा। जो मेरे प्रकृत शोध की नवीनता के साथ वैशिष्ट्य को भी प्रमाणित करता है। इस धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था का आधुनिक भारतीय प्रमाण व्यवस्था से तुलना कर इसके औचित्य एवं प्रासंगिकता को वर्तमान में सिद्ध किया जायेगा। जिसके आधार पर वर्तमान प्रमाण व्यवस्था के लिए अनेक प्रमाण संबंधी सुझावों भी दिये जा सकते हैं। मेरा शोध कार्य अन्य पूर्ववर्ती शोध कार्यों से भिन्न एवं नवीन है क्योंकि पूर्ववर्ती शोध कार्यों में या तो प्रमाणों का अत्यन्त संक्षिप्त विवरण है या प्रमाणों के एक भाग साक्षी पर ही शोध किया गया है। अत: सम्पूर्ण प्रमाण व्यवस्था को जानने के जिज्ञासार्थ मेरे द्वारा सम्पूर्ण धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था का विवेचन किया जायेगा। ताकि धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था का सम्यक् ज्ञान हो सकें और वर्तमान की प्रमाण व्यवस्था में धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था की प्रासंगिकता को सिद्ध किया जा सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मेरे द्वारा धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था का विवेचन करते हुए इसकी वर्तमान में प्रासगिकता के सिद्ध करने का प्रयास किया जाएगा।

चतुष्पाद-व्यवहार

अध्याय - 2

चतुष्पाद-व्यवहार

सृष्टि के प्रारम्भ से ही ऐसा कोई युग नहीं होगा जब अपराध न होते हो । लेकिन इन अपराधों की प्रवृत्ति में देश, काल और परिस्थिति के परिवर्तनानुसार बदलाव आया और साथ ही इसके निराकरण के लिए एक न्याय व्यवस्था बनायी गयी जो इन अपराधों के लिए उचित दण्ड देती थी । इस पर नारद, बृहस्पति एवं कात्यायन का मत है कि प्राचीन समय (मनु, प्रजापति के शासनकाल) में लोग धार्मिक एवं सत्यवादी हुआ करते थे और उनमें परस्पर न द्वेष होता था न मत्सरता होती थी जिसके कारण व्यवहार की आवश्यकता ही नहीं हुई, किन्तु जब मनुष्यों में धर्म का ह्रास होना प्रारंभ हुआ तब व्यवहार (न्यायव्यवस्था) का विकास हुआ जिसमें राजा द्वारा झगडों को दूर करते हुए अपराधी को दण्डित किया जाता था ।[129] धर्मशास्त्रकाल तक इन अपराधों की व्यवहारप्रक्रिया (न्याय व्यवस्था) समुचित सुव्यवस्थित हो गयी थी ।

धर्मशास्त्र में इस न्यायव्यवस्था को "व्यवहार" शब्द से निर्देशित किया गया था । यह व्यवहार धर्म पर आधारित होता था । धर्मसूत्र एवं स्मृतिकाल में प्रचलित न्यायव्यवस्था में सत्य का निर्णय पूर्ण निष्पक्षता के साथ किया जाता था और इस निर्णय का अंतिम अधिकार राजा को प्राप्त होता था । लेकिन राजा इस न्यायिक निर्णय अर्थात् दण्डविधान में स्वेच्छाचारिता नहीं कर सकता था क्योंकि राजा न्यायिक निर्णय स्वयं नहीं करता था बल्कि इसके लिए राजा को सभ्यों एवं न्यायाधीशों से राय लेनी पड़ती थी । जिन सभ्यों से निर्णय के लिए राय ली जाती थी वे धर्मशास्त्र एवं व्यवहार में निपुण होते थे और ये धर्म एवं व्यवहार के आधार पर ही परामर्श देते थे । यदि ये सभ्य या न्यायाधीश निर्णय में पक्षपात करते या गलत परामर्श देते या निर्णय से पूर्व अभियोक्ता एवं अभियुक्त से घूस लेते थे तो इन्हें संबंधित अभियोग के दण्ड का दोगुना दण्ड दिया जाता था । फलत: इस प्रकार का दण्ड विधान सभ्यों एवं न्यायाधीशों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव ड़ालता था जिसके कारण इनके द्वारा हमेशा उचित परामर्श दिया जाता था । न्यायव्यवस्था में अन्तिम रूप में निर्णय राजा द्वारा ही लिया जाता था और वह भी धर्म, तर्क, सभ्यों की राय से, जो राजा की स्वेच्छाचारिता रोक लगाता था ।

इस प्रकार की प्राचीन व्यवहार (न्याय) प्रक्रिया का पूर्ण विस्तार के साथ वर्णन यहां अभीष्ट हैं-

---

[129] धर्मैकतानाः पुरुषा यदासन् सत्यवादिनः । तदा न व्यवहारोऽभून्न द्वेषो नापि मत्सरः ॥
नष्टे धर्मे मनुष्येषु व्यवहारः प्रवर्तते । द्रष्टा च व्यवहाराणां राजा दण्डधरः कृतः ॥ नारदस्मृति १/१-२
धर्मप्रधाना: पुरुषा: पूर्वमासन्न हिंसका: । लोभद्वेषाभिभूतानाम् व्यवहार प्रवर्तते ॥ बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारप्रकाश, पृ. ५
मनु: प्रजापतिर्यस्मिन काले राज्यावूभुजत् । धर्मैकताना: पुरुषास्तदासन सत्यवादिन: ॥
तदा न व्यवहारोऽभून्न द्वेषो नापि मत्सर: । नष्टे मृते व्यवहारेषु व्यवहार: प्रवर्तते ॥ कात्यायनस्मृति, व्यवहारप्रकाश, पृ. ४

2.1 व्यवहार (विवाद)-

व्यवहार संस्कृत के वि-अव/ हृ+घञ् अक्षरों से बना है। जिसका शाब्दिक अर्थ है- मुकदमा। व्यवहार शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। विष्णु[130] एवं वशिष्ठ धर्मसूत्र[131] ने व्यवहार शब्द का प्रयोग न्यायिक मुकदमें के सन्दर्भ में किया है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र[132] एवं नारदस्मृति[133] ने व्यवहार के लिए विवाद शब्द का प्रयोग किया है। (विवाद=वि/वद+घञ्= मुकदमा, प्रतिवाद)। गौतम धर्मसूत्र ने व्यवहार का प्रयोग वैधानिक शक्ति के रूप में होने वाली लेने-देन के लिये किया है।[134]

कात्यायन के अनुसार व्यवहार शब्द वि+अव+हार के संयोग से बना है, जिसमें वि का अर्थ है- विविध, अव का अर्थ- संशय और हार का अर्थ हरण करना अर्थात् व्यवहार उसे माना जाता था जो किसी विषय में उत्पन्न विभिन्न संशयों को दूर करता था।[135] इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यवहार शब्द का अर्थ- न्यायविधि हुआ। जिसमें व्यक्ति किसी वस्तु पर स्वत्व को लेकर विवाद को प्रकट करता था।[136] अत: व्यवहार शब्द का प्रयोग मुकदमा एवं न्यायिक प्रक्रिया दोनों ही सन्दर्भ में किया जाता था।

व्यवहार की परिभाषा-

कात्यायन के अनुसार जब प्रत्यनसाध्य धर्म (न्याय) का विचार समाप्त हो गया तब किसी निर्णय तक पहुंचने के लिये जो विस्तार प्रारम्भ हुआ उसे व्यवहार कहा गया।[137]

बृहस्पति के अनुसार जहां पर केवल शास्त्र (धर्मशास्त्र) का आश्रय लेकर निर्णय लिया जाता है उसे व्यवहार कहते हैं।[138]

हारीत के मतानुसार जिस क्रिया से स्वयं के धर्म की प्राप्ति तथा दूसरे के धर्म का प्रवर्जन किया जाता है उसे व्यवहार कहते हैं।[139]

शुक्रनीति ने उसको व्यवहार माना जिसके द्वारा सत् एवं असत् का भलीभांति ज्ञान होने से प्रजा की

---

[130] स्वयमेव व्यवहारान् पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सार्धम्॥ विष्णु धर्मसूत्र ३/७२

[131] वशिष्ट धर्मसूत्र १६/१

[132] आपस्तम्ब धर्मसूत्र २/११/२९/५

[133] विवादे सोत्तरपणे द्वयोर्यस्तत्र हीयते। स पणं स्वकृतं दाप्यो विनयं च पराजये॥ नारदस्मृति १/५

[134] गौतम धर्मसूत्र १०/४८

[135] विनानार्थेऽव सन्देहे हरणं हारं उच्यते। नानासन्देहहरणाद् व्यवहार इति स्मृत:॥ कात्यायनस्मृति २६

[136] व्यवहारानिति अन्यविरोधेन स्वात्मसंबन्धितया कथनं व्यवहार:। याज्ञवल्क्यस्मृति २/१, मिताक्षरा

[137] प्रयत्नसाध्ये विच्छिन्ने धर्माख्ये न्यायविस्तरे। साध्यमूलस्तु यो वादो व्यवहारः स उच्यते॥ कात्यायनस्मृति २५

[138] शास्त्रं केवलमाश्रित्य क्रियते तत्र निर्णय:। व्यवहार: स विज्ञेय..॥ बृहस्पतिस्मृति ५/१९

[139] स्वधर्मस्य यथा प्राप्ति: परधर्मस्यवर्जनम्। न्यायेन क्रियते तत्तु व्यवहार: स उच्यते॥ हारीत, व्यवहारप्रकाश, पृ.५

धर्म में स्थिति सिद्ध होती है ।[140]

इस प्रकार इन परिभाषाओं से व्यवहार का अर्थ न्यायविधि सिद्ध होता है जिसमें किसी भी विवाद के सत्य का अन्वेक्षण करने या यथार्थता का पता लगाने के लिये एक क्रमबद्ध विधि का अनुसरण किया जाता था ।

2.2 व्यवहार के अंग-

नारद ने व्यवहार के स्वरूप को वर्णित करते हुए कहा है कि व्यवहार के चार पाद, चार स्थान और चार साधन हैं । यह व्यवहार चतुर्हित, चतुर्व्यापी और चतुष्कारी भी है । इसके आठ अंग, अठारह पद, सौ शाखाएँ, तीन उत्पत्ति स्थल, दो अभियोग, दो द्वार और दो गतियाँ भी हैं ।[141]

चतुष्पाद- नारद, बृहस्पति एवं कौटिल्य ने व्यवहार के चार चरण माने हैं- धर्म, व्यवहार, चरित्र एवं राजशासन ।[142] इसमें परवर्ती पूर्ववर्ती से प्रबल होता है । जिसमें राजाज्ञा सबसे प्रबल है ।[143] यह राजशासन व्यवहार प्रक्रिया का अंतिम चरण (पाद) होता था ।

- **धर्म**- धर्म उसे माना जाता था जिसमें वादी द्वारा प्रतिवादी पर लगायी गयी आपत्ति को, प्रतिवादी द्वारा स्वीकार कर लिया जाता था । जिसके कारण व्यवहार प्रक्रिया सीधे निर्णय की स्थिति में पहुंच जाती थी ।[144]

- **व्यवहार**- व्यवहार उसे माना जाता था जिसमें प्रतिवादी अपने ऊपर वादी द्वारा लगाये गये आरोपों को स्वीकार नहीं करता था और इन आरोपों के विरुद्ध साक्षी आदि प्रमाणों को उपस्थित करता था ।

- **चरित्र**- चरित्र उसे माना जाता था जिसमें लिखित पत्रों के द्वारा प्रमाणों को उपस्थित किया जाता था । बृहस्पति ने चरित्र को अनुमान कहा है ।[145]

- **राजशासन**- राजशासन वह होता था जिसमें राजा की आज्ञा के द्वारा निर्णय की निष्पत्ति होती थी, किन्तु इस आज्ञा का श्रुति समर्थित होना आवश्यक था ।

---

[140] स्वप्रजाधर्मसंस्थान सदसत्प्रविचारत: । जायते चार्थसंसिद्धिर्व्यवहारस्तु येन य: ॥ शुक्रनीति ४/५/४

[141] स चतुष्पाच्चतुःस्थानश्चतुःसाधन एव च । चतुर्हितश्चतुर्व्यापी चतुष्कारी च कीर्त्यते ॥
अष्टाङ्गोऽष्टादशपदः शतशाखस्तथैव च । त्रियोनिर्द्व्यभियोगश्च द्विद्वारो द्विगतिस्तथा ॥ नारदस्मृति १/८-९

[142] धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम् । विवादार्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः ॥ कौटिल्य ४/१
धर्मेण व्यवहारेण चारित्रेण नृपाज्ञया । चतुष्प्रकारोऽभिहितः संदिग्धेऽर्थे विनिर्णयः ॥ बृहस्पतिस्मृति १/१८

[143] धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम् । चतुष्पाद्व्यवहारोऽयमुत्तरः पूर्वबाधकः ॥ नारदस्मृति १/१०
तत्र सत्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु । चरित्रं पुस्तकरणे राजाज्ञायां तु शासनम् ॥ नारदस्मृति १/११

[144] शुक्रनीति ४/५/१५३

[145] अनुमानेन निर्णीतं चारित्रमिति कथ्यते । देशस्थित्या तृतीयस्तु शास्त्रविद्भिरुदाहृतः ॥ बृहस्पतिस्मृति १/९/६

नारद एवं कौटिल्य ने धर्म को सत्यता में, व्यवहार को साक्षियों में, चरित्र को सामाजिक जीवन में तथा राजाज्ञा को राजकीय शासन में स्थित माना है।[146] पी. वी. काणे ने इन चारों स्थितियों को गौण रूप में व्यवहार के चतुष्पाद माना है।[147]

परन्तु याज्ञवल्क्य, कात्यायन एवं शुक्र का मत इनसे भिन्न है। याज्ञवल्क्य[148] ने भाषा, उत्तर, क्रिया एवं साध्यसिद्धि को, कात्यायन[149] ने पूर्वपक्ष, उत्तर, प्रत्याकलित एवं क्रिया को तथा शुक्रनीति[150] ने पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, क्रिया एवं निर्णय को व्यवहार के चतुष्पाद माना है।

चार उपाय एवं चार साधन- साम, दाम, भेद और दण्ड व्यवहार के चार उपाय थे और व्यवहार के इन चार उपायों से संबंधित होने पर इन्हें व्यवहार के चार साधन भी कहा जाता था।[151]

चतुर्हित- ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों की रक्षा करने पर व्यवहार चतुर्हित था।[152]

चतुर्व्यापी- वादी और प्रतिवादी को व्यवहारकर्ता माना जाता था। व्यवहार के व्यवहारकर्ताओं, साक्षियों, सभ्यों और राजाओं इन चारों से व्यवहार के संयुक्त या परिव्याप्त होने पर व्यवहार चतुर्हित था।[153]

चतुष्कारी- धर्म, अर्थ, यश और लोक में राग को उत्पन्न करने के कारण व्यवहार चतुष्कारी था।[154]

चतु:स्थान- व्यवहार के चार स्थान/आधार थे, जिनमें व्यवहार के चतुष्पाद स्थित होते थे। वे थे- सत्य, साक्षी, चरित्रपुस्तकरण तथा राजशासन।[155]

चतु:र्विध- व्यवहार की चार विधियां मानी गयी थी- आगम (अभियोग की प्राथमिक कार्यवाही), व्यवहारपद (अभियोग की विशिष्ट कार्यवाही), चिकित्सा (प्रमाण) तथा निर्णय।[156]

---

[146] तत्र सत्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु। चरित्रं संग्रहे पुंसां राज्ञामाज्ञा तु शासनम्॥ कौटिल्य ४/२

[147] पी. वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ ७१३

[148] श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्वावेदकसंनिधौ। ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्॥
तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति विपरीतमतोऽन्यथा। चतुष्पाद्व्यवहारोऽयं विवादेषूपदर्शितः॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/७-८

[149] पूर्वपक्षश्चोत्तरं च प्रत्याकलितमेव च। क्रियापादश्च तेनायं चतुष्पात्समुदाहृतः॥ कात्यायनस्मृति ३१

[150] शुक्रनीति ४/५/१५३

[151] सामाद्युपायसाध्यत्वाच्चतुःसाधन उच्यते॥ नारदस्मृति १/१२

[152] सामाद्युपायसाध्यत्वाच्चतुःसाधन उच्यते। चतुर्णामाश्रमाणां च रक्षणात् स चतुर्हितः॥ नारदस्मृति १/१२

[153] कर्तृनथो साक्षिणश्च सभ्यान् राजानमेव च। व्याप्नोति पादशो यस्माच्चतुर्व्यापी ततः स्मृतः॥ नारदस्मृति १/१३

[154] धर्मस्यार्थस्य यशसो लोकपंक्तेस्तथैव च। चतुर्णां करणादेषां चतुष्कारीति चोच्यते॥ नारदस्मृति १/१४

[155] तत्र सत्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु। चरित्रं पुस्तकरणे राजाज्ञायां तु शासनम्॥ नारदस्मृति १/११

द्विलक्षण- व्यवहार के दो लक्षण थे- सोत्तर एवं अनुत्तर। याज्ञवल्क्य ने सोत्तर को सपण एवं अनुत्तर को अपण शब्द से सम्बोधित किया है। जिसमें सपण का अर्थ- निर्णय के किसी पक्ष में न होने पर परस्पर एक-दूसरे को लिखित रूप में धन देने का वचन करना तथा अपण का अर्थ- इस उपरोक्त स्थिति में धन देने का वचन न करना अर्थात् अपण सपण से विपरीत अर्थ में होता था।[157]

अष्टांग- राजा, सत्पुरुष, सभ्य, शास्त्र, गणक, लेखक, हिरण्य, अग्नि और जल व्यवहार के आठ अंग थे।[158]

अष्टादश व्यवहारपद एवं सौ शाखाएँ- १. ऋणादान प्रकरण(२५), २. उपनिधि प्रकरण(७), ३. संभूयसमुत्थान प्रकरण(३), ४. दत्ताप्रदानिक प्रकरण(४), ५. अभ्युपेत्याशुश्रूषा प्रकरण(९), ६. वेतनस्यानपाकर्म प्रकरण(४), ७. अस्वामिविक्रय प्रकरण(१२), ८. क्रीतानुशय प्रकरण(४), ९. विक्रीयासंप्रदान प्रकरण(१), १०. समयस्पानपाकर्म प्रकरण, ११. क्षेत्रज विवाद (३२), १२.स्त्री-पुरुषवाद(२०), १३. दायभाग प्रकरण(१९), १४. साहस प्रकरण(१२), १५. वाक्पारुष्य प्रकरण(३), १६. दण्डपारुष्य प्रकरण(३), १७. द्यूतसमाह्वय प्रकरण(१), १८. प्रकीर्ण प्रकरण।[159]

तीन उत्पत्ति स्थल- काम, क्रोध, लोभ ये त्रियोनियां थी, जिनसे व्यवहार उत्पन्न होता था।[160]

दो अभियोग- शंकाभियोग और तत्त्वाभियोग, व्यवहार के दो अभियोग थे। शंकाभियोग- अविद्यमान या असत्य विषयों के संसर्ग से केवल शंका के आधार पर किया जाता था। तत्त्वाभियोग- साक्षात् दर्शन या चिन्हादि की वास्तविकता के आधार पर किया जाता था, जैसे- होढ़ा अर्थात् चोरी के चिन्हों को देखकर किया गया अभियोग।[161] तत्त्वाभियोग के दो भेद थे- प्रतिषेधात्मक और विध्यात्मक। प्रतिषेधात्मक, जैसे- मुझसे इसने सोनादि लिया जो वह नहीं लौटा रहा है। विध्यात्मक, जैसे- यह मेरा खेत छीन रहा है।[162]

---

[156] आगमः प्रथमं कार्यो व्यवहारपदं ततः। चिकित्सानिर्णयश्चैव दर्शनं स्याच्चतुर्विधम्॥ नारदस्मृति १/३०

[157] सोत्तरोऽनुत्तरश्चैव स विज्ञेयो द्विलक्षणः। सोत्तरोऽभ्यधिको यत्र विलेखापूर्वकः पणः॥ नारदस्मृति १/४

[158] राजा सत्पुरुषः सभ्याः शास्त्रं गणकलेखकौ। हिरण्यमग्निरुदकमष्टाङ्गः समुदाहृतः॥ नारदस्मृति १/१५

[159] ऋणादानं ह्युपनिधिः संभूयोत्थानमेव च। दत्तस्य पुनरादानमशुश्रूषाभ्युपेत्य च॥
वेतनस्यानपाकर्म तथैवास्वामिविक्रयः। विक्रीयासंप्रदानं च क्रीत्वानुशय एव च॥
समयस्यानपाकर्म विवादः क्षेत्रजस्तथा। स्त्रीपुंसयोश्च संबन्धो दायभागोऽथ साहसम्॥
वाक्पारुष्यं तथैवोक्तं दण्डपारुष्यमेव च। द्यूतं प्रकीर्णकं चैवेत्यष्टादशपदः स्मृतः॥ नारदस्मृति १/१६-१९

[160] कामात्क्रोधाच्च लोभाच्च त्रिभ्यो यस्मात्प्रवर्तते। त्रियोनिः कीर्त्यते तेन त्रयमेतद्विवादकृत्॥ नारदस्मृति १/२६

[161] द्व्यभियोगस्तु विज्ञेयः शङ्कातत्त्वाभियोगतः। शङ्का सतां तु संसर्गात्तत्त्वं होढादिदर्शनात्॥ नारदस्मृति १/२७

[162] तत्त्वाभियोगऽपि द्विविध: प्रतिषेधात्मको विध्यात्मक्श्चेति। यथा 'मत्तो हिरण्यादिकं गृहित्वा न प्रयच्छति। क्षेत्रादिकं ममायमपहरतीति। याज्ञवल्क्यस्मृति २/५ मिताक्षरा

दो द्वार- व्यवहार का संबंध दो पक्षों से होता था । जो पहले वाद करता था उसे पक्ष/अर्थी/वादी कहा जाता था तथा जो उस वाद का उत्तर देता था उसे प्रतिपक्ष/प्रत्यर्थी/प्रतिवादी माना जाता था ।[163]

द्विपद- व्यवहार के दो पैर थे- हिंसामूलक एवं अर्थमूलक ।[164]

द्विरूत्थान- व्यवहार की उत्पत्ति के दो कारण थे – धन एवं हिंसा की भावना ।[165]

द्विस्कन्ध- व्यवहार की दो शाखाएं थी- धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र ।[166]

द्विफल- व्यवहार के दो फल थे- जय एवं पराजय ।[167]

द्विगति- गति अर्थात् निर्णय दो प्रकार का होता था- (१.) भूत- सत्य पर आधारित या तत्वार्थ संयुक्त (२.) छल- मिथ्या पर आधारित या प्रमादाभिहित ।[168] जब वादी का अभियोग ही मिथ्या होता था तो उस स्थल पर राजा को वास्तविक सत्य के बारे में सत्यपथ का आश्रय लेकर विचार किया जाता था, क्योंकि राजश्री धर्म पर आधारित होती थी ।[169]

इस प्रकार व्यवहार के अंगों के विश्लेषण से यह प्रतीत होता है कि तत्समय व्यवहार का संबंध मानव, समाज एवं राज्य से होता था और इन तीनों में व्यवहार के द्वारा ही समन्वय को स्थापित किया जाता था । धर्मशास्त्रकारों ने व्यवहार (विवाद) की उत्पत्ति का कारण काम, क्रोध एवं लोभ को माना है जिनके वशीभूत होकर मनुष्य कोई न कोई अपराध कर बैठता था । ये अपराध (व्यवहारपद) अठादश थे । जिनके घटित होने पर मनुष्य को न्यायार्थ एक व्यवहारप्रक्रिया से गुजरना पडता था । इस प्रक्रिया के चार चरण होते थे- भाषा, उत्तर, क्रिया एवं साध्यसिद्धि/निर्णय । निर्णय की अंतिम स्थिति में राजा की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी, क्योंकि राजा ही सभासदों के साथ मिलकर उपलब्ध साक्ष्यों (प्रमाणों) के आधार पर ही निर्णय तक पहुंचता था और यह निर्णय जय-पराजय हो सकता था । जय-पराजय व्यवहार के दो फल थे । इस प्रकार व्यवहार की उत्पत्ति से लेकर व्यवहार के अंत तक की प्रक्रिया को व्यवहार के अंगों के माध्यम से निर्देशित किया गया था ।

---

[163] पक्षद्वयाभिसंबन्धाद् द्विद्वारं समुदाहृतः । पूर्ववादस्तयोः पक्षः प्रतिपक्षस्तदुत्तरम् ॥ नारदस्मृति १/२८

[164] द्विपदो व्यवहारः स्यात्धनहिंसासमुद्भवः ॥ बृहस्पतिस्मृति १/९

[165] साध्यवादस्य मूलं स्याद्वादिना यन्निवेदितम् । देयाप्रदानं हिंसा चेत्युत्थानद्वयमुच्यते ॥ कात्यायनस्मृति ३०

[166] धर्मशास्त्रार्थशास्त्रे तु स्कन्धद्वयमुदाहृतम् । कात्यायनस्मृति ३२

[167] जयश्चैवावसायश्च द्वे फले समुदाहृते । कात्यायनस्मृति ३२

[168] भूतच्छलानुसारित्वाद्विगतिः स उदाहृतः । भूतं तत्त्वार्थसंयुक्तं प्रमादाभिहितं छलम् ॥ नारदस्मृति १/२९

[169] तत्र शिष्टं छलं राजा मर्षयेद्धर्मसाधनः । भूतमेव प्रपद्येत धर्ममूला यतः श्रियः ॥ नारदस्मृति १/३१

2.3 व्यवहारपद-

याज्ञवल्क्य ने व्यवहार शब्द के साथ व्यवहारपद का प्रयोग किया है जिसकी व्याख्या करते हुए मिताक्षराकार कहते हैं कि विवाद होने पर दूसरे के विरोध सहित स्वयं के संबंध में कथित वचनों को व्यवहार कहते हैं। उदाहरण के लिए- किसी खेत विशेष के संदर्भ में कोई एक व्यक्ति यह कहे कि 'यह खेत मेरा है' और उसी खेत के संबंध में दूसरा व्यक्ति भी कहे कि 'यह खेत मेरा है' इस प्रकार के विरोधात्मक कथन को व्यवहार कहा जाता था।[170] जबकि व्यवहारपद, स्मृति एवं आचार के विरुद्ध मार्ग से किसी अन्य व्यक्ति से पीड़ित व्यक्ति जब राजा के सामने आवेदन करता था तो उसे व्यवहारपद कहा जाता था।[171] अत: व्यवहारपद से तात्पर्य विवाद के विषयों/अपराधों से होता था। [172] कौटिल्य एवं नारद ने विवाद के विषयों के लिए व्यवहारपद की जगह विवादपद का प्रयोग किया है।[173]

इस आधार पर व्यवहार न्यायविधि का वाचक होता था जिसमें प्रतिज्ञा, संशय, उत्तर, हेतु, परामर्श, प्रमाण, निर्णय तथा प्रयोजन आदि सम्मिलित होते थे और व्यवहारपद अभियोग का वाचक होता था जिसमें व्यवहार के विषय को शामिल किया जाता था अर्थात् जिन पर व्यवहार किया जाता था उन्हें व्यवहारपद (अपराध) कहा जाता था।[174]

2.4 व्यवहारपद के भेद-

व्यवहारपद या अपराध की उत्पत्ति का कोई न कोई कारण अवश्य होता होगा जिनसे वशीभूत होकर व्यक्ति की इन अपराधों की ओर प्रवृत्ति होती थी। नारद ने इन अपराधों की प्रवृतियों के कारणों को निर्देशित करते हुए कहा है कि व्यक्ति हमेशा काम, क्रोध, लोभ एवं मोह आदि अवगुणों से वशीभूत होकर ही अपराध को उत्पन्न करता है।[175] इन व्यवहारपदों के संख्या को लेकर मत भिन्नता है। मनु ने व्यवहारपदों की संख्या १८ मानी हैं[176]- ऋणादान, उपनिधि, सीमाविवाद, स्वामीपालविवाद, अस्वामिविक्रय, दत्तस्यानापाकर्म, क्रयविक्रयानुशय, संविद्व्यतिक्रमण, वेतनादान, सम्भूयसमुत्थान, द्यूतसमाह्वय, स्तेय, दायभाग, वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, साहस, स्त्रीपुंधर्म एवं स्त्रीसंग्रहण। यदि मनु के व्यवहारपदों की सूची को आधार मानते हुए अन्य धर्मशास्त्रकारों का मत लिया जाये तो- याज्ञवल्क्य ने व्यवहार की संख्या २० मानी है

---

[170] व्यवहारानिति अन्यविरोधेन स्वात्मसंबन्धितया कथनं व्यवहार:। याज्ञवल्क्यस्मृति २/१, मिताक्षरा

[171] याज्ञवल्क्यस्मृति २/५

शुक्रनीति ४/५/६८

[172] याज्ञवल्क्यस्मृति २/६ पर मिताक्षरा

मनुस्मृति ८/५

[173] कौटिल्य ३/१६, ४/७

नारदस्मृति ४/४/१

[174] स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाधर्षितः परैः। आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत्॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/५

[175] कामात्क्रोधाच्च लोभाच्च त्रिभ्यो यस्मात्प्रवर्तते। त्रियोनिः कीर्त्यते तेन त्रयमेतद्विवादकृत्॥ नारदस्मृति १/२६

[176] मनुस्मृति ८/४-७

जिसमें स्त्रीपुंधर्म को आचार में वर्णित किया है, क्रयविक्रयानुशय के दो भेद किये तथा अभ्युपेत्यशुश्रुषा एवं प्रकीर्णक नामक दो अन्य विषयों का ग्रहण किया । बृहस्पति ने मनु के व्यवहारपदों में प्रकीर्णक को जोडते हुए १९ विवाद विषय स्वीकार किये है । नारद ने १८ व्यवहारपदों को १०० शाखायों से युक्त माना है ।[177]

इन १८ व्यवहारपदों को उक्त अवगुणों के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जाता है-

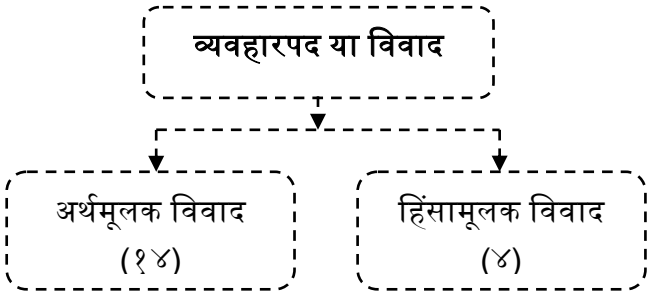

१. अर्थमूलक विवाद- अर्थमूलक विवादों की उत्पत्ति का कारण लोभ है । इन अर्थमूलक विवादों की संख्या १४ हैं । वे विवाद हैं- ऋणादान, उपनिधि, सीमाविवाद, स्वामीपालविवाद, अस्वामिविक्रय, दत्ताप्रदानिक, क्रीतानुशय, अभ्युपेत्यशुश्रुषा, संविद्व्यतिक्रमण, वेतनादान, विक्रयासम्प्रदान, सम्भूयसमुत्थान, द्यूतसमाह्वय, स्तेय, दायभाग एवं प्रकीर्णक ।

२. हिंसामूलक विवाद- हिंसामूलक विवादों की उत्पत्ति के कारण काम, क्रोध एवं मोह हैं । इन हिंसामूलक विवादों की संख्या ४ हैं । वे विवाद हैं- वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, साहस एवं स्त्रीसंग्रहण ।

इन हिंसामूलक एवं अर्थमूलक विवादों का निर्णय सभा में किया जाता था ।

2.5 सभा (न्यायसभा)-

न्याय सभा वह होती थी जहां पर विवादित विषय को न्यायार्थ प्रस्तुत किया जाता था । वैदिक काल में "सभा" नामक संस्था थी । जिसका समिति के साथ उल्लेख किया गया है तथा इन दोनों को "***प्रजापति की जुडवां पुत्री***" कहा गया है ।[178] ऋग्वेद में उल्लेखित "***गर्ता***" शब्द की व्याख्या में निरुक्तकार ने लिखा है कि गर्ता एक लकडी का तख्ता होता था जिसको सभा में रखा जाता था । इसी तख्ते पर खडी होकर पुत्रहीन विधवा अपने पति से धन का अधिकार मांगती थी ।[179] ऋग्वेद एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में सभा का प्रयोग द्यूतगृह के रूप में किया गया है ।[180] स्मृतिकाल में सभा ने

---

[177] पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ३, पृ.२४९

[178] सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने । येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु विदानि पितर: संगतेषु ॥ अर्थववेद ७/१२/१

[179] गर्तारुगिव सनये धनानाम् ॥ ऋग्वेद १/१२४/७ पर निरुक्त ३/५

[180] सभामेति कितवा पृच्छमान: ज्येष्यामिति तन्वा शोशुचान: । ऋग्वेद १/२/१

न्यायिक स्वरूप को प्राप्त किया तथा इसे न्यायालय कहा जाने लगा। नारद ने सभा के स्वरूप को वर्णित करते हुये कहा कि सभा वह नहीं है जहां न हो, वे वृद्ध नहीं हैं जिन्हें धर्म का ज्ञान न हो, वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य न हो और वह सत्य नहीं है जिसमे छल-कपट भरा हो।[181] अर्थात् सभा वृद्ध, धर्म एवं सत्य से युक्त होती थी। कात्यायन के अनुसार जहां पर आवेदित विषय का धर्मानुसार निर्णय लिया जाता है उस धर्माधिकरण को सभा/न्यायालय कहा जाता है।[182]

मनुस्मृति के अनुसार जिस सभा में वेद के तीन प्रकाण्ड विद्वान एवं राजा द्वारा नियुक्त ब्राह्मण सभासद् बैठते हैं उस सभा को "ब्रह्मसभा" के नाम से जानना चाहिये।[183] वशिष्ठ ने सभा को "सदस्" तथा शंखस्मृति ने "धर्मस्थान" कहा है।[184]

- **न्यायसभा की संरचना-**

न्यायसभा की पवित्र एवं महत्वपूर्ण स्थिति होने के कारण इसकी संरचना पर भी विशेष ध्यान दिया गया था। बृहस्पति ने न्यायसभा की संरचना का उल्लेख करते हुए कहा कि सभा भवन का निर्माण वास्तुशास्त्र के अनुरूप किया जाना चाहिये तथा यह सभाभवन दुर्ग के मध्य में स्थित होते हुये वृक्ष एवं जल से घिरा होना चाहिये। इस भवन की दिशा राजमहल के पूर्व में होनी चाहिये (कात्यायन एवं शंखलिखित ने भी सभा भवन की दिशा पूर्व मानी है[185])। इस भवन को विविध प्रकार की पुष्प-मालाओं, मूर्तियों एवं दिवारचित्रों से सुसज्जित करते हुए धूप, जल,अग्नि आदि को सभाभवन में रखना चाहिये।[186] आपस्तम्ब के अनुसार सभा भवन एक तरफ से दूसरी तरफ, अन्दर से बाहर तक दिखाई देना चाहिए।[187]

मिताक्षरा के अनुसार राजा सभाभवन में प्राड्विवाक, अमात्य, ब्राह्मण, सभासद्, पुरोहित के साथ प्रवेश करता है तथा प्राड्विवाक एवं सभ्यों के साथ मिलकर सभा की कार्यवाही को प्रारम्भ करता

तैतिरीय ब्राह्मण १/१/१०/६, शतपथ ब्राह्मण ५/३/१/१०

[181] ना सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्। नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥ नारदस्मृति ३/१८

[182] मूलसारविवेचनमत्रेति व्युत्पत्त्या धर्माधिकरणामिति। हि: प्रसिद्धयर्थ:। एतच्च धर्माधिकरणं प्राच्यां दिशि कार्यम्॥ कात्यायनस्मृति, स्मृतचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ.४२

[183] यस्मिन् देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः। राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान् ब्रह्मणस्तां सभां विदुः॥ मनुस्मृति ८/११

[184] राजा मन्त्री वा सद: कार्याणि कार्यात्॥ वशिष्ठ धर्मसूत्र १६/२
धर्मस्थानं प्राच्यां दिशि तच्चाग्न्युदकैस्समवेत् स्यात्॥ शंखस्मृति, स्मृतचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ.४२

[185] एतच्च धर्माधिकरणं प्राच्यां दिशि कार्यम्॥ कात्यायनस्मृति, स्मृतचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ.४२
धर्मस्थानं प्राच्यां दिशि तच्चाग्न्युदकैस्समवेत् स्यात्॥ शंखस्मृति, स्मृतचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ.४२

[186] प्राग्दिशि प्राङ्मुखीं तस्य लक्षण्यां कल्पयेत्सभाम्। माल्यधूपासनोपेतां बीजरत्नसमन्विताम्॥
प्रतिमालेख्यदेवैश्च युक्तामग्न्यम्बुना तथा। लक्षण्यां वास्तुशास्त्रोक्त- लक्षणेन तु लक्षिताम्॥
भद्रासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः। प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत्॥ बृहस्पतिस्मृति १/४६-४८

[187] यथोभयं संदृश्येत् बहिरन्तरं चेति॥ आपस्तम्ब धर्मसूत्र २/१०/२५/५

है ।[188] नारद ने न्यायसभा के ८ अंग माने हैं- राजा, प्राड्विवाक, सभासद्, स्मृति (धर्मशास्त्र), गणक-लेखक, स्वर्ण, अग्नि तथा जल ।[189] बृहस्पति ने इन ८ अंगों में एक अतिरिक्त अंग "स्वपुरुष" को जोडते हुए और लेखक एवं गणक को अलग-अलग करते हुए सभा के १० अंग माने हैं ।[190]

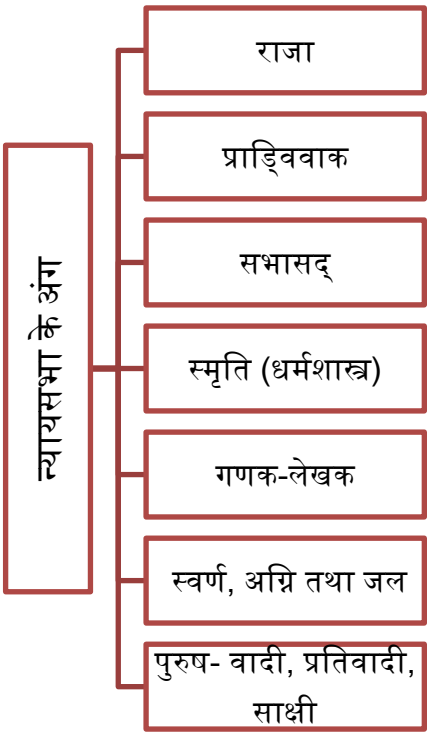

बृहस्पति ने सभा का मानवीकरण करते हुए इसके १० अंग बतलाये हैं और इन अंगों का मानवीय अंगों के साथ साम्य भी स्थापित किया हैं – राजा (सभा का सिर), प्राड्विवाक (मुख), सभ्य (बाहु), लेखक एवं गणक (जंघे), स्वर्ण-अग्नि-जल (हृदय) तथा पुरुष (पाद) । इनमें राजा- दंडप्रमुख, प्राड्विवाक- मुख्य न्यायाधीश, सभ्य- विवाद के जांचकर्ता, स्मृति- विधि निर्णय का आधार, स्वर्ण एवं अग्नि- शपथ के साधन, जल- प्यास के समाधानार्थ, गणक- द्रव्य का गणनाकर्ता, लेखक- न्यायिक कार्यों का लेखनकर्ता तथा पुरुष- वादी, प्रतिवादी, साक्षी एवं अन्य जन ।[191] सभा के ये अंग सभा में इसी क्रम में बैठते थे । गौतम के अनुसार राजा को ऊंचे स्थान पर तथा ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य सभाजनों को राजा के आसन से नीचे वाले स्थान पर बैठना चाहिये ।[192]

---

[188] याज्ञवल्क्यस्मृति २/२ मिताक्षरा

[189] नारदस्मृति १/१५

[190] बृहस्पतिस्मृति १/४

[191] एषां मूर्धा नृपोऽङ्गानां मुखं चाधिकृतः स्मृतः । बाहू सभ्याः स्मृतिर्हस्तौ जङ्घे गणकलेखकौ ॥ १/८४ ॥ हेमाग्न्यम्बुदृशौ हृच्च पादौ स्वपुरुषस्तथा ॥ बृहस्पतिस्मृति १/७४-८५

[192] तमुपर्यासीनमधस्तादुपासीरन्नन्ये ब्राह्मणेभ्यः ॥ गौतमधर्मसूत्र २/२७

➢ **न्यायसभा में सदाचार/कार्यविधि-**

न्यायसभा को न्यायालय माना जाता था । न्यायालय के गरिमापूर्ण स्थिति को ध्यान में रखते हुए प्राचीन व्यवस्थाकारों ने कुछ सदाचारों का भी निर्धारण किया था । जैसे- राजा एवं अन्य न्यायिक अधिकारीयों की वेशभूषा एवं उनका आचरण । बृहस्पति ने न्यायसभा में किये जाने वाले सदाचार का उल्लेख करते हुए कहा है कि- राजा को आसन ग्रहण करने से पूर्व लोकपालों/दिकपालों को प्रणाम करना चाहिये तदनन्तर पूर्वाभिमुख होकर बैठना चाहिए और राजा द्वारा गणक एवं लेखक को क्रमश: पश्चिमाभिमुख एवं दक्षिणाभिमुख होकर बैठने का निर्देश दिया जाना चाहिये ।[193] कात्यायन ने राजा को सामने की ओर मुख करके बैठने को कहा है ।[194]

मनु एवं कत्यायन के अनुसार राजा को ब्राह्मण और सभासदों के साथ विनीतभाव से न्यायालय में प्रवेश करना चाहिए तथा प्रवेश के उपरान्त बिना वेश-परिधान का प्रदर्शन किये पूर्वाभिमुख बैठकर या खडे होकर दायिना हाथ को उठाकर विवादों या उपस्थित मामलों को देखना चाहिए ।[195] विष्णु धर्मसूत्र के अनुसार न्यायसभा में न्यायाधीश को कुछ भी बोलने से पूर्व मुख पर मुस्कुराहट का भाव रखना चाहिए ।[196] इस प्रकार के निर्दिष्ट सदाचारों से यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान के समान तात्कालिक समय में भी न्यायाधीश के व्यवहार (आचरण, बोलचाल आदि) पर विशेष ध्यान रखा गया था क्योकि क्रोध या आवेश में लिया गया निर्णय न्याय की प्रकृति के अनुरूप नहीं होता है ।

इस प्रकार न्यायसभा के विधानों से यह प्रतीत होता है कि तात्कालिक समय में सभाभवन को अत्यन्त पवित्र स्थल की मान्यता प्राप्त थी । क्योंकि इसमें वास्तुशास्त्र के नियम का पालन करते हुए सभाभवन में उपस्थित जनों के बैठने की दिशा का भी निर्देश किया गया था । इस सभाभवन में राजा, प्राड्विवाक, सभ्य, गणक, लेखक, वादी, प्रतिवादी, साक्षी एवं अन्य जन उपस्थित रहते थे जिन्हें सभा का अंग माना जाता था । इनमें राजा अंतिम निर्णायक होता था ।

2.5.1 राजा-

राजा न्याय एवं दण्ड का सर्वोच्च अधिकारी/प्रधान न्यायाधीश होता था । राजा की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुये मनु ने कहा है कि यदि राजा नहीं होगा तो बलवान् लोगों के द्वारा निर्बलों को भयभीत किया जायेगा, जिससे मत्स्यन्याय की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी ।[197] मत्स्य न्याय में बडी मछली छोटी मछली को खा जाती है । मत्स्यन्याय के समान ही राजा के

---

[193] पूर्वामुखस्तूपविशेद्राजा सभ्या उदङ्मुखाः । गणकः पश्चिमा यस्तु लेखको दक्षिणामुखः ॥ बृहस्पतिस्मृति १/१०९

[194] विनीतवेषो नृपति: सभां गत्वा समाहित: । आसीन: प्राङ्मुखस्थित्वा पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ कात्यायनस्मृति, स्मृतचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ.५२

[195] व्यवहारान् दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः । मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥
तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् । विनीतवेषाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ मनुस्मृति ८/१-२
विनीतवेषो नृपतिः सभां गत्वा समाहितः । आसीनः प्राङ्मुखः स्थित्वा पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ।
सह त्रैविद्यवृद्धैश्च मन्त्रज्ञैश्चैव मन्त्रिभिः ॥ कात्यायनस्मृति ५५

[196] विष्णुधर्मसूत्र ३/६३-६४

[197] अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुतो भयात् । रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ मनुस्मृति ७/३

अभाव में पहले बलवानों के द्वारा दुर्बलों का जीवन कष्टमय कर दिया गया था । इसी अन्याय से बचने के लिए प्रजा ने विवस्वान् के पुत्र मनु को राजा के रूप में नियुक्त किया और प्रजा की रक्षार्थ राजा के लिये धान्य का ६वां भाग, पण्य का १०वां भाग तथा थोडे सवर्ण को कर के रूप में निर्धारित कर दिया गया । इस तरह से राजा पद की उत्पत्ति हुई ।[198]

देवत्व सिद्धान्त- राजा के प्रति श्रद्धा को प्रकट करने के लिये धर्मशास्त्रकारों ने राजा को देवता का अंश सिद्ध कर दिया । मनु का कथन है कि इन्द्र, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा तथा कुबेर इन आठ देवताओं के अंश से ईश्वर ने राजा को बनाया है ।[199] इसलिये राजा की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये, चाहे राजा बालक ही क्यों न हो ।[200] कौटिल्य के अनुसार राजा इन्द्र एवं यम का रूप है उसमें क्रोध एवं दया दोनों ही होती है । इसलिये राजा का अपमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि अपमान करने से दैवीय दण्ड की प्राप्ति होती है ।[201] शुक्रनीति ने तो राजा के कार्यों की तुलना देवता के कार्यों से करते हुये कहा है कि जब राजा जब अपने तेज से दुष्टों को भस्म करता है तब वह अग्नि देवता के समान, अपनी सूक्ष्म दृष्टि से सबको देखता है तब वह सूर्य के समान, जब अपराधियों को यथोचित दण्ड देता है तब वह यम के समान तथा जब सुपात्र को पुरस्कृत करता है तब वह कुबेर के समान होता है ।[202] ये मत कहीं न कहीं राजा के दैवीय उत्पत्ति के सिद्धान्त को परिपुष्ट करते हैं ।

राजा पद की उत्पत्ति के साथ कुछ समकालिक परिवर्तन आये । कात्यायन के अनुसार जब मनु एवं प्रजापति जैसे राजाओं के द्वारा शासन किया करते थे तब लोग सत्यवादी एवं धर्मपरायण हुआ करते थे । उस समय तक व्यवहार (विवाद) की स्थिति उत्पन्न नहीं हुई थी । किन्तु समय के परिवर्तन से लोगों के स्वभाव में परिवर्तन आने लगा और लोगों ने सत्य एवं धर्म जैसे आचरण को त्यागना आरम्भ कर दिया जिससे व्यवहार (विवाद) उत्पन्न हुआ ।[203] परिणामस्वरूप अव्यवस्था फैलने लगी । जिसमें राजा का मुख्य कार्य प्रजा की रक्षा करना एवं सामाजिक अव्यवस्था से राज्य को बचाना होता था । इस स्थिति में यदि राजा राज्य में उत्तम रीति वाला नहीं होगा तो उसकी प्रजा कर्णधार

---

198 कौटिल्य १/८

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः । अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ मनुस्मृति ८/३०४
पुण्यात्षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन् । सर्वदानाधिकं यस्मात्प्रजानां परिपालनम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति १/३३५
नारदस्मृति १८/४८

199 इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च । चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ मनुस्मृति ७/४

200 बालोऽपि नावमान्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः । महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ मनुस्मृति ७/८

201 कौटिल्य १/८

202 शुक्रनीति १/१/७३-७७

203 मनु: प्रजापतिर्यस्मिन काले राज्यमवूभुजत् । धर्मेकताना: पुरुषास्तदासन सत्यवादिन: ॥
तदा न व्यवहारोऽभून्न द्वेषो नापि मत्सर: । नष्टे मृते व्यवहारेषु व्यवहार: प्रवर्तते ॥ कात्यायन, व्यवहारप्रकाश, पृ.४
धर्मप्रधाना: पुरुषा: पूर्वमासन्न हिंसका: । लोभद्वेषभिभूतानाम् व्यवहार प्रवर्तते ॥ बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारप्रकाश, पृ.५

विहीन नौका के समान विनष्ट हो जायेगी ।[204] इसलिये राजा को प्रजा की रक्षा उसी प्रकार करने का निर्देश किया गया था जिस प्रकार पिता अपनी संतान की करता है ।[205] राजा तीन तरह से प्रजा की रक्षा कर सकता था- १) शत्रुओं के आक्रमण से, २) चोरों के भय से, ३) आततायी लोगों के भय से प्रजा को मुक्त कराकर ।[206] इस प्रकार पक्षपातरहित होकर न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करने वाले राजा को आय एवं उपज का षष्ठांश भाग प्राप्त होता था ।[207] जिस राजा के राज्य में प्रजा चोरी आदि पाप कर्मों को करती थी उन पाप कर्मों का आधा दोषी राजा को माना जाता था, क्योंकि राजा इन दुष्प्रवृत्तियों के शमनार्थ प्रजा से कर लेता था ।[208] अत: राजा का यह कर्तव्य बनता था कि वह प्रजा की रक्षा करें और प्रजा रक्षार्थ दुराचारियों जैसे- तस्कर, धूर्त, लूटेरों एवं उपद्रव करने वालों को दण्डित करें । साथ ही यह भी कहा गया था कि जो राजा अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता था अर्थात् उद्दण्डों को उचित दण्ड नहीं देता था वह दण्ड से ही मारा जाता था और उसे दैवत्व के योग्य भी नहीं समझा जाता था ।[209] जैसे- वेन, नहुष, सुदास, पैजवन तथा निमि आदि राजा ।[210]

राजा दुष्टों को दण्ड दिये बिना प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता था और इन दुष्टों को दण्ड देने के लिए व्यवहार प्रक्रिया की आवश्यकता होती थी । जो राजा निष्पक्षता से व्यवहार को देखता था उसकी प्रजा भी उन्नति करती थी और वह राजा उभयलोको को प्राप्त करता था ।[211] इस प्रकार निष्पक्षतापूर्ण व्यवहार को देखने वाले राजा को यमतुल्य माना जाता था अर्थात् जिस प्रकार यमराज के द्वारा मृत्यु के समय प्रिय एवं अप्रिय में भेद नहीं किया जाता है उसी प्रकार राजा को यमराज के समान पूर्णनिष्पक्षता से न्याय करना चाहिये ।[212] निष्पक्षतापूर्ण न्याय के लिये राजा द्वारा अपराधियों को दण्डित किया जाना आवश्यक होता था । ऐसा राजा जो निष्पक्षता से हीन

---

[204] शुक्रनीति १/१/६५

[205] प्रजा: प्रजानाथ पितेव पासि । रघुवंश २/४८

[206] तत्प्रजापालनं प्रोक्तं त्रिविधं न्यायवेदिभिः । परचक्राच्चौरभयाद्वलिनोऽन्यायवर्तिनः ॥ बृहस्पतिस्मृति १/३९

[207] सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः । अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ मनुस्मृति ८/३०४
पुण्यात्षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन् । सर्वदानाधिकं यस्मात्प्रजानां परिपालनम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति १/३३५
सम: प्रजासु स्यात् । धर्मस्य ह्यंशभाग्भवतीति । गौतमधर्मसूत्र २/२/५, ११

[208] चाटतस्करदुर्वृत्त- महासाहसिकादिभिः । पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः ॥
अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किंचित्किल्बिषं प्रजाः । तस्मात्तु नृपतेरर्धं यस्माद्गृह्णात्यसौ करान् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति १/३३६-३३७

[209] तं राजा प्रणयन् सम्यक्त्रिवर्गेणाभिवर्धते । कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ मनुस्मृति ७/२७

[210] वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः । सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च ॥ मनुस्मृति ७/४१

[211] यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा । प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ मनुस्मृति ७/२५
एवंवृत्तो राजोभौ लोकावभिजयति ॥ आपस्तम्बधर्मसूत्र २/५/११/४

[212] यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति । तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥ मनुस्मृति ९/३०७
तस्माद्धर्मासनं प्राप्य राजा विगतमत्सरः । सम: स्यात्सर्वभूतेषु विभ्रद्वैवस्वतं व्रतम् ॥ नारदस्मृति १/३४
यथा यमः प्रियद्विष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति । तथा राज्ञा नियंतव्या प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥ बृहस्पतिस्मृति, पाराशरमाधवीय, पृ.३७

होकर अदण्डनीय को दण्डित तथा दण्डनीय को अदण्डित करता है वह मृत्यु के उपरान्त नरकगामी होता था ।[213] इसलिए मनु ने कहा है कि जो राजा काम-क्रोध से विहीन होकर धर्मपूर्वक व्यवहार देखता है उसकी प्रजा उसका उसी प्रकार अनुगमन करती है जिस प्रकार नदियां सागर का अनुगमन करती हैं ।[214] अत: राजा को न्याय सम्पादन के समय सभा में धर्म एवं अधर्म का पृथक्करण करना चाहिये, क्योंकि जो राजा अधर्म को धर्म में मिश्रित करता था वह अधर्मरूप बाण से बिधे हुए धर्म को भी नहीं बचा सकता था ।[215] बोधायन के अनुसार शास्त्र समर्थित एवं परम्परा से युक्त धर्म का पालन ही राजा का मुख्य कार्य है ।[216]

राजा द्वारा राग–लोभादि से रहित होकर प्रतिदिन सभ्यों के साथ मिलकर व्यवहार को देखा जाता था और व्यवहार का निरीक्षण धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के अनुसार किया जाता था ।[217] राजा व्यवहारपदों का अन्तिम निर्णायक होता था परन्तु निर्णय के लिए राजा को परामर्श सभासदों से लेना पड़ता था ।[218] यह परामर्श राजा की निरंकुशता एवं स्वेच्छाचारिता पर रोक लगाता था । वशिष्ठ के अनुसार राजा को अमात्यों (सभासदों) के साथ व्यवहार कार्यों का सम्पादन करना चाहिये और विवादों के दोनों पक्षों के साथ निष्पक्षता करते हुए अपराध के सही कारणों को जानकर ही न्याय/निर्णय करना चाहिये ।[219] व्यवहार को देखने के लिए राजा को व्यवहार में उपस्थित तथ्यों का उसी प्रकार पता लगाना चाहिए जिस प्रकार बाण से आहत मृग के पलायन करने पर मृग के शरीर से गिरे हुये रक्त को देखते हुए व्याध मृग का पता लगा लेता है इसी प्रकार व्यवहारस्थल में राजा द्वारा पद-पद पर व्याख्यान करके या प्रश्नोत्तर करके प्रमाणों के द्वारा उचित न्याय का पता लगा लेना चाहिए ।[220] शुक्रनीति के अनुसार राजा, न्यायाधीश एवं सभ्यों को एकान्त में वादी-प्रतिवादी से नहीं मिलना चाहिये और न ही उनकी बाते सुननी चाहिये । क्योंकि राग, लोभ, भय,

---

[213] कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः । तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ मनुस्मृति ८/३३६
तेजोमात्रं समुद्धृत्य राज्ञो मूर्तिर्हि निर्मिता । तस्य सवाणि भूतानि चराणि स्थावराणि च ॥ बृहस्पतिस्मृति १/७
चाटतस्करदुर्वृत्त- महासाहसिकादिभिः । पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति १/३३६
शुक्रनीति ४/५/७
विष्णुधर्मसूत्र १९/४३

[214] कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान् धर्मेण पश्यति । प्रजास्तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः ॥ मनुस्मृति ८/१७५

[215] धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते । शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ मनुस्मृति ८/१२

[216] बोधायनधर्मसूत्र १९/४

[217] व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह । धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/१
धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः । समाहितमतिः पश्येद् व्यवहाराननुक्रमात् ॥ नारदस्मृति १/३५
धर्मशास्त्रार्थशास्त्राभ्यामविरोधेन यत्नतः । समीक्षमाणो निपुणं व्यवहारगतिं नयेत् ॥ नारदस्मृति १/३७

[218] व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह । धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/१
कौटिल्य ३/१

[219] राजा मंत्री वा सद:कार्याणि कुर्यात् । द्वयोर्विवदमानयो: पक्षान्तरं न गच्छेत् । यथासनमपराधोह्यन्तेनापराध: । सम: सर्वेषु भूतेषु यथासनमपराधोह्यद्यवर्णयोर्विद्यान्तत: । वशिष्ठ धर्मसूत्र १६/२-५

[220] यथा मृगस्य विद्धस्य व्याधो मृगपदं नयेत् । कक्षे शोणितपादेन तथा धर्मपदं नयेत् ॥ नारदस्मृति १/३८

द्वेष तथा एकान्त में किसी भी पक्ष की बाते सुनना पक्षपात का कारण बन सकता है, जिससे निष्पक्ष/उचित न्याय में बाधा उत्पन्न हो जायेगी ।[221]

परन्तु इसके लिए राजा को निर्णय की निष्पक्षता एवं प्रजा के रक्षार्थ उत्साही, कृतज्ञ, वृद्धों की सेवा करने वाला, विनीत, सत्यवादी, स्फूर्तिवान्, स्मरणशील, धार्मिक, अव्यसनी, विवेकशील, गुप्तचरयुक्त, आन्वीक्षिकि-त्रयी-वार्ता-दण्डनीति विद्या में प्रवीण आदि गुणों से युक्त होना आवश्यक होता था । राजा द्वारा विवादों/व्यवहारों का निर्णय वेद, धर्मशास्त्र, वेदांग, उपवेद तथा पुराणों के आधार पर किया जाता था और इन्हीं के अनुकूल देश, जाति एवं कुल के नियमों को भी माना जाता था ।[222] मनु के अनुसार राजा को जाति, जनपद, कुल, श्रेणी आदि संगठनों की आचार एवं परम्परा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए ।[223] अत: राजा को प्रजा की स्वतन्त्रता की रक्षा, सम्पत्ति के अधिकारों का उल्लंघन करने वालों पर नियन्त्रण, प्रजा के परम्परागत रीति नियमों की सुरक्षा हेतु नियमों का निर्माण तथा धर्म एवं सद्गुणों की रक्षा करने का निर्देश दिया गया था ।[224]

2.5.2 न्यायाधीश-

राजा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी होता था । उसके द्वारा विवाद का अन्तिम निर्णय लिये जाने से पूर्व न्यायाधीशो एवं सभासदों से परामर्श लेना पड़ता था । ये न्यायाधीश एवं सभासद् राजा के सलाहकार होते थे, जो राजा की स्वेच्छारिता पर रोक लगाते थे । पर राजा को इनकी सलाह मानना क्यों आवश्यक था? ये न्यायाधीश और सभासद किस प्रकार न्याय कार्यों को सम्पादित करते थे? और इनकी क्या योग्यता होती थी? इत्यादि प्रश्नों के समाधानार्थ यहां पर इनका वर्णन किया जा रहा है-

- **प्रधान न्यायाधीश/प्राड्विवाक -**

न्यायिक कार्यों में सलाहकार की भूमिका निभाने वाले न्यायाधीशों की नियुक्ति राजा के द्वारा की जाती थी । क्योंकि राजा के लिए राजकार्यों में अतिव्यस्तता के कारण व्यवहारदर्शन को कर पाना दुष्कर होता था इसलिये राजा द्वारा व्यवहारदर्शन के लिये न्यायाधीश को नियुक्त किया जाता था ।[225] इस न्यायाधीश को धर्माध्यक्ष, धर्माधिकारी, धर्मप्रवक्ता[226], वक्ता[227], धर्मस्थ[228]

---

[221] नैक: पश्येच्च कार्य्याणि वादिनो: श्रृणुयाद्वच: । रहसि च नृप: प्राज्ञ: सभ्याश्चैव कदाचन ॥
पक्षपाताधिरोपस्य कारणानि च पञ्च वै । रागलोभभयद्वेषा वादिनोश्च रह: श्रुति: ॥ शुक्रनीति ४/५/६-७

[222] तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदा: पुराणम् । देशजातिकुलधर्माश्चाऽऽम्नायैरविरूद्धा: प्रमाणम् ॥ गौतम धर्मसूत्र २/२/१९-२०

[223] जातिजानपदान् धर्मान् श्रेणीधर्माश्च धर्मवित् । समीक्ष्य कुलधर्माश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ मनुस्मृति ८/४१

[224] कौटिल्य ३/१
मनुस्मृति १/८१-८२
बृहस्पतिस्मृति १/१

[225] अपश्यता कार्यवशाद्व्यवहारान्नृपेण तु । सभ्यैः सह नियोक्तव्यो ब्राह्मणः सर्वधर्मवित् ॥याज्ञवल्क्यस्मृति २/३
यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् । तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ मनुस्मृति ८/९
बृहस्पतिस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ. २९,३५

प्राड्विवाक, धर्मप्रवक्ता आदि उपनामों से भी जाना जाता था । गौतम धर्मसूत्र में सर्वप्रथम प्राड्विवाक शब्द का उल्लेख किया गया है ।[229] पी.वी. काणे के अनुसार तात्कालिक समय इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग से यह बात स्पष्ट होती है- कि प्राचीन व्यवस्थाकार बहुत अच्छे से न्यायव्यवस्था के महत्त्व एवं गुरुता से अवगत थे ।[230]

गौतम एवं विष्णु के अनुसार न्यायकार्य राजा द्वारा ही सम्पादित किया जाना चाहिये अथवा किसी शास्त्रज्ञ ब्राह्मण को इस कार्य हेतु नियुक्त करना चाहिये ।[231] न्यायाधीश पद के लिये विद्वान ब्राह्मण को नियुक्त किया जाता था ।[232] विद्वान ब्राह्मण के अभाव में ऐसे वैश्य एवं क्षत्रिय को न्यायाधीश नियुक्त किया जाता था जिन्हें धर्मशास्त्रीय विषयों में पारंगता हासिल हो ।[233] लेकिन शूद्रवर्ण के लिये यह पद पूर्णतया निषिद्ध होता था ।[234] क्योंकि ऐसा मनु का मानना है कि शूद्र न्यायाधीश की नियुक्ति किये जाने पर राष्ट्र के गौरव का विनाश होता है ।[235] परन्तु शास्त्रोचित वह नियुक्त ब्राह्मण शास्त्रोक्त सभी कर्मों एवं तात्कालिक सभी धर्मों को जानने वाला होना चाहिए, साथ ही वह दान्त (तप-क्लेश को सहने में समर्थ), स्थिर (चंचला से रहित), परलोक से डरने वाला, धर्मिष्ठ, उद्यमी, क्रोधरहित, किसी पक्ष के आग्रह से रहित, अपने व्यवहार से किसी अन्य को दुख न पहुँचाने वाला भी होना चाहिए ।[236] इसके अतिरिक्त उसे उदार, कुलीन, जितेन्द्रिय, मधुर, मितभाषी, शांत एवं रागद्वेष से रहित भी होना चाहिये ।[237] नारद के अनुसार प्रधान न्यायाधीश को अठादश

कात्यायनस्मृति स्मृति, स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ. ३६

[226] मनुस्मृति ८/२०

[227] बृहस्पतिस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ. ४५

[228] कौटिल्य ३/१, ४/९

[229] राजा प्राड्विवाको ब्राह्मणो वा शास्त्रवित् । गौतम धर्मसूत्र २/४/२६

[230] पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-३, पृ.२७२

[231] राजा प्राड्विवाको ब्राह्मणो वा शास्त्रवित् । गौतम धर्मसूत्र २/४/२६
स्वयमेव व्यवहारान्पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणै: सार्धम् । व्यवहारदर्शने ब्राह्मणं वा नियुञ्जयात् । विष्णु धर्मसूत्र ३/७२-७३

[232] तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ मनुस्मृति ८/९
सभ्यैः सह नियोक्तव्यो ब्राह्मणः सर्वधर्मवित् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/३

[233] यदा विप्रौ न विद्वान् स्यात् क्षत्रियं तत्र योजयेत् । वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥ शुक्रनीति ४/५/१४
ब्राह्मणो यत्र न स्यात्तु क्षत्रियं तत्र योजयेत् । वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥ कात्यायनस्मृति ६७

[234] जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्ब्राह्मणब्रुवः । धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथं चन ॥ मनुस्मृति ८/२०

[235] यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् । तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः ॥ मनुस्मृति ८/२१

[236] अपश्यता कार्यवशाद्व्यवहारान्नृपेण तु । सभ्यैः सह नियोक्तव्यो ब्राह्मणः सर्वधर्मवित् ॥
दान्तं कुलीनं मध्यस्थमनुद्वेगकरं स्थिथरम् । परत्र भीरुं धर्मिष्ठमुद्युक्तं क्रोधवर्जितम् । याज्ञवल्क्यस्मृति २/३, मिताक्षरा कात्यायनस्मृति मत

[237] शुक्रनीति ४/५/१२-१३
दान्त: कुलीनो मध्यस्थो रागद्वेषविवर्जित: ॥ व्यास, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ. ६३
सह सभ्यैः स्थिरैर्युक्तैः प्राज्ञैर्मौलैर्द्विजोत्तमैः । धर्मशास्त्रार्थकुशलैरर्थशास्त्रविशारदैः ॥
कुलशीलवयोवृत्त- वित्तवद्भिरमत्सरैः । वणिग्भिः स्यात्कतिपयैः कुलभूतैरधिष्ठितम् ॥ कात्यायनस्मृति ४७-५८

व्यवहारपदों एवं इसके १०० उपभेदों, आन्विक्षिकी, वेद तथा स्मृतियों में भी पारंगता हासिल होनी चाहिए ।[238] आपस्तम्ब के अनुसार विवाद को जाननेवाला, कुलीन, वृद्ध, बुद्धिमान एवं धर्म का पालन करने वाले व्यक्ति को ही प्राड्विवाक् नियुक्त करना चाहिये ।[239] इससे यह स्पष्ट होता है कि न्यायाधीश पद के लिए उन्हीं विद्वान ब्राह्मणों को नियुक्त किया जाता था जो ये सब योग्यता रखते थे ।

स्मृतियों में राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीश को प्राड्विवाक कहा जाता था । प्राड्विवाक शब्द प्राड् और विवाक से मिलकर बना हैं, जिसमें प्राड् का शाब्दिक अर्थ है- प्रश्न पूछना और विवाक का अर्थ है- विचार करना । जो अर्थी-प्रत्यर्थी एवं साक्षियों से प्रश्न करता था और पूछे गए प्रश्नों के उत्तरों पर सभ्यों के साथ विचार करता था, वह प्राड्विवाक अर्थात् न्यायाधीश कहलाता था ।[240] नारद के अनुसार प्राड्विवाक उसे कहा जाता है जो विवादों में निहीत प्रश्नों को पूछता है तथा उस पर विवेचना करता है ।[241] विष्णु के अनुसार न्यायाधीश को कुछ भी बोलने से पूर्व स्निग्धता का भाव मुख पर रखना चाहिए ।[242]

बृहस्पति एवं शुक्रनीति के अनुसार न्यायाधीश के दो कार्य निम्नवत् है, जिनकी वजह से उसको प्राड्विवाक कहा जाता है[243]- १. वह अभियोग संबंध में संबंधी अर्थी प्रत्यर्थी एवं उनके साक्षियों से प्रश्न करता था । २. पूछे गए प्रश्नों के प्राप्त उत्तरों पर प्रतिप्रश्न करते हुए सभ्यों के साथ विचार कर निर्णय कार्य में सहायता करता था ।

नियुक्त प्राड्विवाक (न्यायाधीश) सभासदों के साथ मिलकर व्यवहार को देखता था । प्राड्विवाक में व्यवहार को देखने की क्षमता कुशल वैद्य के समान होनी चाहिये थी । जिस प्रकार कुशल वैद्य यंत्र शक्ति के द्वारा शरीर में घुसे कण्टकों को बड़ी प्रवीणता से निकाल देता हैं उसी प्रकार प्राड्विवाक को व्यवहार/विवाद में छिपे अधर्म या धोखे को बाहर निकाल देना चाहिए ताकि व्यवहार में न्याय हो सके ।[244] राजा को प्राड्विवाक के मतानुसार व्यवहार को देखना चाहिए ।[245]

---

238 अष्टादशपदाभिज्ञस्तदभेदादष्ट सहस्त्रवित् । आन्वीक्षिक्यादिकुशल: श्रुतिस्मृतिपरायण: ॥ नारदस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ.१४

239 विवादे विद्याभिजनसमपन्ना वृद्ध मेधाविनो धर्मेष्व विनिपातिन: ॥ आपस्तम्ब धर्मसूत्र २/११/२९/५

240 अर्थिप्रत्यर्थिनौ पृच्छतीति प्राट्, तयोर्वचनं विरुधमविरुधं च सभ्यै: सह विविनक्ति विवेचयति वेति विवाक: । प्राट् चासौ विवाकश्च प्राड्विवाक: । याज्ञवल्क्यस्मृति २/३ मिताक्षरा
नारदस्मृति १/३५

241 विवादसंश्रुतं धर्मं पृच्छति प्रकृतं मतम् । विवेचयति यस्तस्मात्प्राड्विवाकस्तु स स्मृत: ॥ नारदस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ. २९

242 विष्णुधर्मसूत्र ३/६३-६४

243 राजा कार्याणि संपश्येत्प्राड्विवाकोऽथ वा द्विज: ।न्यायाङ्गान्यग्रत: कृत्वा सभ्यशास्त्रमते स्थित: ॥ बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारकाण्ड १/६५
वादिनौ पृच्छति प्राड् वा विवाको विविनक्त्यत: । विचारयति सभ्यैर्वा धर्माधर्मान् विवक्ति वा ॥ शुक्रनीति ४/५/६६

244 यथा शल्यं भिषग्विद्वानुद्धरेद् यन्त्रशक्तित: । प्राड्विवाकस्तथा शल्यमुद्धरेद् व्यवहारत: ॥ नारदस्मृति ३/१६

245 धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थित:। समाहितमति: पश्येद् व्यवहाराननुक्रमात् ॥ नारदस्मृति १/३५

दुष्ट प्राड्विवाक को दण्ड - यदि कोई प्राड्विवाक राग, भय, लोभादि के वशीभूत स्मृति के विरुद्ध परामर्श देता था तो प्रत्येक प्राड्विवाक को उक्त विवाद में अपराधी के लिए निर्णीत दण्ड का द्विगुणा दण्ड दिया जाता था ।[246]

- **सभासद (नियुक्त)-**

व्यवहार कार्य में प्राड्विवाक (न्यायाधीश) के सहायक को सभासद/सभ्य कहा जाता था । व्यवहार कार्य से युक्त विचार सभा में धर्मशास्त्र के द्वारा धर्म को प्रतिष्ठित किया जाता था और धर्म का मूल राजा होता था । अतः राजा द्वारा नियुक्त सभासदों के सहयोग से विवाद का न्यायोचित निर्णय लिया जाना आवश्यक होता था ।[247] परन्तु न्यायोचित निर्णय के लिए सभ्यों को उसी प्रकार परीक्षण के उपरान्त नियुक्त किया जाता था जिस प्रकार भार वहन करने के लिए दृढ़ बैल का परीक्षापूर्वक चयन किया जाता है ।[248] मूलत: प्रधान न्यायाधीश की सहायता करने वाले सभासद् दो श्रेणी के होते थे – नियुक्त एवं अनियुक्त ।

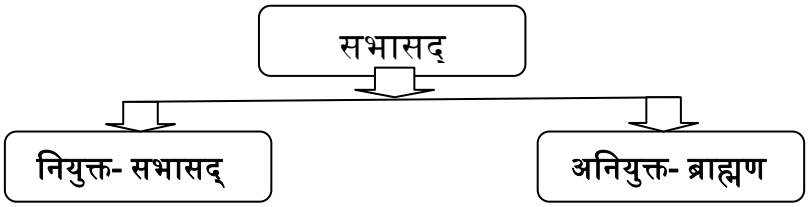

नियुक्त सभासद् वे होते थे जो न्यायकार्य के लिए राजा द्वारा नियुक्त किए जाते थे और अनियुक्त सभासद् वे होते थे जो बिना राजा की नियुक्ति के न्यायसभा में उपस्थित होते थे । याज्ञवल्क्य ने सभासद को नियुक्त और ब्राह्मण को अनियुक्त कहा है ।[249] अत: सभा में दो तरह के सभासद् होते थे- नियुक्त सभ्यगणों को राजा द्वारा नियुक्त किया जाता था तथा ब्राह्मण अनियुक्त होता था ।

- **सभासदों का कर्तव्य-**

नारद ने अनियुक्त सभासदों का व्यवहार प्रक्रिया में भाग लेना निषिद्ध किया[250] और कहा कि व्यवहार के सभी निर्णय नियुक्त सभ्यों के द्वारा ही लिये जाने चाहिये ।[251] अर्थात् अनियुक्तों को व्यवहार कार्य में बोलने या मत रखने का अधिकार नहीं होता था । नियुक्त सभासद् ही यथोचित

---

[246] रागाल्लोभाद्भयाद्वापि स्मृत्यपेतादिकारिणः । सभ्याः पृथक्पृथग्दण्ड्या विवादाद्विगुणं दमम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/४

[247] तत्प्रतिष्ठः स्मृतो धर्मो धर्ममूलश्च पार्थिवः । सह सद्भिरतो राजा व्यवहारान् विशोधयेत् ॥ नारदस्मृति ३/६

[248] राजा तु धार्मिकान् सभ्यान्नियुञ्ज्यात् सुपरीक्षितान् । व्यवहारधुरं वोढुं ये शक्ताः सद्वृषा इव ॥ नारदस्मृति ३/४

[249] तत्र ब्राह्मण अनियुक्ता: सभासदस्तु नियुक्ता इति भेद । याज्ञवल्क्यस्मृति २/२ मिताक्षरा

[250] नानियुक्तेन वक्तव्यं व्यवहारेषु किञ्चन । नियुक्तेन तु वक्तव्यमपक्षपतितं वच: ॥ नारदस्मृति, व्यवहारप्रकाश, पृ.२८

[251] कार्यस्य निर्णयं सम्यग्ज्ञात्वा सभ्यस्ततो वदेत् । कात्यायनस्मृति ८०

सभैरेव जितः पश्चाद्राज्ञा शास्यः स्वशास्त्रतः । जयिने चापि देयं स्याद्यथावज्जयपत्रकम् ॥ नारदस्मृति २/४३

बोलते थे । और यदि राजा द्वारा उस यथोचित से अन्यथा निर्णय लिया जाता था तब राजा को निर्णय करने से रोकने का कार्य भी नियुक्त सभ्यों के द्वारा किया जाता था, न कि अनियुक्त सभ्यों के द्वारा । क्योंकि राजा द्वारा अनुचित निर्णय लिये जाने पर नियुक्त सभ्यों को दोषी माना जाता था ।[252] यहां पर प्राचीन व्यवस्थाकारों ने विधि की सर्वोपरिता को प्राथमिकता दी ।

- **सभासदों की संख्या एवं योग्यता-**

नियुक्त सभासदों के रूप में तीन सभ्यों की नियुक्ति की जाती थी ।[253] किन्तु बृहस्पति ने इन सभ्यों की संख्या ७, ५ अथवा ३ मानी है ।[254] इस नियुक्ति में द्विज वर्ण को आधार बनाया जाता था अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को ही सभासद नियुक्त किया जाता था । मनु ने नास्तिक, शूद्र एवं द्विजों के अतिरिक्त अन्य को सभासद् बनने के योग्य ही नहीं माना ।[255] इन नियुक्त तीनों सभ्यों का अधिकार धर्मस्थीय में अमात्य के समान होता था ।[256] इस प्रकार सभासदों की संख्या निर्धारण का कारण शायद किसी विवाद के निर्णय में मतभेद होने पर बहुमत से निर्णय लिया जाना होगा और यह सभ्यों की संख्या में अधिकता "जूरी व्यवस्था" के महत्त्व को सिद्ध करती है ।

विवादों की निष्पक्षतापूर्ण स्थिति तक पहुंचने के लिए राजा एवं प्राड्विवाक के द्वारा सभासदों से परामर्श लिया जाता था ।[257] बिना सभासदों के परामर्श के निर्णय नहीं लिये जाने से इस पद की महत्ता सिद्ध हो जाती है । इस पद की महत्ता को ध्यान में रखते हुए धर्मशास्त्रकारों ने सभासदों के लिये योग्यताओं का भी निर्धारण किया और कहा- कि व्यवहारज्ञाता (धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र का ज्ञाता), बुद्धिमान्, चरित्रवान्, शत्रु-मित्र में समकारी स्वभाव रखने वाला, राग-द्वेष-काम-क्रोध से रहित, प्रियभाषी एवं द्विज आदि योग्यताओं से युक्त व्यक्ति को ही सभासद् नियुक्त किया जाना

---

[252] नियुक्तो वा अनियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति इति । तत्र नियुक्तानां यथावस्थितार्थकथनेऽपि यदि राजाऽन्यथा करोति तदाऽसौ निवारणीयोऽन्यथा दोषः । याज्ञवल्क्यस्मृति २/२ मिताक्षरा
नानियुक्तेन वक्तव्यं व्यवहारे कथञ्चन । नियुक्तेन तु वक्तव्यमपक्षपतितं वचः ॥ नारदस्मृति ३/१

[253] यस्मिन् देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः । राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान् ब्रह्मणस्तां सभां विदुः ॥ मनुस्मृति ८/११
सभ्यैः सह ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/३
सह सद्भिरतो राजा व्यवहारान् विशोधयेत् ॥ नारदस्मृति ३/५
अर्थशास्त्र ३/१
शुक्रनीति ४/५/२६
कात्यायनस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ. ५२

[254] लोकवेदाङ्गधर्मज्ञाः सप्त पञ्च त्रयोऽपि वा । यत्रोपविष्टा विप्राग्र्याः सा यज्ञसदृशी सभा ॥ बृहस्पतिस्मृति १/५९
सप्त पञ्च त्रयो वा सभासदो भवन्ति ॥ बृहस्पतिस्मृति १/६३

[255] यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् । तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ मनुस्मृति ८/९
यस्मिन् देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ।राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान् ब्रह्मणस्तां सभां विदुः ॥ मनुस्मृति ८/११
जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्ब्राह्मणब्रुवः । धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथं चन ॥
यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् । तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः ॥
यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम् । विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम् ॥ मनुस्मृति ८/२०-२२

[256] कौटिल्य ३/१

[257] शुक्रनीति ४/५/१०

चाहिए ।[258] शुक्रनीति के अनुसार सभा के हित साधक कार्यों में प्रवीण तथा सज्जन व्यक्ति को सभासद् नियुक्त करना चाहिये ।[259] इन नियुक्त सभासदों को निम्न योग्यताओं से युक्त होना चाहिए[260]- उन्हें वेदों का संपूर्ण ज्ञान हो, धर्मशास्त्र को जानने वाला हो, सर्वदा सत्यवचन का पालन करने वाला हो तथा शत्रु एवं मित्र में समान दृष्टि रखने वाला हो ।

गौतम के अनुसार हालांकि नियुक्त ब्राह्मण सभासद् को धर्मशास्त्रीय नियमों का सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है परन्तु जिन मामलों में धर्मशास्त्र का ज्ञान आवश्यक नहीं है या वे मामले जो कृषक, व्यापारी एवं आरण्यकवासियों से सम्बन्धित है वहां पर सभासद् भी इन्हीं के वर्ग/जाति का होना चाहिये ।[261]

- **सभा में सभासदों की भूमिका-**

नियुक्त एवं अनियुक्त दोनों ही सभासदों को निर्देश दिया जाता था कि यदि वे सभा में आते हैं तो उनके द्वारा सत्यार्थ का ही पालन किया जाना चाहिये, वरना उन्हें सभा में जाना ही नहीं चाहिये ।[262] मनु एवं नारद के अनुसार जो राजा सभा में उपस्थित होकर भी मौन रहता है या झूठ बोलता है तो वह पाप का भागी बनता है ।[263] जिस विचार सभा में धर्म, अधर्म के द्वारा एवं सत्य, असत्य के द्वारा नष्ट होता था उस सभा में अन्यायपूर्ण निर्णय सभासदों को नष्ट कर देता था ।[264] इसलिए निर्णय हेतु या तो सभा में सभासद को जाना ही नहीं चाहिए, अगर जाए तो उसे उचित निर्णय ही लिये जाने का विधान किया गया था ।[265] क्योंकि अन्याययुक्त निर्णय से अधर्म उत्पन्न होता था और उस अधर्म के चार जन भागीदार होते थे- १. अधर्मकर्ता, २. साक्षी, ३. सभ्य, ४.

---

[258] जन्मकर्मव्रतोपेताश्च राज्ञा सभासद: कार्यौ रिपौ मित्रे च ये समा: कामक्रोधभयलोभादिभि: कार्यार्थिभिरनाहार्या: । विष्णुधर्मसूत्र ३/७४
शुक्रनीति ४/५/१६-१७
अलुब्धा धनवन्तश्च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः । सर्वशास्त्रप्रवीणाश्च सभ्याः कार्या द्विजोत्तमाः ॥ कात्यायनस्मृति ७१

[259] सभायां ये हिता योग्या: सभ्यास्ते चापि साधव: । शुक्रनीति ४/५/६७

[260] धर्मशास्त्रार्थकुशलाः कुलीनाः सत्यवादिनः । समाः शत्रौ च मित्रे च नृपतेः स्युः सभासदः ॥ नारदस्मृति ३/५
श्रुताध्ययनसंपन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः । राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/२
सह सभ्यैः स्थिरैर्युक्तैः प्राज्ञैर्मौलैर्द्विजोत्तमैः । धर्मशास्त्रार्थकुशलैरर्थशास्त्रविशारदैः ॥ कात्यायनस्मृति ५७
विष्णुधर्मसूत्र ३/७४

[261] कर्षकवणिक्पशुपाल कुसीदिकारव: स्वे स्वे वर्गे प्रमाणम् ॥ गौतम धर्मसूत्र २/२/२१

[262] धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते । शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥ मनुस्मृति ८/१२
विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते । न चेद्विशल्यः क्रियते विद्धास्तत्र सभासदः ॥
सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम् । अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी ॥ नारदस्मृति ३/८-९

[263] यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च । हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ मनुस्मृति ८/१४
ये तु सभ्याः सभां गत्वा तूष्णीं ध्यायन्त आसते । यथाप्राप्तं न ब्रुवते सर्वे तेऽनृतवादिनः ॥ नारदस्मृति ३/१०

[264] यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च । हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥ नारदस्मृति ३/७

[265] नानियुक्तेन वक्तव्यं व्यवहारे कथञ्चन । नियुक्तेन तु वक्तव्यमपक्षपतितं वचः ॥ नारदस्मृति ३/१
कार्यस्य निर्णयं सम्यक् ज्ञात्वा सभ्यस्ततो वदेत् । अन्यथा नैवं वक्तव्यं वक्ता द्विगुणदण्डभाक् ॥ कात्यायनस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ.५०

राजा । शास्त्रोक्त ज्ञान से रहित विचारसभा में बिना शास्त्रज्ञों (सभ्यों) की सहायता के अज्ञान भाव से लिए गए निर्णय से उसी प्रकार कष्ट होता था जिस प्रकार अंधे द्वारा मछली खाने पर अनजाने में मछली के कांटों को खाने से गले में वेदना होती है ।[266] अतः सभ्यों द्वारा बिना किसी के पक्ष में वक्तव्य को उपस्थित किये निष्पक्ष भाव से शास्त्रानुसार स्वयं के वक्तव्य को रखना चाहिए ।[267] सभ्यों द्वारा अपना वक्तव्य/निर्णय राग-द्वेष से रहित होकर करना चाहिए, अन्यथा निर्णय करने पर सभ्यों को असभ्य मानते हुए निर्णीत विवाद के दण्ड का दोगुना दंड प्रत्येक सभ्यों को दिया जाता था ।[268] शुक्रनीति ने इस प्रकार से अन्यथा निर्णय लेने वाले सभ्यों को चोर के समान दण्डित किया है और उस लोभ आदि से भ्रष्ट होकर निर्णय लेने वाले भ्रष्ट सभ्यों को पदमुक्त के साथ आर्थिक दण्ड भी दिये जाने का निर्देश किया है ।[269] क्योंकि दोषयुक्त व्यवहार में सभ्यों को दण्ड दिया जाना उन्हें अनुचित निर्णय लेने से रोकना होता था ।

- **दुष्ट सभ्यों को दण्ड-**

धर्मशास्त्रकारों ने भ्रष्ट एवं दुष्ट सभासदों के लिए दण्डों का भी विधान किया । कौटिल्य ने समाहर्ता द्वारा नियुक्त गुप्तचरों की जांच से पाये जाने वाले भ्रष्ट धर्मस्थों एवं प्रदेष्टाओं के लिये अर्थदण्ड के साथ शारीरिक दण्ड का भी निर्देश किया है ।[270] यदि किसी सभ्य/प्राड्विवाक के द्वारा व्यवहार प्रक्रिया के मध्य में सम्बन्धित विवाद के वादी या प्रतिवादी से मिला जाता था या कोई बात भी की जाती थी तो सभ्य/प्राड्विवाक को दण्डित किया जाता था ।[271] कौटिल्य के अनुसार कण्टकशोधन अधिकरण के विवादों में जो न्यायाधीश वादी/ प्रतिवादी को धमकाता था या नेत्र विकार करके चुप कराता था या अपशब्द का प्रयोग करता था या निरर्थक प्रश्न पूछता था या निर्णय लेने में विलम्ब करता था या सुने हुए विवाद को पुन: सुनता था तो उसे अर्थदण्ड के साथ शारीरिक दण्ड भी दिया जाना चाहिये ।[272] जिस सभासद् के द्वारा मित्रता, लोभ, रिश्वत तथा भय के कारण स्मृति एवं लोकव्यवहार के विरुद्ध निर्णय लिया जाता था उस सभासद् को पराजित पक्ष के दण्ड के दुगुने दण्ड से दण्डित किया जाता था ।[273] इस प्रकार के भ्रष्ट सभ्यों को बृहस्पति एवं विष्णु ने राज्य निर्वासन एवं सम्पत्तिहरण का कठोर दण्ड दिया है ।[274]

---

[266] पादोऽधर्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति । पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति ॥ नारदस्मृति ३/१२
अन्धो मत्स्यानिवाश्नाति निरपेक्षः सकण्टकान् । परोक्षमर्थवैकल्याद्भाषते यः सभां गतः ॥ नारदस्मृति ३/१४

[267] अनियुक्तो नियुक्तो वा शास्त्रज्ञो वक्तुमर्हति । दैवीं स वाचं वदति य: शास्त्रमनुजीवति ।। नारदस्मृति ३/२

[268] रागादज्ञानतो वापि लोभाद्वा योऽन्यथा वदेत् । सभ्योऽसभ्यः स विज्ञेय: तं राजा विनयेन्नृप: ॥ नारदस्मृति १/६७
रागाल्लोभाद्भयाद्वापि स्मृत्यपेतादिकारिणः । सभ्याः पृथक्पृथग्दण्ड्या विवादाद्विगुणं दमम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/४
सभ्यदोषात्तु यन्नष्टं देयं सभ्येन तत्तदा । कार्यं तु कार्यिणामेव निश्चितं न विचालयेत् ॥ कात्यायनस्मृति ८१

[269] शुक्रनीति ४/५/६३-६४, २८२

[270] कौटिल्य ४/९, ४/४

[271] कात्यायन, व्यवहारमयूख, पृ.२६३, अपरार्क उद्धृत, पृ. ६०४

[272] कौटिल्य, कण्टकशोधन अधिकरण ४

[273] याज्ञवल्क्यस्मृति २/४

इससे यह प्रतीत होता है कि तात्कालिक समय में न्यायालय में उत्कोच (रिश्वत) प्रचलित था और ऐसे उत्कोच लेने वाले भ्रष्ट न्यायाधीशों को भी दण्डित किये जाने का विधान किया गया था। यह व्यवस्था जिसमें न्यायालय के भ्रष्ट न्यायाधीशों को दण्डित किया जाता था, उस समय में विधि की सर्वोच्चता को स्थापित करती है। बृहस्पति ने न्यायालय को धर्मवृक्ष माना है।[275]

2.5.3 स्थानीय न्यायालय-

तात्कालिक समय में न्यायालयों को सभा कहा जाता था। राजा एवं प्राड्विवाक के प्रधान न्यायालय के अतिरिक्त अनेक स्थानीय न्यायालय भी होते थे। जिन्हें व्यवहार प्रक्रिया का अंग माना जाता था और उनके द्वारा व्यवहारपदों या विवादों का निर्णय भी लिया जाता था। बृहस्पति ने प्रधान न्यायालय के अतिरिक्त चार प्रकार के अन्य स्थानीय न्यायालयों का उल्लेख किया- प्रतिष्ठिता, अप्रतिष्ठिता, मुद्रिता एवं शासिता। प्रतिष्ठिता- वह न्यायालय जो किसी निश्चित स्थान जैसे- पुर (नगर) में स्थित हो, अप्रतिष्ठिता- विभिन्न ग्रामों में समय की आवश्यकता के अनुसार स्थित होने वाला न्यायालय, मुद्रिता- राजमुद्रा का प्रयोग करने वाला न्यायालय एवं शासिता- राजा का न्यायालय। इसमें से पूर्व पर से श्रेष्ठ होता था।[276]

कौटिल्य के धर्मस्थीय न्यायालय में चार न्यायालयों- जनपदसन्धि, संग्रहण, द्रोणमुख एवं स्थानीय न्यायालय का उल्लेख किया है। इन न्यायालयों में ग्राम संख्या को आधार बनाया गया था अर्थात् जनपद सन्धि में दो जनपद, संग्रहण में दस ग्राम, द्रोणमुख में ४०० ग्राम तथा स्थानीय में ८०० ग्राम का समावेश किया गया था।[277] मनु ने न्यायालय के चार प्रकार माने है वे है- ग्रामिक, विशती (दसग्राम के अधिपति), शती (सौग्राम के अधिपति) एवं सहस्त्राधिपति। इन सभी न्यायाधिकारी को राजा द्वारा नियुक्त किया जाता था जिनमें ग्रामिक सबसे छोटा अधिकारी होता था। और यह व्यवस्था की गई थी कि यदि व्यवहार का निश्चय ग्रामिक न्यायालय में नहीं होता था तो उसे विशती में भेजा जाता था, विशती न्यायालय में भी व्यवहार का निर्णय नहीं हो पाने पर उसे

नारदस्मृति १/६७
स्नेहादज्ञानतो वापि लोभाद्वा मोहतोऽपि वा। तत्र सभ्योऽन्यथावादी दण्ड्योऽसभ्यः स्मृतो हि सः॥
कार्यस्य निर्णयं सम्यग्ज्ञात्वा सभ्यस्ततो वदेत्। अन्यथा नैव वक्तव्यं वक्ता द्विगुणदण्डभाक्॥ कात्यायनस्मृति ७९-८०

274 विष्णुधर्मसूत्र ५/१८०
अन्यायवादिनः सभ्यास्तथैवोत्कोचजीविनः। विश्वस्ते वञ्चकाश्चैव निर्वास्याः सर्व एव ते॥ बृहस्पतिस्मृति व्यवहारकाण्ड १/१०७

275 विप्रो धर्मद्रुमस्यादिः स्कन्धशाखे महीपतिः। सचिवाः पत्रपुष्पाणि फलं न्यायेन पालनम्॥ बृहस्पतिस्मृति १/४९

276 प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठा च मुद्रिता शासिता तथा। चतुर्विधा सभा प्रोक्ता सभ्याश्चैव तथाविधाः॥
प्रतिष्ठिता पुरे ग्रामें चला नामाप्रतिष्ठिता। मुद्रिता अध्यक्षसंयुक्ता राजयुक्ता च शासिता॥ बृहस्पतिस्मृति १/५७-५८

277 अष्टशतग्राम्या मध्ये स्थानीयम्, चतुःशतग्राम्या द्रोणमुखम्, द्विशतग्राम्याः कार्वटिकम्, दशग्रामीसंग्रहेण संग्रहं स्थापयेत्॥ कौटिल्य २/१

परवर्ती शती न्यायालय में, शती में भी निर्णय नहीं हो पाने के कारण उसे सहस्त्राधिपति में तथा सहस्त्राधिपति में भी न्याय न होने पर अंतिम न्यायालय राजा के पास भेजा जाता था ।[278]

याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन एवं बृहस्पति के तीन प्रकार के स्थानीय न्यायालयों का वर्णन किया है- कुल, श्रेणी एवं पूग । इनमें पूर्व न्यायालय में की गई अपील क्रमश: परवर्ती न्यायालय में जा सकती थी । ये स्थानीय न्यायालय थे[279]-

- **कुल-**

एक ही जाति या वंश के लोगों एवं बन्धुजनों के समूह को कुल कहा जाता था ।[280] इस न्यायालय में वे सामान्य विवाद आते थे जो आपसी बन्धुजनों के मध्य होते थे और इनका निर्णय भी अन्य श्रेष्ठ बन्धुजनों के द्वारा लिया जाता था ।[281] शुक्रनीति[282] के अनुसार जब विवाद एक ग्राम या व्यवसाय का होता है तब उस विवाद के निर्णय निर्धारण में ग्राम एवं व्यवसाय के लोगों की वस्तुस्थिति प्राय: सफल होती है, क्योंकि इनसे सम्बन्धी विवादों में मिथ्यारोपण की सम्भावना कठिन होती है । वर्तमान समय की पंचायतों के समान ही कुल न्यायालय की व्यवस्था की गई थी जो कुल सम्बन्धी छोटे एवं महत्वहीन विवादों का निपटारा करती थी और कभी-कभी मामूली सजा भी सुना देती थी ।

- **श्रेणी-**

नाना जातियों के या एक जाति के वे लोग जो किसी एक कर्म/वृत्ति से आजीविका चलाते थे तो उस समुदाय को श्रेणी कहा जाता था । जैसे- घोड़ों का क्रय-विक्रय करने वाले, चर्मकार, जुलाहा आदि का समूह ।[283] इस श्रेणी न्यायालय में समान वृत्ति करने वाले लोगों के मध्य उत्पन्न हुए विवादों का निर्णय उसी वृत्ति विशेष से संबंध रखने वाले लोगों द्वारा किया जाता था, क्योंकि वे लोग उस वृत्ति के उचित-अनुचित को भलीभांति जानते थे । बृहस्पति के अनुसार श्रेणी संगठन एक प्रबन्धकारी समिति होती है जिसमें ५, ३, या २ सदस्य हो सकते हैं, इस समिति का एक प्रधान प्रबन्धकारी भी होता है जो संगठन के नियमों के उल्लंघनकर्ता को दण्डित करने का विशेषाधिकार

---

278 ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा । विंशतीशं शतेशं च सहस्त्रपतिमेव च ॥ मनुस्मृति ७/११५
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् । शंसेद्ग्रामशतेशस्तु सहस्त्रपतये स्वयम् ॥ मनुस्मृति ७/११७

279 कुलानि श्रेणयश्चैव गणाश्चाधिकृतो नृपः । प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेभ्यस्तूत्तरोत्तरम् ॥ नारदस्मृति १/७
नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च । पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/३०
कुलानि श्रेणयश्चैव गणास्त्वधिकृतो नृपः । प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेभ्यस्तूत्तरोत्तरम् ॥ बृहस्पतिस्मृति १/७५
पूगश्रेणिगणादीनां या स्थितिः परिकीर्तिता । तस्यास्तु साधनं लेख्यं न दिव्यं न च साक्षिणः ॥ कात्यायनस्मृति २२५

280 कुलानि ज्ञातिसंबन्धिबन्धूनां समूहा: । याज्ञवल्क्यस्मृति २/३० मिताक्षरा

281 व्यवहारप्रकाश, पृ.२९

282 शुक्रनीति ५/४/२४

283 श्रेणयो नानाजातीनामेकजातीयकर्मोपजीविनां संघाता । यथा हेडाबुकादीनां ताम्बूलिक – कुविन्द – चर्मकारादीनां च । याज्ञवल्क्यस्मृति २/३० मिताक्षरा

भी रखता है। यदि इस प्रधान के द्वारा अपनी श्रेणी के अन्य लोगों के प्रति नियम प्रतिकूल व्यवहार किया जाता था तब राजा को इसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार भी प्राप्त था।[284] नारद ने स्थानीय न्यायालय में द्वितीय स्थान श्रेणी न्यायालय को दिया है।[285]

- **पूग-**

पूग समूह का बोधक होता था। याज्ञवल्क्य एवं बृहस्पति ने पूग के लिए 'गण' शब्द का प्रयोग किया है।[286] कात्यायन ने पूग को व्यापारियों का संघ कहा है।[287] एक ही स्थान पर निवास करने वाले विभिन्न जातियों के विभिन्न वृत्तियों के लोगों से निर्मित समूह को पूग कहा जाता था। जैसे- नगर, ग्राम आदि।[288] जब विवाद किसी ग्राम सीमा या नगर सीमा के अंतर्गत होता था तब उसका निर्णय उस ग्राम के प्रधान के द्वारा लिया जाता था।

- **राजा-**

राजा पुगादि न्यायालयों से श्रेष्ठ होता था, इसके द्वारा निर्णय प्राप्त व्यवहार को स्थिति विशेष में ही पुनः देखा जा सकता था।[289]

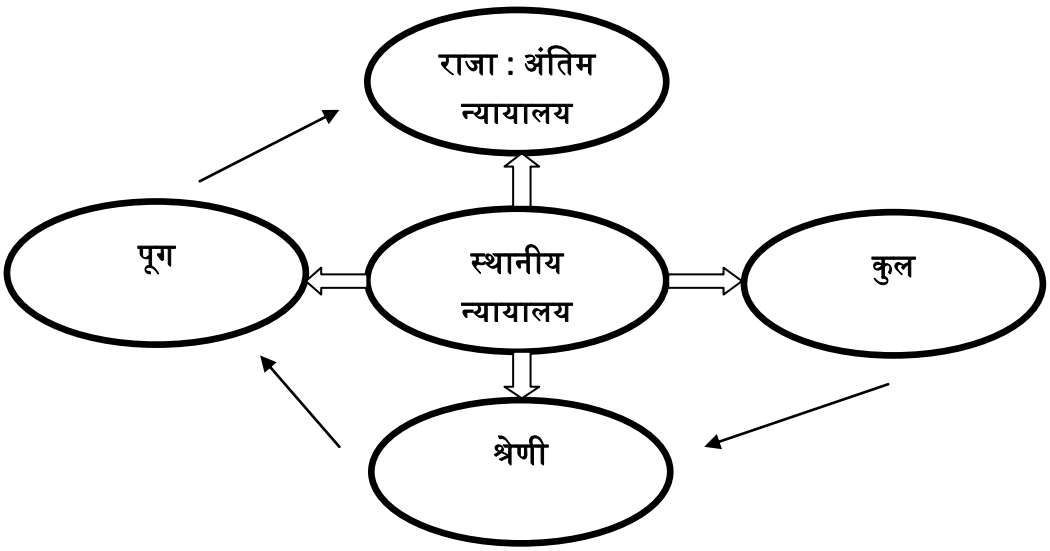

[284] द्वौ त्रयः पञ्च वा कार्याः समूहहितवादिनः। कर्तव्यं वचनं तेषां ग्रामश्रेणिगणादिभिः॥ बृहस्पतिस्मृति १७/१०
तैः कृतं च स्वधर्मेण निग्रहानुग्रहं नृणाम्। तद्राज्ञोऽप्यनुमन्तव्यं निसृष्टार्था हि ते स्मृताः॥ बृहस्पतिस्मृति १७/१८

[285] नारदस्मृति १/७

[286] याज्ञवल्क्यस्मृति २/३०,
बृहस्पतिस्मृति १/२८

[287] गणपाषण्डपूगाश्च व्राताश्च श्रेणयस्तथा। समूहस्थाश्च ये चान्ये वर्गाख्यास्ते बृहस्पतिः॥ कात्यायनस्मृति ६८२

[288] भिन्नजातीनां भिन्नवृत्तीनाम् एकस्थाननिवासिनां यथा- ग्रामनगरादयः। याज्ञवल्क्यस्मृति २/३० मिताक्षरा

[289] नृणां व्यवहर्तृणां व्यवहारविधौ व्यवहारदर्शनकार्ये। याज्ञवल्क्यस्मृति २/३० मिताक्षरा

इस प्रकार से स्थानीय न्यायालयों के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि उस समय में न्यायिक व्यवस्था में बहुस्तरीय विकेन्द्रीयकरण था। जिसके कारण विवादों को उनके स्तर पर ही सुलझाने का प्रयास किया जाता था और यदि इन विवादों का निस्तारण उस स्तर पर नहीं हो पाता था तो उस विवाद को अग्रिम न्यायालय में स्थानान्तरित कर दिया जाता था। यह क्रम तब तक चलता रहता था जब तक विवाद न्यायपूर्ण निर्णय की स्थिति में नहीं पहुंच जाता था अर्थात् कुल, श्रेणी एवं पूग में से कुल न्यायालय में विवादित विषय का निर्णय न होने पर विचारार्थ श्रेणी न्यायालय में भेजा जाता था, श्रेणी न्यायालय में भी निर्णय न होने पर पूग न्यायालय में प्रेषित किया जाता था, पूग न्यायालय के अनिर्णीत विवादित विषय को सभ्यों से युक्त अंतिम न्यायालय राजा के पास भेजा जाता था।[290] इसी क्रम का पालन विवादित विषयों में किया जाता था, कोई भी विवाद इस क्रम का उल्लंघन नहीं कर सकता था।[291] उसे इस ही क्रम में अग्रिम न्यायालय में प्रेषित किया जाता था। अर्थात् पूग न्यायालय से जिस व्यवहार का निर्णय हो चुका हो उस व्यवहार को पुनः निर्णय के लिए श्रेणी या कुल न्यायालय में भेजा नहीं जा सकता था। इसी प्रकार श्रेणी न्यायालय के निर्णय प्राप्त व्यवहारों को कुल न्यायालय में भेजा नहीं जा सकता था।[292] मूलतः इन न्यायालयों की नियुक्ति राजा द्वारा ही व्यवहार दर्शन के लिए की जाती थी। पर इन सबमें राजा का न्यायालय सबसे गुरु होता था और ये न्यायालय कथित क्रम में उत्तरोत्तर बलवान् होते थे।[293] इसलिए पितामह ने कहा है कि यदि कुलादि न्यायालयों से सन्तुष्टि न हो तो राजसभा (राजा का न्यायालय) में आवेदन कर सन्तुष्टि की प्राप्ति करनी चाहिए।[294]

2.6 चतुष्पाद-व्यवहार-

व्यवहारपदों के निष्पक्षतापूर्ण न्याय सम्पादन के लिए एक व्यवहार प्रक्रिया होती थी। इस व्यवहार प्रक्रिया के चार चरण या अवस्थाएं होती थी जिन्हें 'पाद' कहा गया जाता था। नारद, बृहस्पति एवं कौटिल्य ने व्यवहार के चार चरण माने हैं- धर्म, व्यवहार, चरित्र एवं राजशासन।[295] परन्तु याज्ञवल्क्य, कात्यायन एवं शुक्र का मत इनसे भिन्न है। याज्ञवल्क्य ने भाषा, उत्तर, क्रिया एवं

---

290 नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च। पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम्॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/३०
कुलश्रेणिगणाध्यक्षाः प्रोक्ता निर्णयकारकाः। विचार्य श्रेणिभिः कार्यं कुलैर्यन्न विचारितम्॥
गणैश्च श्रेण्यविज्ञातं गणाज्ञातं नियुक्तकैः। कुलादिभ्योऽधिकाः सभ्यास्तेभ्योऽध्यक्षः स्मृतोऽधिकः॥
सर्वेषामधिको राजा धर्मं यत्नेन निश्चितम्। उत्तमाधममध्यानां विवादानां विचारणात्॥ बृहस्पतिस्मृति १/९३-९५
शुक्रनीति ४/५/३१

291 धर्मकोश १, पृ. ४१

292 नृपाधिकृतैनिर्णीते व्यवहारे पराजितस्य यद्यप्यसंतोष कुदृष्टिबुद्धया भवति तथापि न पूगादिषु पुनर्व्यवहारों भवति। एवं पूगानिर्णीतेऽपि तु श्रेण्यादिगमनं। तथा श्रेणिनिर्णीते कुलगमनं न भवति। याज्ञवल्क्यस्मृति २/३० मिताक्षरा

293 एतेषां नृपाधिकृतादीनां चतुर्णा पूर्वं पूर्वं यद्यत्पूर्वं पठितं तत्तद्गुरु बलवज्ज्ञेयं वेदितव्यम्। याज्ञवल्क्यस्मृति २/३० मिताक्षरा

294 पितामह, व्यवहारनिर्णय, पृ. १५

295 धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्। विवादार्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः॥ कौटिल्य ४.१
धर्मेण व्यवहारेण चारित्रेण नृपाज्ञया। चतुष्प्रकारोऽभिहितः संदिग्धेऽर्थे विनिर्णयः॥ बृहस्पतिस्मृति १/१८

साध्यसिद्धि को, कात्यायन[296] ने पूर्वपक्ष, उत्तर, प्रत्याकलित एवं क्रिया को तथा शुक्रनीति[297] ने पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, क्रिया एवं निर्णय को व्यवहार के चतुष्पाद माना है। पी. वी. काणे ने इन चार स्थितियों को गौण रूप में व्यवहार के चतुष्पाद माना है।[298]

सामान्यत: ये चतुष्पाद थे- भाषापाद, उत्तरपाद, क्रियापाद तथा निर्णयपाद। प्रथम चरण, भाषापाद के अंतर्गत वादी द्वारा प्रतिवादी पर लगाए गए अभियोग के भाषण को प्राड्विवाक और प्रतिवादी के सम्मुख लिखित रूप दिया जाता था। भाषापाद को प्रतिज्ञा या आवेदन भी कहा जाता था। द्वितीय चरण, उत्तरपाद के अंतर्गत प्रतिवादी द्वारा स्वयं पर आरोपित विवाद से मुक्त्यर्थ प्रत्युत्तर दिया जाता था। तृतीय चरण, क्रियापाद में विवाद के संबंध में प्रमाणों को उपस्थित किया जाता था तथा उपस्थित प्रमाणों पर सभ्यों द्वारा विचार विमर्श किया जाता था। अंतिम चरण, निर्णयपाद के अंतर्गत उपस्थित प्रमाणों के द्वारा विवाद का निर्णय लिया जाता था।[299]

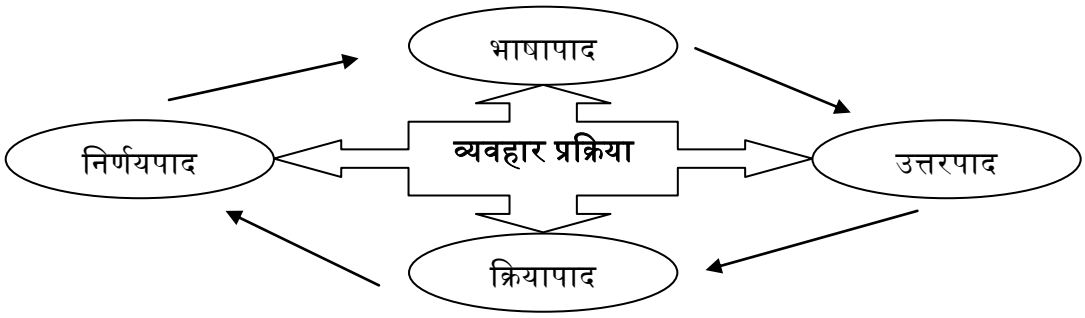

नारद ने भाषापाद को पूर्वपाद मानते हुए निम्न चतुष्पाद माने हैं- पूर्व, उत्तर, क्रिया तथा निर्णय। जिसमें पहले आगम अर्थात् लिखित प्रक्रिया को लिया जाता था उसके अनन्तर ही व्यवहार का प्रारंभ होता था। तदनन्तर चिकित्सा या क्रिया और अंत में निर्णय के माध्यम से व्यवहार प्रक्रिया को संपन्न किया गया था।[300]

---

[296] पूर्वपक्षश्चोत्तरं च प्रत्याकलितमेव च। क्रियापादश्च तेनायं चतुष्पात्समुदाहृतः॥ कात्यायनस्मृति ३१

[297] शुक्रनीति ४/५/१५३

[298] पी. वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ ७१३

[299] श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्वावेदकसंनिधौ। ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/७

[300] आगमः प्रथमं कार्यो व्यवहारपदं ततः। विकित्सा निर्णयश्चैव दर्शनं स्याच्चतुर्विधम्॥ नारदस्मृति १/३७
श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्वावेदकसंनिधौ। ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्॥
तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति विपरीतमतोऽन्यथा। चतुष्पाद्व्यवहारोऽयं विवादेषूपदर्शितः॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/७-८

अन्य स्मृतिकारों जैसे बृहस्पति, कात्यायन ने **प्रत्याकलित** नामक अन्य पाद को व्यवहार के पांचवें अंश या पाद के रूप में स्वीकार किया हैं।[301] प्रत्याकलित एक प्रकार का परामर्श होता था जिसका प्रयोग सभ्यों द्वारा उत्तरपाद के बाद अर्थी और प्रत्यर्थी में से किसका विचार पहले किया जाए, में किया जाता था। प्रत्याकलित को स्वतंत्र पाद मानने पर इसका स्थान उत्तरपाद के बाद तीसरा, चौथा क्रिया का तथा अंतिम निर्णय पाद का होने से व्यवहार के पांच पाद माने जा सकते हैं। किन्तु मिताक्षरा ने प्रत्याकलित को व्यवहार का अंश (पाद) नहीं माना, क्योंकि व्यवहार पादों का संबंध व्यवहारकर्ता अर्थात् अर्थी या प्रत्यर्थी के साथ होना चाहिए। लेकिन प्रत्याकलित का संबंध व्यवहारकर्ता के साथ न होकर सभ्यों के साथ होता है।[302] नारद ने भी प्रत्याकलित को स्वतंत्रपाद न मानकर इसे उत्तरपाद के अंतर्गत ही सम्मिलित किया है, क्योंकि प्रत्याकलित वादी या प्रतिवादी के पत्र में किये जाने वाला परिवर्द्धन मात्रा है।[303]

2.6.1 प्रथम चरण- भाषापाद

व्यवहार का प्रारम्भ भाषापाद से होता था। भाषापाद में स्मृति (धर्मशास्त्र) एवं आचार के विरुद्ध आचरण से पीड़ित व्यक्ति (वादी) द्वारा प्राड्विवाक या राजा के सम्मुख आवेदन किया जाता था। इस आवेदन के विषय को ही व्यवहारपद कहा जाता था।[304] अतः व्यवहार का आरंभ आवेदन अथवा भाषा अथवा प्रतिज्ञा से होता था। शुक्रनीति ने आवेदन एवं भाषापक्ष में प्रक्रियागत अंतर माना है, आवेदन वह होता है जिसमें वादी सर्वप्रथम अपनी समस्या को राजा के सम्मुख रखता है तथा भाषापक्ष वह होता है जिसमें वादी प्राड्विवाक आदि न्यायकर्ताओं के सम्मुख अपने मत को रखता है। नारद ने इस प्रतिज्ञा को संपूर्ण व्यवहार प्रक्रिया का सार (आधार) कहा है।[305] भाषापाद के कई उपनाम भी है जैसे- भाषापाद, प्रतिज्ञा, आवेदन, पूर्वपक्ष आदि। इस भाषापाद में निम्न प्रक्रिया होती थी-

---

[301] पूर्वपक्षश्चोत्तरं च प्रत्याकलितमेव च। क्रियापादश्च तेनायं चतुष्पात्समुदाहृतः॥ कात्यायनस्मृति ३१
वादिभ्यां लिखिताच्छेषं यत्पुनर्वादिनास्मृतम्। तत्प्रत्याकलितं नाम स्वपादे तस्य लिख्यते॥ बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश,व्यवहारकाण्ड, पृ. १७

[302] उत्तराभिधानाननतरं सभ्यानामर्थिप्रत्यर्थिनो: कस्य क्रिया स्यादिति परमर्शलक्षणस्य प्रत्याकलितस्य योगीश्वरेण व्यवहारपादत्वेनानभिधानाद् व्यवहर्तु: संबन्धाभावाच्च न व्यवहारपादत्वमिति स्थितम्। याज्ञवल्क्यस्मृति २/८ मिताक्षरा

[303] वादिभ्यां लिखिताच्छेषं यत्पुनर्वादिना स्मृतम्। तत्प्रत्याकलितं नाम स्वपादे तस्य लिख्यते॥ नारदस्मृति २/२१

[304] स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाधर्षितः परैः। आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत्॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/५

[305] सारस्तु व्यवहाराणां प्रतिज्ञा समुदाहृता। तद्धानौ हीयते वादी तरंस्तामुत्तरो भवेत्॥ नारदस्मृति १/६

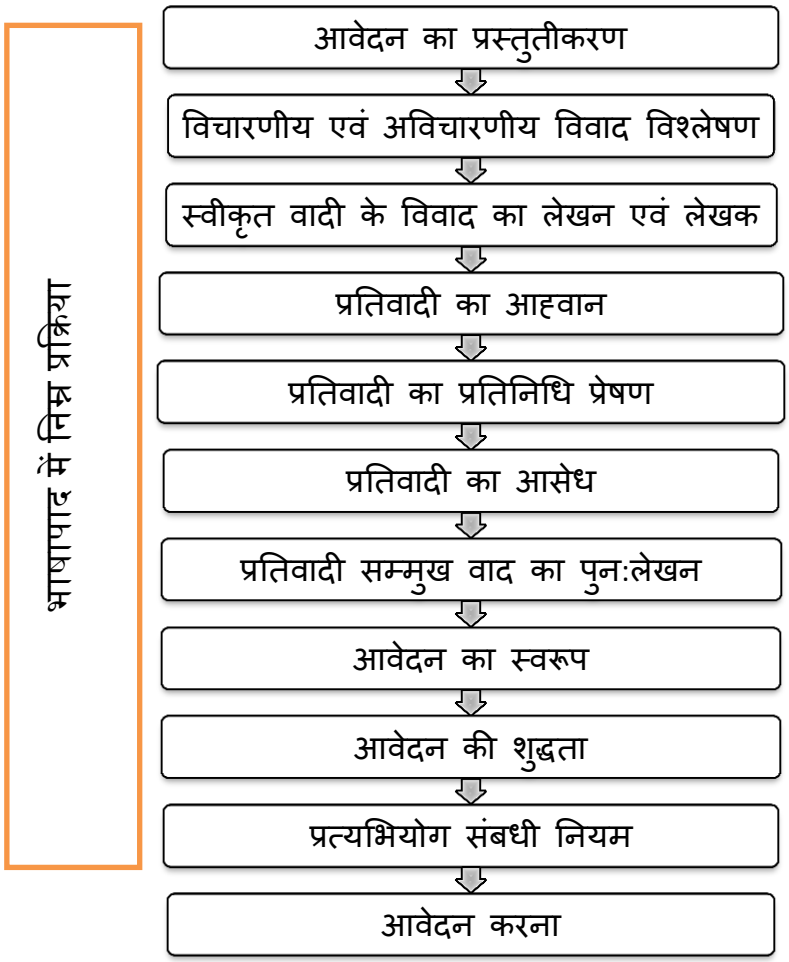

- **आवेदन का प्रस्तुतीकरण-**

गौतम के अनुसार वादी द्वारा न्यायालय में उपस्थित होकर राजा या राजाधिकारी के सम्मुख विनम्रता से प्रार्थना/आवेदन करना चाहिए।[306] यह आवेदन वादी द्वारा स्वप्रयोजन से प्रेरित होकर किया जाता था, न कि राजपुरुष या राजा से प्रेरित होकर।[307] हालांकि धर्मशास्त्रकारों ने राजा को किसी भी विवाद में पक्षकार न बनने/होने का निर्देश किया है। मनु के अनुसार राजा या राजपुरूष द्वारा नियुक्त प्राड्विवाक किसी भी विवाद में लोभ के कारण न तो पक्षकार बन सकते हैं और न ही न्यायिक कार्यवाही में लापरवाही कर सकते हैं।[308]

परन्तु कुछ ऐसे विवाद भी थे जिनमें राजा हस्तक्षेप करते हुए पक्षकार भी बन सकता था। शुक्र के अनुसार यदि राजा ५० प्रकार के छलों, १० प्रकार के अपराधों तथा १२ प्रकार के पदों में से किसी

---

306 प्राड्विवाकमध्याभवेत्। गौतमधर्मसूत्र २/४/२७

307 सुनिश्चितबलाधानस्त्वर्थी स्वार्थप्रचोदितः। लेखयेत्पूर्वपक्षं तु कृतकार्यविनिश्चयः॥ नारदस्मृति २/१
आवेदयति चेद्राज्ञे इत्यनेन स्वयमेवागत्यावेदयति, न राजप्रेरितस्तत्पुरुषप्रेरितो वेति दर्शयति। याज्ञवल्क्यस्मृति २/५ मिताक्षरा

308 नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पुरुषः। न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथं चन॥ मनुस्मृति ८/४३
शुक्रनीति ४/५/६९

के भी बारे में अपने जासूसों या मुखबिरों से सूचना प्राप्त कर लेता है तो वह इन संबंधित विवादों में सीधे न्यायिक कार्यवाही प्रांरभ कर सकता है और इन स्थितियों में पक्षकार भी बन सकता है ।[309] इसी प्रकार राजा हत्या, साहस एवं राजद्रोह जैसे विवादों में भी स्वप्रेरणा से हस्तक्षेप कर सकता था । कौटिल्य ने राजा को किसी विवाद की सूचना प्राप्त होने पर उस विवाद का पक्षकार होने के साथ ही यह भी माना है कि देव-ब्राह्मण, तपस्वी, बालक, स्त्री, वृद्ध, करुण, रुग्ण एवं अनाथजनों से सम्बन्धित विवादों में राजा इनकी ओर से स्वयं आवेदन कर सकता है ।[310] क्योंकि ये उपरोक्त जन किसी विवाद के होने पर या किसी के द्वारा पीडित किये जाने पर स्वयं विवादार्थ आवेदन करने के लिए उपस्थित नहीं हो सकते थे । अत: राजा का किसी विवाद में पक्षकार बनना उस विवाद की सूचना प्राप्ति पर निर्भर करता था । लेकिन राजा द्वारा उन्हीं सूचनाओं को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता था जो लोकोपकार से जुडी होती थी । क्योंकि राजा का मुख्य कार्य ही जनकल्याण होता था ।

सामान्यत: धर्मशास्त्रकारों ने राजा को किसी विवाद का पक्षकार न बनने का निर्देश किया है । अत: पीडित वादी द्वारा स्वप्रेरणा से ही राजा के सम्मुख आवेदन किया जाता था । यह प्राचीन विधि वर्तमान के "सुनवाई के अधिकार" सिद्धान्त के समान है ।

लेकिन जब स्वप्रेरणा से वादी द्वारा राजा के सम्मुख आवेदन किया जाता था तब राजा द्वारा आवेदन करने वाले वादी से अनेक प्रश्न पूछे जाते थे । राजा प्रश्न करता था कि- हे मानव ! तुम्हें क्या काम है? तुम्हें कौन सा दुख है? तुम्हें कोई डर तो नहीं है? तुम निडर होकर अपनी सभी बातों को कहो कि तुम्हारा किसके साथ विवाद है (केन)?, किस विषय में विवाद है (कस्मिन्)?, किस समय से विवाद है (कदा)?, किस व्यक्ति के साथ विवाद है (कस्मात्)? । ये चार प्रश्न (केन, कस्मिन्, कदा, कस्मात्) राजा द्वारा वादी से पूछे जाते थे ।[311] इन प्रश्नों को पूछने का कारण आवेदनकर्ता को सहज महसूस कराना होता था । इन प्रश्नों के प्रत्युत्तर में वादी द्वारा जो कुछ भी कहा जाता था उस पर राजा अन्य सभासदों के साथ मिलकर विचार करता था ।[312]

इन चारों प्रश्नों के प्रत्युत्तर स्वरूप वादी द्वारा जो कुछ भी कहा जाता था उस पर सभ्यों द्वारा परस्पर विचार-विमर्श किया जाता था, अगर अर्थी (वादी) का आवेदित विषय न्याय करने योग्य

---

309 शुक्रनीति ४/५/७०

310 कौटिल्य २/१

311 काले कार्यार्थिनं पृच्छेत्प्रणतं पुरतः स्थितम् । किं कार्यं का च ते पीडा मा भैषीर्ब्रूहि मानव ॥
केन कस्मिन् कदा कस्मात्पृच्छेदेवं सभागतः । एवं पृष्टः स यद्ब्रूयात्तत्सभ्यैर्ब्राह्मणः सहः ॥ कात्यायनस्मृति ८६-८७

312 याज्ञवल्क्यस्मृति २/५ मिताक्षरा

ज्ञात होता था तो प्रत्यर्थी को मोहर देकर या किसी व्यक्ति को भेजकर आह्वान किया जाता था ।[313]

- **विचारणीय एवं अविचारणीय विवाद विश्लेषण-**

राजा एवं अन्य सभासद् के द्वारा वादी के अभियोग की महत्ता को, स्वयं वादी द्वारा राजा के पूछे गये प्रश्नों पर दिये गये उत्तर के आधार पर विश्लेषित किया जाता था । इसके साथ ही वादी की आचरणगत गतिविधियों का भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाता था । क्योंकि वादी का आचरण उसकी ह्रदयगत भावनाओं से प्रेरित होता है, जिसके कारण उसके शरीर के अंगों (नेत्र,मुख) में अकस्मात् विकार उत्पन्न हो जाता है ।[314] याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार के शारीरिक विकारों को कूट जनों का लक्षण माना है । ये कूट लक्षण हैं[315]- १. दोष के बिना भी अस्वस्थ की तरह व्यवहार करना, २. एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना, ३. बनावटी खांसना, ४. जोर से सांस छोड़ना, ५. पैरों से भूमि को खोदना, ६. बिना कारण बाहु एवं वस्त्र को हिलाना, ७. चेहरे का रंग फीका पड़ जाना, ८. ललाट पर पसीने आ जाना, ९. कण्ठ सूख जाना, १०. इधर-ऊधर तिर्यक् भाव से देखना, ११. अल्प प्रश्न पर ज्यादा बोलना ।

परन्तु इस प्रकार के कूट लक्षणों के आधार पर किसी वादी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए यह भी जानने का प्रयास किया जाता था कि कहीं वादी के ये आचरणगत कूट लक्षण न्यायालय में पहली बार उपस्थिति होने से उत्पन्न होने वाले भय के कारण तो नहीं है? क्योंकि इन कूट लक्षणों से वादी का आवेदन हानि को प्राप्त करता था । यदि ये कूट लक्षण भय के कारण उत्पन्न होते थे तब वादी के आवेदित विषय की यथार्थता एवं अयथार्थता का पता लगाया जाता था । यदि आवेदन की यथार्थता एवं अयथार्थता के विश्लेषण के उपरान्त सभासद् आदि न्यायिक अधिकारियों को आवेदित विषय वादयोग्य लगता था, तो उस पर अग्रिम न्यायिक कार्यवाही प्रांरभ की जाती थी । अन्यथा आवेदित विषय के वादयोग्य न होने पर समस्त कार्यवाही वही समाप्त हो जाती थी ।[316]

---

[313] यथा काले कार्यार्थिनं पृच्छेद्गृणन्तं पुरतः स्थितम् । किं कार्यं का च ते पीडा मा भैषीर्ब्रूहि मानव ॥ केन कस्मिन् कदा कस्मात्पृच्छेदेवं सभागतम् । एवं पृष्टः स यद्ब्रूयात् स सभ्यैर्ब्राह्मणैः सह ॥ विमृश्य कार्यं न्याय्यं चेदाह्वानार्थमतः परम् । मुद्रा वा निक्षिपेत्तस्मिन्पुरुषं वा समादिशेत् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/५ मिताक्षरा

[314] बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् । स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥
आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ मनुस्मृति ८/२५-२६

[315] देशाद्देशान्तरं याति सृक्किणी परिलेढि च । ललाटं स्विद्यते चास्य मुखं वैवर्ण्यमेति च ॥
परिशुष्यत्स्खलद्वाक्यो विरुद्धं बहु भाषिते । वाक्चक्षुः पूजयति नो तथौष्ठौ निर्भुजत्यपि ॥
स्वभावाद्विकृतिं गच्छेन्मनोवाक्कायकर्मभिः । अभियोगेऽथ साक्ष्ये वा दुष्टः स परिकीर्तितः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/१३-१५

[316] शुक्रनीति ४/५/९१

➢ **अग्रहणीय विवाद –**

कुछ आवेदित विषय ऐसे भी होते थे जिन्हें व्यवहार में उपस्थित होने पर स्वीकार नहीं किया जाता था अर्थात् अग्रहणीय विवाद । शायद इसका उद्देश्य यह हो सकता था कि इस तरह के अग्रहणीयविवादों की छंटनी से न्याययोग्य अवशिष्ट विवादों पर ज्यादा ध्यान दिया जा सके ।

याज्ञवल्क्य ने उन अभियोग को अग्रहणीय माना जाता है जिन्हें किसी मत्त, उन्मत्त, आर्त्त, व्यसनी आदि पक्ष के द्वारा या किसी के भय से प्रेरित होकर आवेदित किया जाता था ।[317] नारद ने गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, स्वामि-सेवक, एक का बहुतों से विवाद, स्त्री तथा दास से सम्बन्धित आवेदन को अग्रहणीय/अविचारणीय विवाद माना है ।[318] इन गुरु-शिष्य आदि विवादों पर पी.वी. काणे का मत है कि ऐसा नहीं है कि इनमें विवाद नहीं होते थे, विवाद तो होते थे पर इन विवादों को न्यायालय द्वारा टाला जाता था । लेकिन जब ये विवाद टल नहीं पाते थे तब ही इन विवादों को निर्णयार्थ न्यायालय में उपस्थित किया जाता था ।[319] इन विवादों में पति-पत्नि सम्बन्धी विवादों की साम्यता वर्तमान के हिन्दु विवाह अधिनियम 1955 की धारा २३ (२) से की जा सकती है ।

कात्यायन[320] के अनुसार जो अभियोग ही अप्रसिद्ध, निरर्थक, निष्प्रयोजन तथा असाध्य हो तो उन अभियोगों को राजा आदि न्यायिक अधिकारियों के द्वारा स्वीकार ही नहीं किया जाना चाहिये । (अप्रसिद्ध- जिसे न कभी देखा गया हो, न कभी सुना गया हो । जैसे गूंगे ने गाली दी । निष्प्रयोजन- जिसमें कोई तर्कसंगत कारण ही न हो । जैसे- वह अपने घर में उच्च स्वर में गा रहा है । निरर्थक- अर्थहीन । जैसे- बन्ध्या स्त्री गर्भ ग्रहण क्यों नहीं करती । असाध्य- जिसकी कभी सिद्धि ही न हो । जैसे- मरा हुआ आदमी बोलता क्यों नहीं है?) तथा राजा द्वारा विसर्जित, पौर-राष्ट्र-जनपद-ग्राम-महाजन आदि के विरुद्ध अभियोगों को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिये ।[321]

इस प्रकार धर्मशास्त्रकारों ने अग्रहणीयविवादों में उन विषयों को अविचारणीय माना था जिनका सम्बन्ध या तो पारिवारिकजनों के मध्य हुए सामान्य विवादों से होता था या उन विवादों को जिन्हें किसी ओर की प्रेरणा से आवेदित किया जाता था या वे विवाद जो अठादश विवादों की सूची में ही समाविष्ट नहीं हो पाते थे । बृहस्पति के अनुसार राजा को ऐसे विवाद जो निरर्थक हो या जिनमें क्षति की मात्रा अत्यल्प हो तो उनको व्यवहारप्रक्रिया में स्वीकार ही नहीं करना चाहिये ।[322] ऐसे

---

[317] मत्तोन्मत्तार्तव्यसनि- बालभीतादियोजितः । असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिध्यति ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/३२

[318] गुरु शिष्यौ पिता-पुत्रौ दम्पती स्वामी भृत्यकौ । एतेषां समवेतानां व्यवहारो न विद्यते ॥ नारद

[319] धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-३, पृ.७२७-७२८

[320] अप्रसिद्धं निराबाधं निरर्थं निष्प्रयोजनम् । असाध्यं वा विरुद्धं वा पक्षाभासं विवर्जयेत् ॥ कात्यायनस्मृति १४०

[321] बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारप्रकाश, पृ. १०१

[322] स्वल्यापराध: सवल पार्थो निरर्थकइतिस्मृत: । बृहस्पतिस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका, पृ. ३७

अग्रहणीय विवादों को स्वीकार न करने का उद्देश्य न्यायिक प्रशासन पर कार्यभार को कम करना था और गम्भीर विवादों पर विशेष ध्यान बनाये रखना था।

- **स्वीकृत वादी के विवाद का लेखन एवं लेखक-**

सभासदों के द्वारा ग्रहणीय एवं अग्रहणीय विवादों के पर्याप्त विश्लेषण के उपरान्त अग्रहणीय विवादों को अस्वीकार करते हुए ग्रहणीय विवादों को स्वीकार किया जाता था। जब सभासदोंद्वारा वादी के अभियोग को विचारणीय मानते हुए स्वीकार किया जाता था तब वादी के आवेदित विषय से सम्बन्धित कथनों को लेखक के द्वारा लिपिबद्ध किया जाता था। लेखक के द्वारा ही वादी की अभियोग सम्बन्धित समस्त बातों को क्रमश: लेखबद्ध किया जाता था, चाहे वादी ने वे बातें किसी लोभ, भाव, आवेश तथा स्नेह में आकर ही क्यों न कही हो।[323] लेखक केवल वही लिख सकता था जो वादी द्वारा कहा गया हो। वह (लेखक) स्वयं से वादी के कथनों में फेरबदल नहीं कर सकता था और न ही वह वादी के कथित कथनों को किन्ही अन्य अर्थों में लिख सकता था। लेकिन यदि लेखक इस प्रकार से वादी के कथनों में फेरबदल करता था तो उसे कूटलेखक मानते हुए चोर के समान दण्डित किया जाता था।[324]

लेखक- लेखक वह होता था जो लेखन कार्य का सम्पादन करता था। तात्कालिक समय में लेखक वादी के अभियोग सम्बन्धित कथनों को लिखता था। इस लेखक की नियुक्ति सिर्फ न्यायिक कार्यों के सम्पादन के लिये की जाती थी। जिसमें इसका मुख्य कार्य वादी के अभियोग सम्बन्धित विचारों को सावधानी से सुनते हुए उन्हे स्वप्रेरणा से रहित होते हुए क्रमश: स्थानीय लिपि में लिपिबद्ध करते हुए, सविनय उस लेख पत्र को राजा को समर्पित करना होता था।[325]

पद की गम्भीरता को ध्यान में रखते हुए इस पद के लिए विशिष्ट गुणों का निर्धारण किया गया था, जिनसे युक्त व्यक्ति को ही इस पद पर नियुक्त किया जाता था। वे विशिष्ट गुण थे- शब्दार्थ का तत्त्वज्ञ, कुशल गणनाकारी, निर्दोष, अनेक लिपियों का ज्ञाता तथा गुणवान्।[326] इन गुणों से युक्त व्यक्ति को सम्पूर्ण परीक्षण के उपरान्त ही लेखक पद के लिये नियुक्त किया जाता था।

- **प्रतिवादी का आह्वान**

जब राजा एवं अन्य सभासदों के द्वारा आवेदित विषय को सम्यक् विचार के उपरान्त स्वीकार करते हुए लेखबद्ध कर लिया जाता था, तब राजा द्वारा राजमुद्रा से चिन्हित आह्वानपत्र के माध्यम

---

[323] रागादीनां यदेकेन कोपितः करणे वदेत्। तदादौ तु लिखेत्सर्वं वादिनः फलकादिषु॥ नारदस्मृति २/१८

[324] शुक्रनीति ४/५/६१

[325] शुक्रनीति ४/५/५२-५९

[326] शुक्रनीति ४/५/४१

से प्रतिवादी का आह्वान किया जाता था ।[327] आह्वान से तात्पर्य होता था- प्रतिवादी को न्यायालय में निश्चित तिथि एवं समय पर आहूत करना । आह्वान किये जाने पर प्रतिवादी को उस निश्चित तिथि एवं समय पर ही न्यायालय में उपस्थित होना अनिवार्य होता था, अन्यथा उसे अनुपस्थिति में दण्डित किया जाता था ।

लेकिन कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते थे जिन्हें यदि किसी विवाद का प्रतिवादी बनाया जाता था तो उन्हें आह्वान किये जाने पर स्वयं का प्रतिनिधि भेजने की छूट प्राप्त थी । वे प्रतिवादी थे[328]- असमर्थ, बालक, वृद्ध, कठिन कार्य में व्यस्त, द्यूतमद्यपानादि का व्यसनी, विवाहादि के लिए तत्पर वर, रोग से पीड़ित, यज्ञ में संलग्न, विपत्ति में पड़ा व्यक्ति, दूसरे के द्वारा धर्माधिकरण में नियोजित अभियुक्त, राजकार्य में (व्यसन) निरत, कृषि कार्यों में प्रवृत्त कृषक, शिल्पकला में प्रवृत्त शिल्पी, युद्ध में संलग्न सैनिक, अप्राप्त व्यवहार बालक अर्थात् षोडश वर्ष से कम आयु वाला, दूतों, दान कार्य में लगे व्यक्तियों, वृत्तस्थ जन और विषम स्थान में रहने वाले व्यक्तियों को ।[329] इन उपर्युक्त परिस्थितियों में प्रत्यर्थी को अपना प्रतिनिधि भेजने की छूट प्राप्त थी ।

इन उपर्युक्त जनों को प्रतिवादी के रूप में आह्वान किये जाने पर प्रतिनिधि भेजने की छूट इसलिए दी जाती थी क्योंकि यदि इन राजकार्यों में रत राजपुरुषों, कृषिकार्यों में संलग्न कृषकों, शिल्पकला में प्रवृत शिल्पकारों, युद्ध में संलग्न सैनिकों एवं दूतकारों को अभियुक्त के रूप में (प्रतिवादी) न्यायालय में बुलाया जायेगा तो इससे राज्य को हानि भी हो सकती थी । यह राज्य हानि कही न कही राज्य की प्रगति में बाधा पहुंचा सकती थी । इन बाधाओं से राज्य की सुरक्षा करते हुए उसे प्रगतिशील बनाये रखना राजा का कर्तव्य होता था । इसलिये राजा, सभासद् आदि न्यायिक अधिकारियों के द्वारा इन उपयुक्त जनों को किसी विवाद में अभियुक्त होने पर प्रतिनिधि भेजने की छूट दी गयी थी ।

धर्मशास्त्रकारों ने कुछ ऐसी परिस्थितियों का भी उल्लेख किया है जिनमें यदि प्रतिवादी स्वयं न्यायालय में उपस्थित नहीं हो पाता था तो उसके (प्रतिवादी) घर जाकर भी विवाद सम्बन्धित मतों को लिया जा सकता था । जैसे- अनाथ स्त्री, उच्चकुल की स्त्री, सद्य:प्रसूता स्त्री तथा स्वामीत्यक्त

---

[327] यथा काले कार्यार्थिनं पृच्छेद्गृणन्तं पुरत: स्थितम् । किं कार्यं का च ते पीडा मा भैषीर्ब्रूहि मानव ॥ केन कस्मिन् कदा कस्मात्पृच्छेदेवं सभागतम् । एवं पृष्ट: स यद्ब्रूयात् स सभ्यैर्ब्राह्मणै: सह ॥ विमृश्य कार्यं न्याय्यं चेदाह्वानार्थमत: परम् । मुद्रा वा निक्षिपेत्तस्मिन्पुरुषं वा समादिशेत् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/५ मिताक्षरा

[328] अप्रगल्भजडोन्मात- वृद्धस्त्रीबालरोगिणाम् । पूर्वोत्तरं वदेद्बन्धुर्नियुक्तोऽन्योऽथ वा नरः ॥ बृहस्पतिस्मृति १/१४२
शुक्रनीति ४/५/१०६,१०९-११०

[329] निर्वेष्टुकामो रोगार्तो यियक्षुर्व्यसने स्थितः । अभियुक्तस्तथान्येन राजकार्योद्यतस्तथा ॥
गवां प्रचारे गोपाला: सस्यबन्धे कृषीवलाः । शिल्पिनः चापि तत्कालमायुधीयाश्च विग्रहे ॥
अप्राप्तव्यवहारश्च दूतो दानोन्मुखो व्रती । विषमस्थश्च नासेध्यो न चैनानाह्वयेन्नृपः ॥ नारदस्मृति १/५२-५४
याज्ञवल्क्यस्मृति २/५ मिताक्षरा
धर्मोत्सुकानभ्युदये रोगिणोऽथ जडानपि । अस्वस्थमत्तोन्मत्तार्त- स्त्रियो नाह्वानयेन्नृपः ॥ कात्यायनस्मृति ९६

स्त्री इत्यादि ।[330] यदि इन स्त्रियों को किसी विवाद में अभियुक्त बनाया जाता था तो इनके विवाद सम्बन्धित मतों की जानकारी इनके घर आकर ली जाती थी । इसका कारण इनकी सामाजिक एवं शारीरिक स्थिति हो सकती थी ।

कुछ ऐसी परिस्थितियों को निर्देशित किया गया था जिनमें अभियुक्त न्यायालय में उपस्थित होना तो चाहता था परन्तु उसके पास किराये हेतु पर्याप्त धन नहीं होता था । जैसे- असमर्थ सज्जन एवं वनवासी सन्यासी । इन दोनों को देश, काल एवं कार्य की महत्ता के अनुसार राजवाहन भेजकर सम्मानपूर्वक बुलाया जाता था ।[331]

इन निर्दिष्ट उपरोक्त परिस्थितियों (जिनमें प्रतिवादी को प्रतिनिधि भेजने की छूट दी जाती थी) को छोडकर सामान्य स्थितियों में यदि प्रतिवादी का आह्वान किया जाता था तो उसे सक्षम एवं समर्थ होने पर न्यायालय में निर्दिष्ट समय पर उपस्थित होना अनिवार्य होता था । अन्यथा उसे (प्रतिवादी) अपराध के अनुपात में दण्डित किया जाता था ।[332] हालांकि न्यायालय में प्रतिवादी की उपस्थिति के लिए ३० दिन की प्रतिक्षा भी की जाती थी । यदि प्रतिवादी इन ३० दिनों में उपस्थित हो जाता था तब अग्रिम कार्यवाही को प्रारम्भ किया जाता था अन्यथा उपस्थित न होने पर वादी के पक्ष में निर्णय लिया जाता था और प्रतिवादी को पराजित घोषित करते हुए निर्धारित दण्ड दिया जाता था ।[333]

- **प्रतिवादी का प्रतिनिधि प्रेषण**

अब स्वत: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रतिवादी किस-किस को अपना प्रतिनिधि बना सकते थे? इस पर धर्मशास्त्रकारों का विचार था कि वे विवाद में आत्मीयजनों को ही प्रतिनिधि बनाया जाना चाहिये । जैसे- माता, पिता, भाई, बहन एवं अन्य बन्धुजन ।[334]

प्रतिनिधि प्रतिवादी द्वारा ही नियुक्त किया जाता था । जिस किसी को विवाद में प्रतिनिधि नियुक्त किया जाता था वह ही विवाद में प्रतिवादी के वक्तव्य रख सकता था । यदि कोई अनियुक्त प्रतिनिधि स्वयं की इच्छा से प्रतिवादी के वक्तव्य रखता था तो उसे दण्डित किया जाता था ।[335] किन्तु इस नियुक्ति का नियम प्रतिवादी के आत्मीयजनों पर लागू नहीं होता था अर्थात् प्रतिवादी के पिता-माता, पुत्र, भ्राता या अन्य संबंधी जन विवाद में प्रतिनिधि नियुक्त न किये जाने पर भी

---

330 शुक्रनीति ४/५/१०१

331 शुक्रनीति ४/५/१०७-१०८

332 आहूतस्त्ववमन्येत यः शक्तो राजशासनम् । तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं विधिदृष्टेन कर्मणा ॥
हीने कर्माणि पञ्चाशन्- मध्यमें द्विशतावरः । गुरुकार्येषु दण्डः स्यान्नित्यं पञ्चशतावरः ॥ कात्यायनस्मृति १००-१०१

333 व्यवहारनिर्णय, पृ. २९

334 शुक्रनीति ४/५/१११

335 यो न भ्राता न च पिता न पुत्रो न नियोगकृत् । परार्थवादी दण्ड्यः स्याद्व्यवहारेऽपि विब्रुवन् ॥ नारदस्मृति २/२३

विवाद का प्रतिनिधित्व कर सकते थे । इस प्रकार अनियुक्त आत्मीयजन प्रतिनिधि बन सकते थे तथा अनियुक्त अन्य सामान्यजन प्रतिनिधि नहीं बन सकते थे ।[336]

विवादों में आत्मीयजनों को ही प्रतिनिधि बनाये जाने के पीछे व्यवाहारिक कारण यह था कि विवाद में प्रतिनिधि की जय-पराजय से प्रतिवादी का सीधा संबंध होता था । क्योंकि विवाद में प्रतिनिधि को प्राप्त हुई जय-पराजय प्रतिवादी की ही मानी जाती थी जिससे प्रतिवादी भी विमुख नहीं हो सकता था ।[337]

इसलिये प्रतिनिधि की स्थिति तभी अपनायी जाती थी जब वास्तव में प्रतिवादी न्यायालय में उपस्थित होने में असमर्थ या असक्षम होता था । क्योंकि विवाद की प्रक्रिया में प्रतिनिधि से हुई भूल-चूक से विवाद हानि को प्राप्त कर सकता था । इसलिये प्रतिनिधि के विकल्प को अंतिम साधन के रूप में प्रयोग किया जाता था । सामान्यत: प्रतिनिधि प्रेषण का कार्य अर्थमूलक विवादों में किया जाता था, क्योंकि इन विवादों में लगभग गम्भीरता का अभाव होता था । परन्तु हिंसामूलक विवादों में स्वयं प्रतिवादी की उपस्थिति ही अनिवार्य होती थी ।

- **प्रतिवादी का आसेध-**

जब विवाद के प्रतिवादी का न्यायालय में आह्वान किया जाता था तब यह स्थिति उत्पन्न हो सकती थी कि प्रतिवादी आह्वान प्रेषणपत्र प्राप्त होने से पूर्व मिली जानकारी से पलायित हो जाये । इस स्थिति के आने से पूर्व प्रतिवादी के लिये आसेध जारी किया जाता था ।[338] आसेध से तात्पर्य- राजा की आज्ञा से किसी स्थान विशेष पर प्रतिवादी को राजपुरुषों के माध्यम से बलपूर्वक रोका जाना । आसेध प्रतिवादी पर ही लगाया जाता था ।

यह आसेध वादी की मांग पर भी जारी किया जा सकता था अर्थात् यदि वादी को इस बात की आशंका हो की प्रतिवादी आह्वानपत्र प्राप्ति से पूर्व ही पलायन कर सकता है तब वादी की मांग से प्रतिवादी को को आसेधित किया जा सकता था ।[339] आसेध की स्थिति तब भी उत्पन्न होती थी जब प्रतिवादी अपने वक्तव्य पर स्थित न रहें या उस वक्तव्य का अतिक्रमण करें, तब राजा के आह्वान जारी होने तक राजपुरुषों के माध्यम से प्रतिवादी को आसेध किया जाता था ।[340]

---

336 पितामह, स्मृतिचन्द्रिका, पृ. ३२

337 शुक्रनीति ४/५/१११-११२, ११७-११८

338 अप्राप्तव्यवहारश्च दूतो दानोन्मुखो व्रती । विषमस्थश्च नासेध्यो न चैनानाह्वयेन्नृपः ॥ नारदस्मृति १/४७

339 उत्पादयति यो हिंसां देयं वा न प्रयच्छति । याचमानाय दौःशील्यादाकृष्योऽसौ नृपाज्ञया ॥
आवेद्य तु नृपे कार्यमसंदिग्धे प्रतिश्रुते ।तदासेधं प्रयुञ्जीत यावदाह्वानदर्शनम् ॥ कात्यायनस्मृति १०३-१०४

340 वक्तव्येऽर्थे न तिष्ठन्तमुल्क्रामन्तं च तद्वचः । आसेधयेद्विवादार्थी यावदाह्वानदर्शनम् ॥ नारदस्मृति १/४७

आसेध चार प्रकार के होते थे[341]-

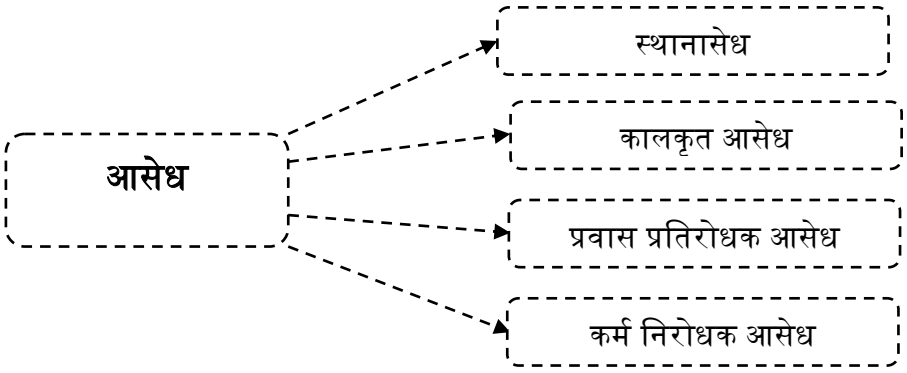

१. **स्थानासेध**- घर आदि से अन्यत्र जाने पर अवरोध ।

२. **कालकृत आसेध**- किसी तिथि/समय विशेष पर उपस्थित होना या निर्धारित समय तक प्रतिबन्ध ।

३. **प्रवास प्रतिरोधक आसेध**- यात्रादि पर प्रतिबंध, अन्यत्र निवास पर भी प्रतिबंध ।

४. **कर्म निरोधक आसेध**- इसमें प्रतिवादी को खेत जोतने, संपत्ति के उपभोग या क्रय-विक्रयादि कार्य करने पर प्रतिबन्धित किया जाता था ।

इन चारों आसेधों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है प्रथम-तीन (स्थानासेध, कालकृत एवं प्रवास) को स्थानासेध की श्रेणी में तथा अंतिम कर्मनिरोधक को कर्मासेध श्रेणी में रखा जा सकता है । इस प्रकार के आसेध की यह व्यवस्था विवाद के निर्णयपर्यन्त तक लागू रहती थी । इन आसेधों की वर्तमान न्यायव्यवस्था में पूर्व गिरफ्तारी या रिसीवरशिप विधि से समानता की जा सकती है ।[342]

➢ **आसेध नियमों के उल्लंघन पर दण्ड**-

आसेध्य द्वारा इन चारों आसेधों का उल्लंघन नहीं किया जाना चाहिए था । अगर आसेधित प्रतिवादी राजा की आज्ञा का उल्लंघन कर आसेध को तोड़ता था तो वह दण्ड का भागी होता था ।[343] अर्थात् यदि आसेध समय में आसेध्य व्यक्ति आसेध का अतिक्रमण करता था तो वह दण्डनीय होता था और साथ ही आसेध नियमों में अन्यथा करके जो अवरोध उत्पन्न करता था वह अवरोधकारी व्यक्ति भी दण्डनीय होता था । आसेध के अतिक्रमण पर प्रतिवादी के साथ उन वादीयों को दण्डित किया जाता था जो बिना किसी उचित आधार के प्रतिवादी के आसेध की मांग

---

[341] स्थानासेधः कालकृतः प्रवासात्कर्मणस्तथा । चतुर्विधः स्यादासेधो नासिद्धस्तं विलङ्घयेत् ॥ नारदस्मृति १/४८

[342] भारतीय दीवानी प्रक्रिया संहिता १९०८, आदेश ३८-३९

[343] आसेधकाल आसिद्ध आसेधं यो व्यतिक्रमेत् । स विनेयोऽन्यथा कुर्वन्नासेद्धा दण्डभाग्भवेत् ॥ नारदस्मृति १/५१

करते थे तथा उन राजपुरुषों को भी दण्डित किया जाता था जो प्रतिवादी के आसेध के समय मर्यादा का उल्लंघन करते थे[344] या अव्यावहारिक रीति से प्रतिवादी का आसेध करते थे ।[345] जैसे- आसेधित प्रतिवादी के नित्य कर्मों (मल-मूत्र विसर्जन) में अवरोध पैदा करना, अत्यधिक कठोरढंग से पेश आना इत्यादि ।

आसेध उल्लंघन का अपवाद- हालांकि आसेध का अनतिक्रमण होता था परन्तु कुछ स्थानों पर प्रतिवादी को आसेध का अतिक्रमण करने की छूट प्राप्त थी । नारद के मत में नदी को पार कर आने वाले स्थानों में, घने जगलों में, दुर्गम स्थान में आसेधित व्यक्ति द्वारा आसेध का अतिक्रमण दोषपूर्ण नहीं है ।[346]

- **प्रतिवादी सम्मुख वाद का पुन: लेखन-**

प्रत्यर्थी के आह्वान के बाद राजसभा में अर्थी द्वारा राजा के सम्मुख पूर्व निवेदित विषय/विवाद को पुनः प्रत्यर्थी के समक्ष वर्ष, मास, पक्ष, दिन और जात्यादि में चिन्हित कर लिखा जाता था ।[347] अर्थात् अर्थी पुनः राजसभा में प्रत्यर्थी के सामने आवेदन करता था और संबंधित विवाद को वर्ष, मास, पक्ष, दिन, जाति, प्रत्यर्थी का नाम एवं जाति, समय, आवेदक द्रव्य देने की क्षमता आदि चिन्हों से लिखता था ।[348] अत: अभियोग का लेखन दो बार किया जाता था । प्रथम बार तब जब वादी द्वारा अभियोग प्रस्तुत किया जाता था तथा दूसरी बार तब जब वादी के अभियोग के आधार पर प्रतिवादी का आह्वान किया जाता था । दूसरी बार में वादी के विवाद संबंधी मतों को प्रतिवादी के सम्मुख पुन: लिखा जाता था ।[349]

- **आवेदन का स्वरूप-**

आवेदन में लिखित विवाद धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र इन दोनों के अनुकूल हो, वक्तव्य अर्थ को समझाने में समर्थ पदों से परिपूर्ण हो, मिथ्या से युक्त न हो, आवेदित विषय को समझाने में समर्थ हो, परस्पर विरोध से रहित हो, वादी के अभिप्रेत कथन को समझाने में पूर्ण समर्थ हो, विस्तार से रहित संक्षिप्त हो, देश एवं काल का विरोधी न हो, वर्ष-ऋतु-पक्ष-दिन-समय-देश-प्रदेश से समन्वित हो, प्रतिवादी के स्थान-आवास-क्षमता-नाम-जाति-आयु से समन्वित हो, प्रतिज्ञार्थ ज्ञापक प्रमाण- उसकी संख्या-स्वयं वादी एवं प्रतिवादी के नाम से युक्त हो, प्रतिवादी के पूर्वजों-संनिहित देश के

---

[344] नदीसंतारकान्तार- दुर्देशोपप्लवादिषु । आसिद्धस्तं परासेधमुत्क्रामन्नापराध्नुयात् ॥ नारदस्मृति १/४३

[345] शुक्रनीति ४/५/९६-९७

[346] नदीसंतारकान्तार- दुर्देशोपप्लवादिषु । आसिद्धस्तं परासेधमुत्क्रामन्नापराध्नुयात् ॥ नारदस्मृति १/४९

[347] प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना । समामासतदर्धाहर्- नामजात्यादिचिह्नितम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/६

[348] याज्ञवल्क्यस्मृति २/६ मिताक्षरा

[349]याज्ञवल्क्यस्मृति २/६

राजा का नाम अंकित हो, वादी की क्षमता-पीड़ा-आवेदन में कथित अपहृत द्रव्य के प्रतिदान के प्रतिपादन में समर्थ हो। इस प्रकार के स्वरूप से युक्त आवेदन राजा के समक्ष किया जाता था। इस आवेदन को व्यवहारशास्त्र में 'भाषा' या 'प्रतिज्ञा' कहा जाता था।[350] बृहस्पति के अनुसार आवेदन मिथ्या आदि दोषों से रहित, उचित प्रमाणों से युक्त, तर्कपूर्ण, संक्षिप्त, साक्षियों द्वारा प्रमाणित, दिन-समय-मास-देश-स्थान-द्रव्य-संख्या-प्रमाण-परिणाम और प्रदेश से समन्वित, सारगर्भित, स्पष्ट, प्रतिवादी के सम्भावित प्रश्नों/तर्को का खण्डन करने की योग्यता रखने वाला होना चाहिये।[351] इसी प्रकार शुक्रनीति ने भी कहा है कि किसी वाद को लिखित रूप देते समय उसमें समय, वर्ष, माह, पक्ष, दिन, काल, प्रान्त, ग्राम, जिला, जाति, आकार, अवस्था, अभियोग, प्रमाण, धन एवं उसकी संख्या, स्वयं का नाम, तदनन्तर क्रमश: राजा का नाम, उसका निवासस्थान, विवाद का नाम, पिता-पितामह का नाम, स्वयं की पीडा, ऋण अर्जित करने वाले एवं देने वाले का नाम, क्षमा के चिन्ह तथा इसके अतिरिक्त जो आवश्यक हो उसका मान भी लिखवा दें।[352]

- **आवेदन की शुद्धता-**

नारद ने आवेदन की शुद्धता पर बल दिया है और कहा है कि आवेदन पत्र निम्न सात दोष से रहित होने पर ही स्वीकार्य होगा। ये सात दोष थे[353]-

१. **अन्यार्थ दोष**- अन्य अर्थों को भी बतलाए। जैसे- दूसरे लोग दूसरे से दूसरे लोगों का वस्तु नहीं ले सकते।[354]

२. **अर्थहीन दोष**- जिसमें व्यवहार/अभियोग का समुचित अर्थ ही निहित न हो। जैसे- मैं यह वरदाश्त नहीं कर सकता हूँ इसलिए आपके नाम से आवेदन करता हूँ।[355]

---

[350] याज्ञवल्क्यस्मृति २/६ मिताक्षरा

संवत्सरमृतुं मासं पक्षं दिवसं करणमधिकरणमृणं वेदकावेदकयोः कृतसमर्थावस्थयोर्देशग्रामजातिगोत्रनामकर्माणि चाभिलिख्य वादिप्रतिवादिप्रश्नानर्थानुपूर्व्या निवेशयेत् ॥ कौटिल्य ३/१

निवेश्य कालं वर्षं च मासं पक्षं तिर्थिं तथा। वेलां प्रदेशं विषयं स्थानं जात्याकृती वयः ॥
साध्यप्रमाणं द्रव्यं च संख्यां नाम तथात्मनः। राज्ञां च क्रमशो नाम निवासं साध्यनाम च ॥
क्रमात्पितृणां नामानि पीडां चाहर्तृदायकौ। क्षमालिङ्गानि चान्यानि पक्षं संकीर्त्य कल्पयेत् ॥
देशश्चैव तथा स्थानं संनिवेशस्तथैव च। जातिः संज्ञा निवासश्च प्रमाणं क्षेत्रनाम च ॥
पितृपैतामहं चैव पूर्वराजानुकीर्तनम्। स्थावरेषु विवादेषु दशैतानि निवेशयेत् ॥ कात्यायनस्मृति १२४-१२८,
कात्यायनस्मृति, व्यवहारप्रकाश, पृ. ४६
कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.१५१

[351]उपस्थिते ततस्तस्मिन् वादी पक्षं प्रकल्पयेत्। निरवद्यं सप्रतिज्ञं प्रमाणागमसंयुतम् ॥

देशस्थानसमामास- पक्षाहोनामजातिभिः । द्रव्यसंख्योदयं पीडां क्षामलिङ्गं च लेखयेत् ॥ बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारकाण्ड, २/५-६, बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.१४४

[352] शुक्रनीति ४/५/१७८-१८०

[353] अन्यार्थमर्थहीनं च प्रमाणागमवर्जितम्। लेख्यं हीनाधिकं भ्रष्टं भाषादोषास्तूदाहृताः ॥ नारदस्मृति २/८

[354] लब्धव्यं येन यद्यस्मात्स तत्तस्मादवाप्नुयात्। न त्वन्योऽन्यदथान्यस्मादित्यन्यार्थमिदं त्रिधा ॥ नारदस्मृति २/९

[355] मनसाहमपि ध्यातस्त्वन्मित्रेणेह शत्रुवत्। अतोऽन्यथा महाक्षान्त्या त्वमिहावेदितो मया ॥ नारदस्मृति २/१०

३. **प्रमाण वर्जित**- जिस अभियोग में द्रव्य का प्रमाण न हो और परिमाण (नाप-तौल) भी न हो ।[356]

४. **आगम वर्जित**- जिस अभियोग में लिखित प्रमाण न हो और जो अनेक लोगों के विरुद्ध हो अर्थात् नगर तथा राष्ट्र के विरुद्ध अभियोग आगमवर्जित होता था ।[357]

५. **हीनाधिक दोष**- उस आवेदन को निरर्थक माना जाएगा जिस आवेदन में विसर्ग-मात्रादि से युक्त शब्दों में विसर्ग-अनुस्वारादि का प्रयोग न किया गया हो, पद एवं वर्ण के दोष युक्त होने पर अनेक अर्थों को प्रकट करता हो तो वह अभियोग हीनाधिक दोष से वर्जित था ।[358]

६. **भ्रष्ट दोष**- जो अभियोग पत्र पानी या तेल से मलिन हो या मलिनता के कारण उल्लिखित विषय स्पष्ट होते हुए भी उसमें पूर्ण स्पष्टता का अभाव हो ।[359]

७. **भाषा दोष**- जिसमें वर्ष-तिथि-मास-पक्ष का उल्लेख न किया हो या व्यावहारिक धर्म एवं नियम से रहित हो ।[360]

इस प्रकार के दोषों से युक्त अभियोग/आवेदन पत्र स्पष्ट होते हुए भी ग्रहण नहीं किया जाता था । कात्यायन के अनुसार देश, काल, द्रव्य, संख्या एवं परिमाण का उल्लेख न करने वाले आवेदन पत्र को स्वीकार नहीं करना चाहिए ।[361] तथा बृहस्पति के निर्देशानुसार जो आवेदन दोषयुक्त, अर्थरहित एवं उद्देश्य से हीन हो उस पर विचार ही नहीं करना चाहिये ।[362] अतः आवेदन पत्र में पूर्ण स्वच्छता के साथ ही सभी विवाद बिन्दुओं को प्रकाश में लाया जाना आवश्यक होता था ।

- **प्रत्यभियोग संबंधी नियम-**

अर्थी द्वारा आवेदित विवाद पर प्रत्यर्थी से प्रश्न किया जाता था । अगर प्रत्यर्थी विवाद के संबंध में उत्तर न देकर, वादी पर ही अभियोग करता था तो यह व्यवहार परक नहीं होता था । क्योंकि-

---

[356] द्रव्यप्रमाणहीनं यत्फलोपाश्रयवर्जितम् । प्रमाणवर्जितं नाम लेख्यदोषं तदुत्सृजेत् ॥ नारदस्मृति २/११

[357] आगमवर्जितं दोषं पूर्वपादे विवर्जयेत् । एकस्य बहुभिः सार्धं पुरराष्ट्रविरोधकम् ॥ नारदस्मृति २/१२

[358] बिन्दुमात्राविहीना वा पदवर्णविदुष्टा वा । हीनाधिका भवेद्यर्था तां यत्नेन विवर्जयेत् ॥ नारदस्मृति २/१३

[359] भ्रष्टं तु दुःस्थितं यत्स्याज्जलतैलादिभिर्हतम् । भाषायां तदपि स्पष्टं विस्पष्टार्थं विवर्जयेत् ॥ नारदस्मृति २/१४

[360] नारदस्मृति २/१५

[361] कात्यायनस्मृति व्यवहारप्रकाश, पृ. ४८

[362] बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारकाण्ड, २/८-९

१. प्रत्यर्थी स्वयं पर लगे हुए अभियोग का उत्तर दिए बिना वादी पर स्वतंत्र रूप से अभियोग नहीं लगा सकता । प्रत्यर्थी स्वयं के ऊपर लगे अभियोग को हटाने के बाद ही प्रत्यभियोग लगा सकता था ।[363]

२. एक अभियोग में अभियुक्त व्यक्ति को दूसरे अभियोग से अभियुक्त नहीं बनाया जा सकता था क्योंकि विद्ध होने पर ही उसी समय उसे पुनः विद्ध करना अनुचित होता था ।[364] अर्थात् किसी अन्य अभियोग में अभियुक्त बने व्यक्ति पर अर्थी तब तक पुनः अभियोग नहीं लगा सकता जब तक उस व्यक्ति पर लगे अभियोग का निर्णय नहीं हो जाता ।[365]

अपवाद- किन्तु प्रत्यर्थी साहस, वाक्पारुष्य एवं दण्डपारुष्य से संबंधित विवादों में स्वयं पर लगे अभियोग से मुक्त हुए बिना भी अर्थी के ऊपर प्रत्यभियोग लगा सकता था ।[366]

- **अन्तिम चरण में आवेदन-**

आवेदन के उपर्युक्त सभी नियमों से युक्त होने पर तथा सम्यक् प्रकार से शोधन के उपरान्त प्राड्विवाक आवेदन पत्र को स्वीकार करता था । प्राड्विवाक शोधित अभियोग पत्र को लेखक से प्रत्यर्थी के समक्ष ही लिखवाता था ।[367] नियमत: शोधित लिखित अभियोग पत्र में शोधन किया जा सकता था लेकिन यह शोधन उत्तरपाद से पूर्व ही हो सकता था क्योंकि प्रत्यर्थी के अभियोग संबंध में उत्तर दिए जाने के उपरान्त शोधन वर्जित था ।[368] बृहस्पति ने भी आवेदनपत्र में न्यूनाधिक संशोधन करने का आदेश तभी दिया है जब तक सभ्यों के सम्मुख प्रतिवादी उत्तर न दे दें ।[369] अर्थात् उत्तरपाद के उपरान्त शोधन कार्य नहीं किया जा सकता था । इस प्रकार संशोधित पूर्वपक्ष/भाषापाद को लिखने के बाद प्रत्यर्थी से प्रश्न करने पर उत्तरपाद प्रारंभ होता था ।

2.6.2 द्वितीय चरण- उत्तरपाद

उत्तरपाद में प्रत्यर्थी अर्थी के अभियोग पत्र का प्रत्युत्तर देता था । अभियोग पत्र में उल्लिखित विवाद विषय को भलीभांति जानने के पश्चात् ही प्रत्यर्थी द्वारा अपने पक्ष को राजसभा में उपस्थित किया जाता था । प्रत्यर्थी द्वारा प्रत्युत्तर को वादी द्वारा स्वपक्ष को उपस्थित करने के बाद ही उपस्थापित किया जाता था ।[370] प्रत्यर्थी द्वारा अपने पक्ष को सोच समझकर ही प्रस्तुत

---

[363] अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९

[364] नाभियुक्तोऽभियुञ्जीत तमतीत्वार्थमन्यतः । न चाभियुक्तमन्येन न विद्धं वेद्धुमर्हति ॥ नारदस्मृति १/५५

[365] अभियुक्तं च नान्येन नोक्तं विप्रकृतिं नयेत् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९

[366] कुर्यात्प्रत्यभियोगं च कलहे साहसेषु च ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/१०

[367] याज्ञवल्क्यस्मृति २/६ मिताक्षरा नारदस्मृति मत

[368] याज्ञवल्क्यस्मृति २/६ मिताक्षरा

[369] बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.१४७-१४८

[370] पूर्वपक्षश्रुतार्थस्तु प्रत्यर्थी तदनन्तरम् । पूर्वपक्षार्थसंबन्धं प्रतिपक्षं निवेशयेत् ॥ नारदस्मृति २/२

करने का आदेश दिया गया था, क्योंकि प्रत्यर्थी द्वारा उद्धृत उत्तर को वादी के समक्ष लिखा जाता था।[371] बृहस्पति के अनुसार प्रतिवादी को वादी के मन्तव्य को समझते हुए ग्राह्य एवं त्याज्य तथ्यों को भलीभांति जानते हुए उत्तर देना चाहिये[372] तथा कात्यायन के अनुसार प्रतिवादी को वादी/पूर्वपक्ष द्वारा प्रस्तुत किये गये आवेदित विषय को ध्यानपूर्वक सुनकर, सोच-समझकर और उसे संशोधित होने के उपरान्त ही अपना पक्ष प्रस्तुत करना चाहिये, क्योंकि वादी एवं प्रतिवादी के उत्तरों के लेखबद्ध होने के उपरान्त उनसे असम्बद्ध कथनों को करने से वाद को हानि प्राप्त हो सकता है।[373]

प्रतिवादी का उत्तर पांच लक्षणों से युक्त होना चाहिये था, वे पञ्च लक्षण थे- १.) व्यापक हो अर्थात् अभियोग के सभी पक्षों को छूता हो, २.) सारगर्भित हो, ३.) अनाकुल हो अर्थात् परस्पर विरोधी मतों से रहित हो, ४.) असन्दिग्ध हो तथा ५.) स्पष्ट हो।[374] धर्मशास्त्रकारों ने प्रतिवादी के प्रत्युत्तर के स्वरूप वर्णित करते हुए उत्तर के चार भेद भी किये, जिसे प्रतिवादी द्वारा प्राड्विवाकों के सम्मुख दिया जाता था।

उत्तर के प्रकार-

उत्तर के चार प्रकार थे - १. मिथ्या, २. संप्रतिपत्ति, ३. प्रत्यवस्कन्दन, ४. प्राङ्न्याय। अर्थात् मिथ्या, मिथ्या के विपरीत सत्य, वादी के अभियोग संबंधित विषयों के कारणों का प्रदर्शन, पूर्व अभियोग में पराजित होने पर वादी द्वारा पुनः पूर्व के अभियोग कथनों का उपस्थापन, ये चार प्रकार के उत्तर होते थे।[375]

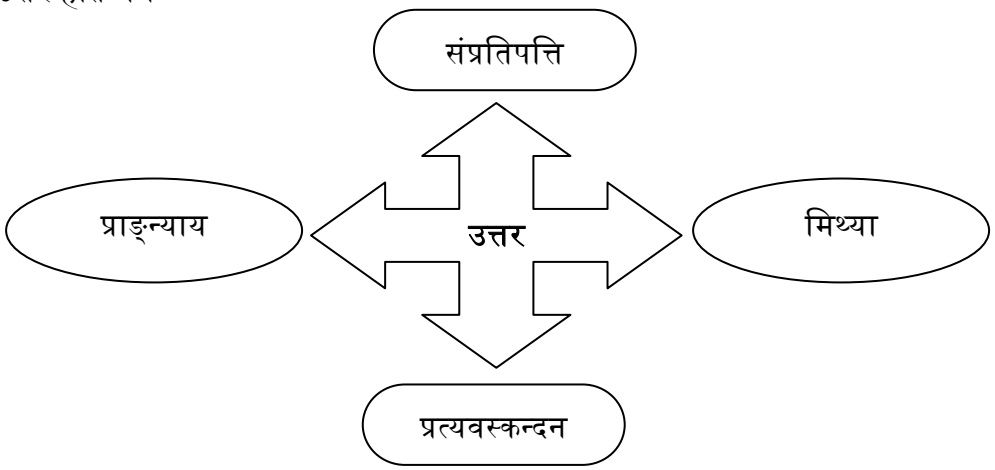

371 श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्वावेदकसंनिधौ। ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/७

372 बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.१६५

373 कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.१७२-१७३

374 शुक्रनीति ४/५/१३९
याज्ञवल्क्यस्मृति २/७ पर मिताक्षरा

375 मिथ्या संप्रतिपत्तिर्वा प्रत्यवस्कन्दमेव वा। प्राङ्न्यायविधिसाध्यं वा उत्तरं स्याच्चतुर्विधम्॥ नारदस्मृति २/४
सत्यं मिथ्योत्तरं चैव प्रत्यवस्कन्दनं तथा। पूर्वन्यायविधिश्चैवमुत्तरं स्याच्चतुर्विधम्॥ कात्यायनस्मृति १६५

१. **संप्रतिपत्ति**- वह उत्तर जिसमें प्रतिवादी वादी द्वारा लगाए गए अभियोग को स्वीकार कर लेता था। जैसे- हां, मैंने वादी से सौ रूपए लिए है। यह सत्य का ही पर्याय है।

२. **मिथ्योत्तर**- वह उत्तर जिसमें प्रतिवादी वादी द्वारा लगाए गए अभियोग को अस्वीकार कर देता था। जैसे- मैंने ऋण लिया ही नहीं। नारद ने मिथ्या उत्तर के भी चार प्रकार बतालाएं हैं[376]-

i. वादी का अभियोग ही मिथ्या है।
ii. मैं अभियोग के विषय में नहीं जानता।
iii. घटित घटना स्थल पर मैं उपस्थित नहीं था।
iv. उल्लिखित विवाद के समय मेरा जन्म नहीं हुआ था।

इन उपयुक्त चारों उत्तरों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है- प्रत्यक्ष उत्तर (१) एवं अप्रत्यक्ष उत्तर (२-४)।

३. **प्रत्यस्कन्दन /कारण**- वह उत्तर जिसमें प्रतिवादी अभियोग को स्वीकार तो कर लेता था पर उसमें कोई कारण उपस्थित कर देता था। जैसे- मैने लिया था पर उसे लौटा दिया। वादी ने धन ऋण के रूप में न देकर उपहार के रूप में दिया था।[377] इस प्रकार प्रतिवादी अपने ऊपर लगे आरोपों को तो स्वीकार कर लेता था परन्तु वह स्वयं की निर्दोषता को सिद्ध करने के लिए कारण को भी प्रस्तुत कर देता था। इसलिये इसे कारण उत्तर भी कहा जाता था।

४. **प्राङ्न्याय**- वह उत्तर जिसमें प्रतिवादी यह कहता था कि वादी पहले भी इसी अभियोग में हार चुका है अर्थात् इस विषय पर पूर्व में ही मेरे पक्ष में निर्णय हो चुका है।[378] इस प्राङ्न्याय को सिद्ध करने के लिये प्रतिवादी पूर्व में हुये निर्णय का जयपत्र, साक्षी आदि को प्रस्तुत करता था।[379] याज्ञवल्क्य ने अनुसार प्राङ्न्याय उत्तर में प्रतिवादी यह कहें कि वादी पहले ही इसी अभियोग में हार चुका है।[380]

---

376 मिथ्यैतन्नाभिजानामि तदा तत्र न संनिधिः। अजातश्चास्मि तत्काल एवं मिथ्या चतुर्विधा॥ नारदस्मृति २/५
मिथ्यैतन्नाभिजानामि तदा तत्र न संनिधिः। अजातश्चास्मि तत्काल इति मिथ्या चतुर्विधम्॥ कात्यायनस्मृति १६९

377 दत्तामेव ममानेन किं त्वस्यापि मया पुनः। प्रतिदत्तमितीदृक च प्रत्यस्कन्दनं स्मृतम्॥ प्रजापति, स्मृतिचन्दिका ३, पृ. ९८

378 अस्मिनन्वर्थे ममानेन वादः पूर्वमभूत्तदा। जितोऽयमिति चेदब्रूयात् प्राङ्न्यायश्चस्यादुत्तरम्॥ हारीत, व्यवहारप्रकाश, पृ.६१
आचारेणावसन्नोऽपि पुनर्लेखयते यदि। स विनेयो जितः पूर्वं प्राङ्न्यायस्तु स उच्यते॥ बृहस्पतिस्मृति ३/२१
आचारेणावसन्नोऽपि पुनर्लेखयते यदि। सोऽभिधेयो जितः पूर्वं प्राङ्न्यायस्तु स उच्यते॥ कात्यायनस्मृति १७१

379 जयपत्रेण सभ्यैर्वा साक्षिभिर्भावयाम्यहम्। मयाजितः पूर्वमिति प्राङ्न्यायास्त्रिविधिः स्मृतम्॥ शुक्रनीति ४/५/१५०

380 याज्ञवल्क्यस्मृति २/७ मिताक्षरा

संकर उत्तर- वह उत्तर जिसमें पूर्व में कथित चारों उत्तरों (मिथ्या, सम्प्रतिपत्ति, प्रत्यस्कन्दन एवं प्राङ्न्याय) का मिश्रण हो। जैसे- वादी-प्रतिवादी पर कुछ धन/स्वर्ण लेने का आरोप लगाता है। तब प्रतिवादी प्रत्युत्तर में यह कहता है- कि मैने धन लिया है (सम्प्रतिपत्ति), परन्तु इतना भी नहीं लिया (मिथ्या), जो लिया था वह तो वादी से उपहारस्वरूप लिया था (प्रत्यस्कन्दन) और इस विवादित धन पर पूर्व की न्यायप्रक्रिया में मेरे पक्ष में निर्णय हो चुका है (प्राङ्न्याय)। इस प्रकार के चारों उत्तरों का समावेश ही संकर उत्तर है।

- **प्रत्युत्तर हेतु कालनिर्धारण-**

अभियोग के संबंध में प्रत्यर्थी को उत्तर देने हेतु निश्चित समय दिया जाता था ताकि वह उस समय में अभियोग के बारे में सोच सके। प्रत्यर्थी को अभियोग संबंध में स्वपक्ष को उपस्थित करने हेतु ज्यादा-से ज्यादा सात दिन ही दिया जाता था।[381] परन्तु प्रत्यर्थी चाहे तो, अर्थी के अभियोग को सुनकर तुरन्त भी उत्तर दे सकता था या दूसरे दिन भी उत्तर दे सकता था। गौतम के अनुसार जब प्रतिवादी जडतावश या अर्थ की कमी या असमर्थता के कारण कुछ कहने में असमर्थ हो तो उसे वर्षभर का समय दिया जाना चाहिये।[382]

अपवाद- परन्तु कुछ विवाद या व्यवहारपद ऐसे भी थे जिसमें अभियोग का शीघ्र ही निर्णय किया जाता था तो उन व्यवहारपदों में प्रत्यर्थी को अभियोग संबंध में समय ही नहीं दिया जाता था या प्रत्यर्थी को अभियोग के प्रत्युत्तर हेतु दिए जाने वाले समय का निर्धारण पूर्ण विवेक के साथ राजा या प्राड्विवाकों द्वारा किया जाता था। वे व्यवहारपद निम्न थे, जिनमें कालाक्षेप नहीं किया जाता था-[383] १. साहस, २. स्तेय, ३. पारुष्य (वाक्पारुष्य और दण्डपारुष्य), ४. गौ संबंधी अभियोग ५. पातक अभियोग, ६. प्राणनाश एवं धन आदि के नाश संबंधी अभियोग तथा ७. स्त्री विषयक विवाद। इन उपरोक्त विवादों में प्रत्युत्तर हेतु समय नहीं दिया जाता था, क्योंकि इन विवादों में वर्ष भर का समय व्यतीत होने से विवाद विषय बहुत ज्यादा हानि को प्राप्त कर जायेगा।

अगर प्रतिवादी/प्रत्यर्थी अर्थी के अभियोग को स्वीकार कर लेता था तब क्रियापाद में ही संपूर्ण व्यवहार प्रक्रिया पूर्ण हो जाती थी और अर्थी को विजयी घोषित कर दिया जाता था।[384]

---

[381] श्वो लेखनं वा स लभेत्र्यहं सप्ताहमेव वा।। नारदस्मृति २/३

[382] संवत्सरं प्रतीक्षेताप्रतिभायाम्। गौतमधर्मसूत्र २/४/२८

[383] गोभूहिरण्यस्त्रीस्तेय- पारुष्यात्ययिकेषु च। साहसेष्वभिशापे च सद्य एव विवादयेत्॥ नारदस्मृति १/४५
साहसस्तेयपारुष्य- गोऽभिशापात्यये स्त्रियाम्। विवादयेत्सद्य एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्मृतः॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/१२
कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.१७१
गौतमधर्मसूत्र २/४/२९-३०

[384] अर्थी तृतीयपादे तु युक्तं सद्यो ध्रुवं जयी॥ नारदस्मृति २/३

➢ **हीन (अर्थी/प्रत्यर्थी) –**

जब दोनों पक्षों के कथनों को लिखित रूप दिया जा रहा होता था तब इस प्रकार की स्थिति भी उत्पन्न हो सकती थी कि व्यवहार में अग्रिम कार्यवाही की आवश्यकता ही न पडे । ऐसे में निर्णय एक पक्षीय भी हो सकता था । यह तब होता था जब वादी या प्रतिवादी "हीन" आचरण करते थे ।

हीन अर्थी वह होता था जो पूर्व में राजा के समक्ष आवेदित विषय को पुनर्लेखन के समय प्रतिवादी के सामने अन्यथा कहता था । तब अर्थी के हीन पक्षदोष से युक्त होने पर व्यवहारप्रक्रिया भी खत्म हो जाती थी । अतः अर्थी के द्वारा जिस विषय को लेकर अभियोग किया जाता था उसको परिवर्तित नहीं किये जाने का निर्देश किया गया था, क्योंकि ऐसा करने पर उसके पूर्व अभियोग की हानि होती थी ।[385] नारद के मत में हीन वादीः-

१. जो अर्थी धर्माधिकरण में कालक्षेप करके निर्वाक खड़े हो जाते थे और पूर्व में कहे वचन का विरोध करते थे, वे हीनवादी होते थे ।[386]

२. जो राजसभा में बुलाए जाने पर भाग जाते थे और प्राप्त होने पर (पकड़े जाने पर) कलह करते थे वे हीनवादी राजा द्वारा दण्डनीय होते थे ।[387]

३. जो विवाद विषय को सम्यक् प्रकार से विचार कर उपस्थापित करते थे किन्तु धर्माधिकरण में प्रश्न होने पर प्रत्युत्तर नहीं देते थे और फिर कहे गए विषय का अनुसरण करते थे वे हीनवादी होते थे ।[388]

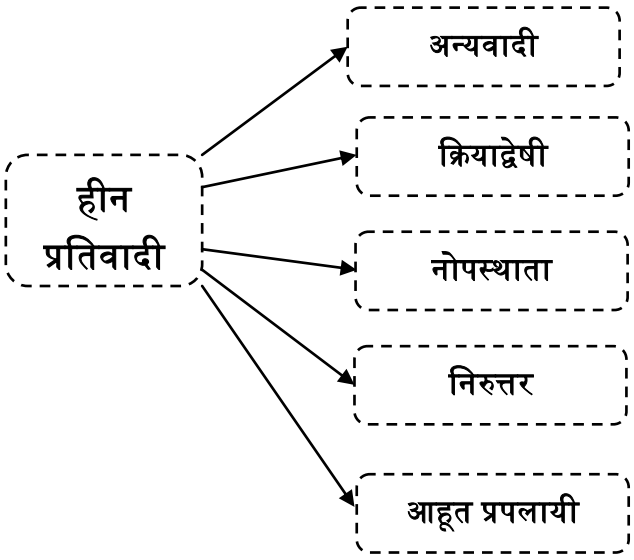

इसी प्रकार हीन प्रत्यर्थी/प्रतिवादी उसे माना जाता था जो निम्न पांच दोषों से युक्त होता था । वे पांच हीन प्रत्यर्थी के दोष थे-[389]

---

[385] नाभियुक्तोऽभियुञ्जीत तमतीत्वार्थमन्यतः । न चाभियुक्तमन्येन न विद्धं वेद्धुमर्हति ॥ यमर्थमभियुञ्जीत न तं विप्रकृतिं नयेत् । नान्यत्पक्षान्तरं गच्छेद्गच्छन् पूर्वात्स हीयते ॥ नारदस्मृति १/५५-५६ नोक्तं विप्रकृतिं नयेत् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९

[386] सापदेशं हरन् कालमब्रुवंश्चापि संसदि । उक्त्वा वचो विब्रुवंश्च हीयमानस्य लक्षणम् ॥ नारदस्मृति १/५८

[387] पलायते य आहूतः प्राप्तश्च विवदेन्न यः । विनेयः स भवेद्राज्ञा हीन एव स वादतः ॥ नारदस्मृति १/५९

[388] सम्यकप्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति । अपदिश्य च यो द्रश्यं पुनस्तमनुधावति ॥ नारदस्मृति १/६०

[389] अन्यवादी क्रियाद्वेषी नोपस्थाता निरुत्तरः । आहूतप्रपलायी च हीनः पञ्चविधः स्मृतः ॥ नारदस्मृति २/३३ याज्ञवल्क्यस्मृति २/६ मिताक्षरा

१. **अन्यवादी**- जो पूछा जाए उसको न बतलाकर अन्य को कहना या बात बदल देना।

२. **क्रियाद्वेषी**- जो साक्षी द्वारा बताए गए विषय में द्वेष प्रकट करता हो।

३. **नोपस्थाता**- जो राज्यसभा में बुलाए जाने पर उपस्थित न होता हो।

४. **निरुत्तर**- उपस्थित होकर भी जो उत्तर न देता हो।

५. **आहूत प्रपलायी**- उपस्थित होकर पलायन भाग जाए।

हीन प्रतिवादी की स्थिति में लाभ वादी को होता था और हीन वादी की स्थिति में लाभ प्रतिवादी को होता था, जिससे होने वाला निर्णय एक पक्षीय बन जाता था। इस प्रकार के एक पक्षीय निर्णय का विधान उन फौजदारी विवादों में किया जाता था जहां पर निर्णय शीघ्रता से लेना होता था। पर दीवानी मामलों में इस प्रकार की शीघ्रता नहीं की जाती थी तथा प्रतिवादी को कुछ समय भी दिया जाता था। यदि इस निर्धारित समय के अन्दर भी प्रतिवादी हीन जैसे व्यवहार करता था तो उसे हीन प्रतिवादी समझते हुये शीघ्र निर्णय लिया जाता था। इस पर बृहस्पति का मत है कि प्रतिवादी के आह्वान किये जाने पर भी तीन पक्ष (४५ दिन) के अन्दर उपस्थित न होने पर (नोपस्थाता), उपस्थित होकर भी एक सप्ताह के अन्दर उत्तर न देने पर (निरुत्तर) प्रतिवादी को हीन समझते हुए विवाद में पराजित घोषित कर दिया जाना चाहिये। यदि प्रतिवादी साक्षियों को उपस्थित करने का वादा करके भी साक्षियों को उपस्थित नहीं कर पाता था तो भी उसे हीन समझा जाता था।[390] मनु ने भी बृहस्पति के समान प्रतिवादी के द्वारा तीन पक्ष के अन्दर उत्तर नहीं दिये जाने पर हीन प्रतिवादी मानते हुये पराजित पक्षकार घोषित किया है।[391]

उत्तरपाद के अंत में वादी और प्रतिवादी के अभियोग संबंधित कथनों को एक फलक (पेपर) पर लिखा जाता था और इस फलक में वादी और प्रतिवादी के मध्य किसी अभियोग बिन्दु पर बनी सहमति को भी उल्लिखित किया जाता था।[392] इस प्रकार प्रतिवादी के उत्तर दिये जाने के उपरान्त व्यवहार प्रक्रिया अग्रिम चरण क्रियापाद में प्रवेश करती थी।

- **प्रतिभू-**

प्रतिभू को ही वर्तमान में जमानतदार समझा जाता है। अर्थी एवं प्रत्यर्थी के संरक्षण के लिए प्रतिभू का प्रबन्ध राजा द्वारा प्रबंध किया जाता था।[393] यदि राजा प्रतिभू का प्रबंध नहीं कर पाता था तो अर्थी एवं प्रत्यर्थी के संरक्षण के लिए भृत्य (साध्यपाल) की नियुक्ति की जाती थी, परन्तु भृत्यों के वेतन का भार संबंधित अर्थी एवं प्रत्यर्थी को सहन करना पड़ता था।[394]

---

[390] साक्षिणस्तु समुद्दिश्य यस्तु तान्न विवादयेत्। त्रिंसद्रात्रात्त्रिपक्षाद्वा तस्य हानिः प्रजायते॥ बृहस्पतिस्मृति ३/३३

[391] मनुस्मृति ८/५८

[392] वादिभ्यामभ्यनुज्ञातं शेषं च फलके स्थितम्। ससाक्षिकं लिखेयुस्ते प्रतिपत्तिं च वादिनोः॥ नारदस्मृति २/२०

[393] उभयोः प्रतिभूर्ग्राह्यः समर्थः कार्यनिर्णये॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/१०

[394] याज्ञवल्क्यस्मृति २/१० कात्यायनस्मृति मत
अथ चेत्प्रतिभूर्नास्ति वादयोग्यस्य वादिनः। स रक्षितो दिनस्यान्ते दद्याद्दूताय वेतनम्॥ कात्यायनस्मृति ११७

प्रतिभू का कार्य होता था कि वह निर्णय कार्य के लिए अर्थी एवं प्रत्यर्थी को राजा एवं प्राड्विवाक के सम्मुख उपस्थित करें। यदि वादी और प्रतिवादी न्यायालय में नहीं पहुंचते थे या भाग जाते थे तब समस्त अपराधिक कार्यवाही प्रतिभू पर की जाती थी।[395] ऋणादान जैसे व्यवहार में ऋणदाता जिस किसी व्यक्ति की मध्यता में ऋणी को ऋण देता था वह विश्वसनीय पुरुष प्रतिभू होता था। ऐसे में ऋणदाता को प्रतिभू द्वारा ऋण लौटाने का विश्वास दिलाया जाता था कि यदि ऋण नहीं लौटाया गया तब स्वयं के द्वारा ऋण की वापसी की जायेगी। इसलिये नारद ने प्रतिभू को विश्वास पात्र माना हैं।[396]

प्रतिभू के तीन भेद थे- दर्शन प्रतिभू, दान प्रतिभू, प्रत्यय प्रतिभू।[397]

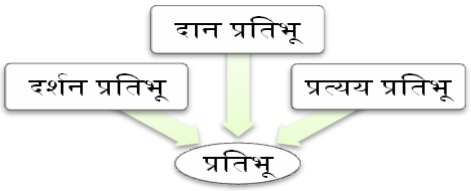

१. **दर्शन प्रतिभू**- वह प्रतिभू जो अर्थी एवं प्रत्यर्थी को न्यायालय में उपस्थित कराने की जिम्मेदारी लेता था।

२. **प्रत्यय प्रतिभू**- वह प्रतिभू जो विश्वास दिलाता था कि मुझ पर विश्वास कर इसे धन दे दो, क्योंकि यह अमुक का पुत्र है, इसकी जमीन उपजाऊ है, यह धोखा नहीं देगा।

३. **दान प्रतिभू**- वह प्रतिभू जो यह प्रतिज्ञा करता था कि अगर यह नहीं वापस देगा तो मैं तुम्हें वापस करूंगा।

ऋणादान अभियोग में, अगर प्रतिभू मर जाए तो उस स्थिति में (दर्शन और प्रत्यय प्रतिभू की मृत्यु होने पर) प्रतिभू के पुत्र को वह ऋण नहीं देना पडता था, परन्तु दान प्रतिभू में प्रतिभू के पुत्र को वह ऋण लौटाना पडता था।[398] अगर व्यवहार में एक से अधिक प्रतिभू होते थे तो आपस में ऋण को बांट लिया जाता था। लेकिन यदि प्रत्येक प्रतिभू पूरा ऋण चुकाने को उद्यत हो तो ऋणदाता को इच्छानुसार किसी एक से ऋण ले लेना का विधान किया गया था।[399]

निषिद्ध प्रत्यभू- प्रतिभू के लिये निषिद्ध व्यक्ति जिनको किसी भी विवाद में प्रतिभू नहीं बनाया जा

---

[395] याज्ञवल्क्यस्मृति २/११

[396] विश्रम्भहेतू द्वावत्र प्रतिभूराधिरेव च। लिखितं साक्षिणश्च द्वे प्रमाणे व्यक्तिकारके॥ नारदस्मृति ४/११७

[397]उपस्थानाय दानाय प्रत्ययाय तथैव च। त्रिविधः प्रतिभूर्दृष्टस्त्रिष्वेवार्थेषु सूरिभिः॥ नारदस्मृति ४/११८
दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाव्यं विधीयते। आद्यौ तु वितथे दाप्यावितरस्य सुता अपि॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/५३
दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः। दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत्॥ मनुस्मृति ८/१६०

[398] दर्शनप्रतिभूर्यत्र मृतः प्रात्ययिकोऽपि वा। न तत्पुत्रा ऋणं दद्युर्दद्युर्दानाय यः स्थितः॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/५४

[399] बहवः स्युर्यदि स्वांशैर्दद्युः प्रतिभुवो धनम्। एकच्छायाश्रितेष्वेषु धनिकस्य यथारुचि॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/५५
बहवश्चेत्प्रतिभुवो दद्युस्तेऽर्थं यथाकृतम्। अर्थेऽविशेषिते ह्येषु धनिनश्छन्दतः क्रिया॥ नारदस्मृति ४/१२०

सकता था वे थे- स्वामी, शत्रु, बन्दी, दण्डित, पैतृकसम्पत्ति का हिस्सेदार, मित्र, शिष्य, सन्यासी, धनीपुरुष, जीवितपिता वाला व्यक्ति इत्यादि ।[400]

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि धर्मशास्त्रकाल में प्रतिभू की व्यवस्था दोनों पक्षों को करनी पडती थी । परन्तु वर्तमान समय में भारतीय न्यायपालिका में वादी की बजाय केवल प्रतिवादी को ही प्रतिभू की व्यवस्था करनी होती है । प्रतिभू को वर्तमान में वकिल के समान समझा जा सकता है ।

2.6.3 तृतीय चरण- क्रियापाद

भाषापाद और उत्तरपाद के बाद व्यवहार का तीसरा पाद क्रियापाद होता था । किन्तु तृतीय एवं चतुर्थ पाद को लेकर धर्मशास्त्रकारों में मतभेद है । कात्यायन ने प्रत्याकलित को तीसरा एवं क्रियापाद को चतुर्थपाद माना है[401] जबकि अन्य नारद, बृहस्पति एवं शुक्र[402] ने क्रियापाद को तृतीयपाद माना है । क्रियापाद में वादी एवं प्रतिवादी द्वारा अपने अभियोग की सिद्धि के लिए प्रमाणों को उपस्थापित करना पड़ता था ।[403] वादी के अभियोग के विरुद्ध प्रतिवादी उत्तर देते हुए अपने पक्ष में प्रमाण को क्रियापाद के अन्तर्गत रखता था ।[404] इन प्रमाणों के आधार पर ही अभियोग का निर्णय किया जाता था । प्रमाणों के चार प्रकार थे जिन्हें मानुषी एवं दैविक प्रमाणों के अन्तर्गत विभाजित गया था[405]- मानुषीप्रमाण- लिखित, भुक्ति एवं साक्षी । दैविकप्रमाण – दिव्य । लिखित, भुक्ति, साक्षी और दिव्य प्रमाण में क्रमश: पूर्ववर्ती प्रमाण अपने से परवर्ती से अधिक प्रामाणिक माना जाता था ।[406] जहां पर मानुषी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता था तो वहां पर दिव्य प्रमाण को आधार बनाया जाता था ।[407]

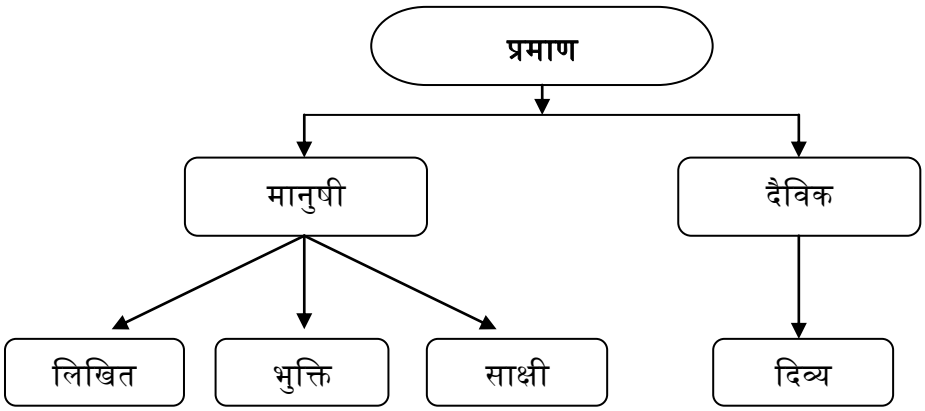

[400] याज्ञवल्क्यस्मृति २/५७ पर मिताक्षरा

[401] पूर्वपक्षश्चोत्तरं च प्रत्याकलितमेव च । क्रियापादश्च तेनायं चतुष्पात्समुदाहृतः ॥ कात्यायनस्मृति ३१

[402] शुक्रनीति ४/५/१५३

[403] श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्वावेदकसंनिधौ । ततोऽर्थी लेखयेत्सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/ ७

[404] कारणप्रतिपत्त्या च पूर्वपक्षे विरोधिते । अभियुक्तेन वै भाव्यं विज्ञेयं पूर्वपक्षवत् ॥ नारदस्मृति २/३१

[405] तत्र मानुषं त्रिविधं, लिखितं भुक्ति: साक्षिणश्चेति । याज्ञवल्क्यस्मृति २/२२ मिताक्षरा,
क्रियापि द्विविधा प्रोक्ता मानुषी दैविकी तथा । मानुषी लेख्यसाक्षिभ्यां घटादिर्दैविकी स्मृता ॥ नारदस्मृति २/२८

[406] त्रिविधस्यास्य दृष्टस्य प्रमाणस्य यथाक्रमम् । पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं भुक्तिरेभ्यो गरीयसी ॥ नारदस्मृति ४/७६

[407] यत्र तत् स्यात् कृतं यत्र करणं च न विद्यते । न चोपलम्भ: पूर्वोक्तस्तत्र दैवी क्रिया भजेत ॥ मनुस्मृति ८/५१

क्रियापाद के प्रमाणों में साक्षी एवं शपथ प्रमाण का भी उल्लेख मिलता है। जटिलपूर्ण विवादों में न्यायोचित् निर्णय के लिये साक्षी प्रमाण का उपयोग किया जाता था।[408] साक्षियों को शपथ दिलाकर सत्य का निर्धारण करना किया जाता था[409] तथा जो विषय सन्देहयुक्त होते थे वहां अनुमान, दैविकप्रमाणों से वास्तविक सत्य को प्रकाश में लाया जाता था।[410]

2.6.4 चतुर्थ चरण- सिद्धिपाद

व्यवहार का अन्तिम चरण सिद्धिपाद होता था[411]। जिसके अन्तर्गत वादी एवं प्रतिवादी के द्वारा प्रस्तुत किये गये साक्ष्यों के आधार पर राजा सभ्यों के साथ मिलकर जय-पराजय का निर्णय करता था।[412] राजा द्वारा निर्णय धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा व्यवहार के अनुसार लिया जाता था। यदि धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र में परस्पर विरोध उत्पन्न हो जाता था तब वहां पर धर्मशास्त्र को महत्ता दी जाती थी। यदि दो स्मृतियों (धर्मशास्त्र) में विरोध हो जाता था तब व्यवहार से निर्णय लिया जाता था।[413] नारद ने निर्णय के चार पाद माने हैं- धर्म, व्यवहार, चरित्र तथा राजशासन। जिसमें परवर्ती पूर्ववर्ती का बाधक होता था[414] अर्थात् धर्म का बाधक व्यवहार, व्यवहार का बाधक चरित्र, चरित्र का बाधक राजशासन। जैसे- यदि कोई व्यक्ति राजद्रोह करता था और कायरतावश अपने अपराध को स्वीकार कर लेता था किन्तु साक्षी द्वारा असत्य प्रमाण दिये जाने पर उसे मृत्यु दण्ड से मुक्त करा दिया जाता था, यहां पर वह धर्मानुसार अपराधी होते हुई भी व्यवहारत: निरपराधी सिद्ध कर दिया गया।[415] अत: यहां धर्म पर व्यवहार हावी हो गया है।

इसलिए राजा को निर्णय अत्यन्त युक्तिपूर्णढ़ंग से करना पडता था क्योंकि असत्य सत्य की भांति और सत्य असत्य की भांति नाना भावों से युक्त दिखाई देता है।[416] यथा- जिस प्रकार भूतल के समान आकाश और अग्नि के समान जुगनू दिखाई देता है पर आकाश में भूतल और जुगनू में अग्नि नहीं है। इसलिये राजा को युक्तियुक्त मार्ग से सत्य की खोज एक शिकारी के समान करने का निर्देश दिया गया था। जैसे- शिकारी मृग के शरीर से गिरते रक्त के आधार पर उसके स्थान का पता लगा लेता है उसी प्रकार राजा को धर्म के अनुसार सत्य का पता लगाना चाहिए।[417] सत्य को जानकर निर्णयस्वरूप राजा द्वारा पराजित घोषित व्यक्ति को शास्त्रानुसार दण्डित किया जाता था और

---

408 गौतम धर्मसूत्र २/४/१

409 आपस्तम्भ धर्मसूत्र २/११/७

410 सन्देहे लिङ्गतो दैवेनेति विचित्य। आपस्तम्भ धर्मसूत्र २/११/६

411 याज्ञवल्क्यस्मृति २/८ मिताक्षरा

412 सभ्यैरेव जितः पश्चाद्राज्ञा शास्यः स्वशास्त्रतः। जयिने चापि देयं स्याद्यथावज्जयपत्रकम्॥ नारदस्मृति २/४३

413 स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः। अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/२१
यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः। अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचारेत्॥ नारदस्मृति १/३९

414 धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्। चतुष्पाद्व्यवहारोऽयमुत्तरः पूर्वबाधकः॥ नारदस्मृति १/१०

415 त्रिपाठी, प्रतिभा, अपराध एवं दण्ड स्मृतियों एवं धर्मसूत्रों के परिप्रेक्ष्य में, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, १९९१, पेज नं. ३१०

416 असत्याः सत्यसंकाशाः सत्याश्चासत्यसंनिभाः। दृश्यन्ते विविधा भावास्तस्माद्युक्तं परीक्षणम्॥ नारदस्मृति १/७१

417 तलवद्दृश्यते व्योम खद्योतो हव्यवाडिव। न तलं विद्यते व्योम्नि न खद्योते हुताशनः॥
तस्मात्प्रत्यक्षदृष्टोऽपि युक्तो ह्यर्थः परीक्षितुम्। परीक्ष्य ज्ञापयन्नर्थान्न धर्मात्परिहीयते॥ नारदस्मृति १/७२-७३

विजयी पक्ष को आवश्यकतानुसार जयपत्र दिया जाता था ।[418] जयपत्र पर पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, साक्षी, साक्षियों का विचार-विमर्श, उपस्थित प्रमाण, तर्क-युक्ति, सभ्यों के विचार एवं प्राड्विवाकादि के हस्ताक्षर के साथ राजमुद्रा को भी अंकित किया जाता था ।[419]

लेकिन यदि ऐसा कोई विवाद उपस्थित हो जाये जिसमें न कोई लिखित प्रमाण हो, न त्रिपुरुषी भुक्ति हो, न कोई साक्षी हो और न कोई दिव्य प्रमाण हो तब शासक/राजा के द्वारा अन्तिम निर्णय लिया जाता था क्योंकि राजा सबका स्वामी होता था ।[420]

- **निर्णय में शीघ्रता-**

धर्मशास्त्रकारों ने यथासंभव दीवानी एवं अपराधिक दोनों मामलों में शीघ्रता से निर्णय लिये जाने का विधान किया है । इसके लिये इन्होने सभी पक्षों को उत्तरदायी बनाया । चाहे वह राजा हो या वादी-प्रतिवादी या अन्य न्यायिकगण हो । राजा के लिये कहा गया है कि राजा को उद्योगशील होकर व्यवहार एवं राज्य सम्बन्धित कार्यों को न्यायोचितढंग से देखना चाहिए, क्योंकि उद्योगहीनता अनेक प्रकार के अनर्थों को पैदा करने वाली होती है जिससे राजशासन को खतरा भी हो सकता है ।[421] और साथ ही वादी एवं प्रतिवादी से निर्णय में शीघ्रता के लिये यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपना अपना मत निर्धारित समय के अन्दर प्रस्तुत करे, अन्यथा उन्हें अपराधी माना जायेगा ।

निर्णय में शीघ्रता का यह नियम केवल फौजदारी मामलों में लागू होता था । वे मामले थे- साहस, स्तेय, पारुषय (दण्डपारुष्य), दूधारु गाय के महापातक, प्राण-धन नाश एवं स्त्रीयों से सम्बन्धित मामले । इन विवादो में शीघ्रता से निर्णय लिया जाता था तथा इनमें किसी भी तरह का विलम्ब स्वीकार नहीं किया जाता था ।[422] बृहस्पति ने याज्ञवल्क्य की अविलम्ब विवादों के निर्णय की सूची में न्यास, दत्त, बैल एवं क्षेत्र को भी शामिल किया है ।[423]

दीवानी मामलों में तो कुछ परिस्थितियां ऐसी भी थी जहां पर अपने पक्ष की प्रस्तुति हेतु समय का भी निर्धारण किया गया था । किन्तु यह समय केवल प्रतिवादी को दिया जाता था । ऐसा कौटिल्य का मत है कि जब न्यायाधीश वादी एवं प्रतिवादी से प्रश्न पूछता है तब वादी को तुरन्त उत्तर देना होता है अन्यथा उसे पराजित समझा जाता था । इसके पीछे व्यवहारिक तर्क यह दिया कि वादी पूर्ण विचारविमर्श के उपरान्त ही न्यायालय में वाद प्रस्तुत करता है और उस वाद का सम्पूर्ण ज्ञान

---

[418] सभ्यैरेव जितः पश्चाद्राज्ञा शास्यः स्वशास्त्रतः । जयिने चापि देयं स्याद्यथावज्जयपत्रकम् ॥ नारदस्मृति २/४३

[419] याज्ञवल्क्यस्मृति २/९१ वशिष्ट मत

[420] लेख्यं यत्र न विद्यते न भुक्तिर्न च साक्षिणः । न च दिव्यावतरोऽस्ति प्रमाणं तत्र पार्थिवः ॥
निश्चितुं ये न शक्याः स्युर्वादाः संदिन्धरुपिणः । तेषां नृपः प्रमाणस्यात् सः सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥ पितामह, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ.२६

[421] कौटिल्य २/१

[422] साहसस्तेयपारुष्य- गोऽभिशापात्यये स्त्रियाम् । विवादयेत्सद्य एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्मृतः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/१२

[423] साहसस्तेयपारुष्य- गोऽभिशापे तथात्यये । भूमौ विवादयेत्क्षिप्रमकालेऽपि बृहस्पतिः ॥ बृहस्पतिस्मृति ३/९

भी रखता है । जबकि प्रतिवादी शायद तुरन्त उत्तर देने की स्थिति में नहीं होता है इसलिए उसे स्वयं का मत प्रस्तुत करने हेतु ३ से ७ रात्रि का समय भी दिया जाता था । लेकिन यदि प्रतिवादी इस (३ से ७ रात्रि) निर्धारित समय में उत्तर नहीं दे पाता था तो उसे ३-१२ पणों से दण्डित किया जाता था और यदि वह तीन पक्षों (४५ दिन) की समयावधि में भी उत्तर नहीं दे पाता था तो उसे अपराधी समझा जाता था ।[424] मनु के अनुसार तीन पक्षों के अन्दर उत्तर न देने वाला प्रतिवादी धर्म से भी पराजित होता है ।[425]

किन्तु यह अतिरिक्त समय किन किन विवादों में दिया जाता था? इसका निर्धारण विवाद की प्रकृति के आधार पर निर्धारित किया जाता था । जैसे- सम्पत्ति सम्बन्धी विवाद ।[426] यह अतिरिक्त समय भी अधिकतम एक वर्ष का दिया जाता था,[427] इससे अधिक नहीं ।[428] विवाद की प्रकृति के साथ यह एक वर्षीय समयावधि प्रतिवादी की स्थिति पर भी निर्भर करती थी । अगर प्रतिवादी अप्रगल्भ हो, याददाश्त चली गई हो, मानसिक एवं शारीरिक अक्षमतावश स्वयं को प्रस्तुत करने में असमर्थ हो, साक्षी विदेश में निवास करता हो तब प्रतिवादी को एक दिन से एक वर्ष की अवधि प्रत्युत्तर हेतु दी जाती थी ।[429]

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि धर्मशास्त्रकार विवादों में शीघ्रातिशीघ्र निर्णय लिये जाने के पक्षधर तो थे ही साथ ही वे प्रतिवादी की स्थिति के अनुसार विशेष परिस्थितियों में समय दिये जाने के भी समर्थक थे । ताकि प्रतिवादी अपने पक्ष को प्रस्तुत कर सकें । यह शीघ्रातिशीघ्र निर्णय लेने की व्यवस्था तात्कालिक न्यायिक व्यवस्था का विशेष गुण थी । क्योंकि निर्णय में विलम्ब होने से या विवाद के निर्णय की अवधि लम्बी होने से आवेदित पक्ष को बहुत परेशानी झेलनी पडती है जिससे उसका न्याय व्यवस्था के प्रति विश्वास खत्म होने लगता है । इसलिए कात्यायन ने कहा कि न्याय में विलम्ब करना मतलब व्यक्ति को न्याय से वंचित करना होगा ।[430] शायद इसीलिए धर्मशास्त्रकारों ने इस विलम्बकारी निर्णय प्रक्रिया को दोषपूर्ण मानते हुये निर्णय में यथाशीघ्रता करने पर बल दिया । इसी वजह से धर्मशास्त्रकालीन व्यवहार प्रक्रिया में आवेदन की प्रस्तुति के साथ ही न्यायिक प्रक्रिया शुरु हो जाती थी ।

- **प्रतिदिन के व्यवहार का विचारक्रम-**

सामान्यत: न्यायालय में प्रतिदिन विभिन्न श्रेणीयों के विवाद उपस्थित होते थे । ऐसी स्थिति में धर्मशास्त्रीय व्यवहारप्रक्रिया में उपस्थित विभिन्न श्रेणी के विवादों में से किस विवाद पर पहले विचार किया जाता था? व्यवहार का विचारक्रम कैसा होता था या किस आधार पर व्यवहार को

---

[424] कौटिल्य २/१

[425] अभियोक्ता न चेद्ब्रूयाद्व्रध्यो दण्ड्यश्च धर्मतः । न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥ मनुस्मृति ८/५८

[426] पितामह, स्मृतिचन्द्रिका, अध्याय २, पृ. ४३

[427] गौतम १३/२९-३०

[428] पितामह, स्मृतिचन्द्रिका, अध्याय २, पृ. ४०

[429] पितामह, स्मृतिचन्द्रिका, अध्याय २, पृ. ४०

[430] न कालहरणं कार्यं राज्ञा साक्षिप्रभाषणे । महान् दोषो भवेत्कालाद्धर्मव्यावृत्तिलक्षणः ॥ कात्यायनस्मृति ३३९

क्रमबद्ध देखा जाता था- इत्यादि प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। इन प्रश्नों को ध्यान को ध्यान में रखते हुए धर्मशास्त्रकारों ने प्रतिदिन के व्यवहारदर्शन का क्रम भी निर्धारित किया था-

मनु के अनुसार अनेक विवादों के उपस्थित होने पर व्यवहारदर्शन वर्ण श्रेष्ठता के आधार पर किया जाना चाहिये अर्थात् राजा को क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के व्यवहार को देखना चाहिये।[431]

नारद के अनुसार विवादों के व्यवहारदर्शन में उन विवादों को शीघ्र- अतिशीघ्र देखना चाहिये जिनमें व्यक्ति को अधिक पीडा/क्षति हो रही है।[432] अर्थात पीडा की गुरुता के आधार पर व्यवहारदर्शन।

बृहस्पति के अनुसार कन्यादूषण, क्रय-विक्रय, कलह, दत्त, न्यास, बलात्कार, बैल, स्तेय, स्त्री, साहस, क्षेत्र, प्रजनन आदि विवादों में वैसे तो शीघ्र विचार करना चाहिए अन्यथा अक्षरक्रम से व्यवहार को देखना वाहिए।[433]

कौटिल्य के अनुसार प्रतिदिन होने वाली विवादों की बहुलता में से क्रमशः देवालय, आश्रय, धूतपाखण्डीयों का केन्द्र, वेदपाठी ब्राह्मण संस्थान, पशुशाला, बाल, वृद्ध, रुग्ण, दुखी, अनाथ तथा स्त्रियों के व्यवहार को देखना चाहिये। इसके सम्बन्धित विवादों में से उस व्यवहार को पहले देखना चाहिये जिसके व्यवहार में अधिक समय लग गया हो क्योंकि व्यवहारविधि में विलम्ब कष्टकारी होता है।[434] तथा कात्यायन के अनुसार ऐसे विवादों को प्राथमिकता दी जानी चाहिये जिसमें विलम्ब से अधिक अनिष्ठ होने की सम्भावना हो।[435]

इस प्रकार धर्मशास्त्रकारों में प्रतिदिन के व्यवहारदर्शन के क्रम में क्रमगत भिन्नता है लेकिन इन क्रमों को विवादों की प्रकृति के आधार पर त्यागा भी जा सकता था।[436] क्योंकि इन व्यवस्थाकारों का मूल उद्देश्य शीघ्रता से न्यायिक निर्णय की स्थिति में पहुंचना होता था।

- **व्यवहार/विवाद देखने का समय-**

निष्पक्षतापूर्ण न्याय के सम्पादन हेतु व्यवहार को देखने के लिए समय का भी निर्धारण किया गया ताकि उस निर्धारित समय में सिर्फ व्यवहार को देखा जा सके। मनु के अनुसार राजा को

---

431 अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ। वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम्॥ मनुस्मृति ८/२४

432 यस्य वाभ्यधिकापीडा कार्यं वाभ्यधिकं भवेत। तस्यार्थिवादो दातव्यो न यः निवेदयेत्॥ नारद, व्यवहारप्रकाश, पृ.४५

433 कन्याया दूषणे स्तेये कलहे साहसेषु च। उपधौ कूटसाक्ष्ये च सद्य एव विवादयेत्॥
धेनावनडुहि क्षेत्रे स्त्रीषु प्रजनने तथा। न्यासे याचितके दत्ते तथैव क्रयविक्रये॥ बृहस्पतिस्मृति ३/११-१२
अहं पूर्विकया यातावर्थिप्रत्यर्थिनौ यदा। वादो वर्णानुपूर्व्येण ग्राह्यः पीडामवेक्ष्य वा॥ बृहस्पतिस्मृति १/१७२

434 तस्माद्देवताश्रमपाषण्डश्रोत्रियपशुपुण्यस्थानानांबलवृद्धव्याधिव्यसन्यनाथानां स्त्रीणां च क्रमेण कार्याणि पश्येत्। कार्यगौरवादात्ययिकवशेन वा। कौटिल्य १/१९

435 यस्य स्यादधिका पीडा कार्यं वाप्यधिकं भवेत्। पूर्वपक्षो भवेत्तस्य न यः पूर्वं निवेदयेत्॥ कात्यायनस्मृति १२२

436 शुक्रनीति ४/५/१५३

प्रात:काल शौचादि नित्य कर्मों से निवृत्ति के उपरान्त अग्निहोत्रि एवं ब्राह्मण का सम्मान करने के पश्चात् न्यायालय जाना चाहिए ।[437] याज्ञवल्क्य ने राजा को नित्यकर्मों के उपरान्त राजकार्यों में सर्वप्रथम आय-व्यय को देखने के उपरान्त मध्याह्न से पूर्व व्यवहार कार्यों को देखना चाहिए ।[438] कौटिल्य के अनुसार राजा द्वारा दिन को आठ भागों में विभाजित करते हुए, दूसरे भाग में विवादों को देखना चाहिए ।[439] जबकि कात्यायन ने दिन के आठ भागों में से प्रथम तीन भागों में व्यवहार को देखने का विधान किया है ।[440] और साथ ही मास के अष्टमी, चतुर्दशी, पुर्णिमा तथा अमावस्या को न्यायकार्य हेतु अवकाश का दिन निर्धारित किया ।[441] इस प्रकार एक मास में ६ दिन का न्यायालय अवकाश होता था ।

2.7 पुन: न्याय-

पुन:न्याय अर्थात् विवाद का निर्णय होने के पश्चात् भी निर्णय को धर्मानुसार न होने वाला समझने पर पुन: मुकदमें पर विचार करने के लिए आवेदन करना । यह आवेदन विवादी पराजय मुकदमें का दोगुना दण्ड देने के पश्चात् ही कर सकता था अर्थात् विवादी शास्त्रानुसार निर्णय की अवस्था तक पहुंचने (तीरित) एवं दण्ड का निश्चय हो जाने (अनुशिष्ट) पर निर्णय को धर्मानुसार न मानते हुए पराजय हेतु निमित्त का दोगुना दण्ड देकर पुन: न्याय करवा सकता था ।[442]

लेकिन इस तरह का पुनर्न्याय उन्हीं विवादों पर हो सकता था जिनकी व्यवहार प्रक्रिया में साक्षी एवं सभ्यों के दोष से गलत निर्णय लिया गया हो, पर यदि कोई अपने ही प्रमाणों से पराजय हुआ हो तो उसके निर्णय पर पुनर्विचार नहीं हो सकता था ।[443]

पुन: न्याय हेतु आवेदित व्यवहारपद/विवाद पर राजा द्वारा पुनर्विचार किया जाता था । पुनर्विचार के समय यदि राजा को यह ज्ञात होता था कि सभ्यों के द्वारा व्यवहार को अधर्मपूर्वक देखा गया है तब सभ्यों एवं विजयी पक्ष दोनों को पराजित पक्ष का दोगुना दण्ड पृथक्-पृथक् दिया जाता था ।[444]

---

[437] मनुस्मृति ७/१४५

[438] याज्ञवल्क्यस्मृति १/३२७

[439] द्वितीये पौरजानपदानां कार्याणि पश्येत् । कौटिल्य १/१९

[440] कात्यायनस्मृति, व्यवहारप्रकाश, पृ.२१

[441] सभास्थानेषु पूर्वाह्णे कार्याणां निर्णयं नृपः । कुर्याच्छास्त्रप्रणीतेन मार्गेणामित्रकर्षणः ॥
दिवसस्याष्टमं भागं मुक्त्वा कालत्रयं तु यत् । स कालो व्यवहाराणां शास्त्रदृष्टः परः स्मृतः ॥
आद्यादह्नोऽष्टभागाद्यदूर्ध्वं भागत्रयं भवेत् । स कालो व्यवहारस्य शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः ॥ कात्यायनस्मृति ६०-६२

[442] तीरितं चानुशिष्टं च यो मन्येत विधर्मतः । द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत् ॥ नारदस्मृति १/६५
यो मन्येताजितोऽस्मीति न्यायेनापि पराजितः । तमायान्तं पुनर्जित्वा दापयेद्द्विगुणं दमम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/३०६
मनुस्मृति ९/२३३

[443] साक्षिसभ्यावसन्नानां दूषणे दर्शनं पुनः । स्वचर्यावसितानां तु नास्ति पौनर्भवो विधिः ॥ नारदस्मृति २/४०

[444] दुर्दृष्टांस्तु पुनर्दृष्ट्वा व्यवहारान्नृपेण तु । सभ्याः सजयिनो दण्ड्या विवादाद्द्विगुणं दमम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/३०५
दुर्दृष्टे व्यवहारे तु सभ्यास्तं दण्डमाप्नुयुः । न हि जातु विना दण्डं कश्चिन्मार्गेऽवतिष्ठते ॥ नारदस्मृति १/६६
मनुस्मृति ९/२३४

निष्कर्षत: धर्मशास्त्रकारों ने व्यवहार के स्वरूप की विस्तृत चर्चा करते हुए १८ व्यवहारपदों का भी निर्धारण किया । इन व्यवहारपदों के निर्णयार्थ सभा नामक न्यायिक संस्था की स्थापना की गई, जिसमें आवश्यक सभी न्यायिक अधिकारियों के साथ-साथ वादी, प्रतिवादी, साक्षी एवं अन्य जन उपस्थित हुआ करते थे । इस सभा में व्यवहार को राजा द्वारा देखा जाता था । वह इस प्रधान न्यायालय का सर्वोच्च अधिकारी होता था । यह प्रधान न्यायालय अंतिम अपीलिय न्यायालय हुआ करता था क्योंकि अन्य श्रेणीगत स्तर पर विभाजित स्थानीय न्यायालयों के अनिर्णीत विवादों की अंतिम अपील इस प्रधान न्यायालय में की जाती थी । इन व्यवहारपदों के निर्णयार्थ एक निश्चित व्यवहार प्रक्रिया होती थी । यह व्यवहार प्रक्रिया विवाद होने पर उसके आवेदन से लेकर भाषा, उत्तर, साक्षी एवं सिद्धि/निर्णय- इन चार चरणों के माध्यम से निर्णय तक पहुंचती थी । जिसमें विवादों का निर्णय उपस्थापित साक्ष्यों/प्रमाणों के आधार पर किया जाता था । व्यवहार प्रक्रिया में प्रमाणों अर्थात् क्रियापाद की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी । इसकी महत्ता को स्वीकर करते हुए अग्रिम अध्यायों में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन अपेक्षित है । जिसको आधार बनाकर धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था का क्रमबद्ध निर्माण किया जा सकता है । जो तात्कालिक समाज के सुव्यवस्थित एवं संयमित होने का परिचय देता है कि तात्कालिक समय में विधि का प्रशासन था और इस विधि के अधीन समस्त जन शासित होते थे चाहे वह राजा हो या सामान्य जन ।

क्रिया प्रमाण - लिखित प्रमाण

अध्याय - 3

क्रिया प्रमाण-लिखित प्रमाण

3.1 क्रिया प्रमाण-

किसी विवाद का उत्तरपाद से क्रियापाद या बिना क्रियापाद के सीधे निर्णयपाद में प्रवेश करने का आधार उत्तरपाद होता था अर्थात् क्रियापाद में प्रविष्ट होने का कारण प्रतिवादी का मिथ्या, प्रत्यस्कन्दन एवं प्राङ्न्याय प्रकार का उत्तर होता था । जैसे- यदि प्रतिवादी का उत्तर सम्प्रतिपत्ति प्रकार का होता था तो वाद वही पर समाप्त हो जाता था और कियापाद की जगह सीधे निर्णयपाद में पहुंच जाता था, यदि उत्तर मिथ्या, प्रत्यस्कन्दन एवं प्राङ्न्याय प्रकार का होता था तो सम्पूर्ण व्यवहार प्रक्रिया का क्रमबद्धढंग से पालन किया जाता था । क्रियापाद में वादी एवं प्रतिवादी स्वयं की निर्दोषता को सिद्ध करने के लिये प्रमाण को उपस्थित करते थे । किसी भी विवाद में चाहे वह व्यवहार दिवानी (अर्थमूलक) हो या अपराधी (हिंसामूलक), न्यायाधीशों द्वारा विवाद में प्रस्तुत प्रमाणों के समुचित परीक्षण के उपरान्त ही निष्कर्ष/निर्णय तक पहुंचा जाता था । इस निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए विवाद के संबंधित पक्षों (वादी एवं प्रतिवादी) को स्वयं की निर्दोषता के समर्थन में समुचित प्रमाणों को प्रस्तुत करने का अवसर दिया जाता था । पर विवाद में किस पक्ष पर प्रमाण प्रस्तुति का भार होगा इसका निर्धारण सबूत के भार के द्वारा निर्धारित किया जाता था ।

3.2 सबूत का भार (प्रमाण प्रस्तुति का भार)-

सबूत के भार का निर्धारण प्रतिवादी के उत्तर के आधार पर किया जाता था अर्थात् जब वादी विवाद के लिये आवेदन करता था तब प्रतिवादी द्वारा उसका जो भी प्रत्युत्तर दिया जाता था उस प्रत्युत्तर के आधार पर सभ्यगणों के द्वारा सबूत के भार का निर्धारण किया जाता था ।

मनु के अनुसार यदि प्रतिवादी अस्वीकार/मिथ्या प्रकार का उत्तर देता है तो सबूत का भार वादी पर होगा जिसमें वादी को अपना मत राजा एवं ब्राह्मण के सम्मुख तीन साक्षियों के साथ प्रस्तुत करना पडेगा, यदि प्रतिवादी प्राङ्न्याय का उत्तर देता है तो सबूत का भार प्रतिवादी पर होगा और यदि प्रतिवादी स्वीकारात्मक उत्तर देता है तो सबूत का भार किसी पर भी नहीं होगा ।[445] याज्ञवल्क्य के अनुसार जिसके साक्षियों के द्वारा प्रतिज्ञा को सत्य सिद्ध किया जायेगा वह विजयी और जिसके साक्षियों के द्वारा कूट व्यवहार किया जायेगा वह पराजित होगा । तथा स्वीकारात्मक उत्तर में सबूत का भार प्रतिवादी पर होता है जो उसको प्रख्यात (स्वीकार) करता है ।[446] जैसे- वादी

---

[445] पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा । त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसंनिधौ ॥ मनुस्मृति८/६०
२/७ याज्ञवल्क्य पर हारीत

[446] यस्योचु: साक्षिण: सत्यां प्रतिज्ञां स जयी भवेत् । अन्यथा वादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजय: ॥ २/७९ याज्ञवल्क्य पर मिताक्षरा
पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-३, पृ. ३०४

(ऋणदाता) द्वारा जब ऋण का व्यवहार उपस्थित किया जाता है तब यदि ऋणी (प्रतिवादी) ऋण को अस्वीकार कर देता है तो प्रमाण का भार वादी पर आ जाता है और उसे साक्षी आदि को प्रमाण स्वरूप उपस्थित करना पडता था। और यदि ऋणी यह उत्तर देता था कि उसने ऋण लिया था पर लौटा दिया, तब ऋणी पर प्रमाण का भार आ जाता था और उसे स्वपक्ष की सिद्धि करनी पडती थी अन्यथा उसे पराजित माना जाता था।

यह नियम **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की **धारा 101** में लिखित नियम के अनुरूप है- धारा 101, सबूत का भार के नियम के अनुसार– सबूत का भार उस पक्षकार पर होता है जो कोई वाद लेकर आता है। उसका यह वाद आरम्भ से अंत तक बना रहता है। जब कोई व्यक्ति न्यायालय से यह चाहता है कि न्यायालय उसके किसी विधिक अधिकार या दायित्व के बारे में निर्णय कर दे जो उन तथ्यों के अस्तित्व पर निर्भर है जिन्हें वह प्राख्यात करता है अर्थात स्वीकार करता है। उसे यह साबित करना होगा कि उन तथ्यों का अस्तित्व है।[447] उदाहरण के लिए– (१.) यदि a यह चाहता है कि न्यायालय b को इस अपराध के लिए दण्डित करें जो अपराध b ने किया है तो a को यह साबित करना होगा कि b ने वह अपराध किया है, अथवा (२.)- यदि a यह चाहता है कि न्यायालय ऐसा निर्णय दे कि उसे अमुक भूमि पर भौमिक अधिकार प्राप्त है जो भूमि b के कब्जे में है तो a को यह साबित करना होगा कि किन तथ्यों के आधार पर उसका स्वामित्व है। प्रमाण अधिनियम की धारा- 105 में यह बताया गया है कि यह साबित करने का भार कि अभियुक्त का मामला अपवादों के अन्तर्गत आता है, उस व्यक्ति पर होता है जो ऐसी परिस्थितियों या अपवादों का लाभ उठाना चाहता है। जैसे- हत्या का आरोपी सुनील यह अभिकथित करता है कि पागलपन के कारण वह उस कार्य की प्रकृति को नहीं जानता था। वह पागलपन के अपवाद का लाभ न्यायालय से प्राप्त करना चाहता है तो ऐसी दशा में सबूत का ये भार उस पर ही होगा की घटना के समय वह पागलपन के अधीन था तथा वह उस कार्य (हत्या) की प्रकृति को नहीं जानता था। इसी तरह मोहन जो की हत्या का आरोपी है वह यह कहता है कि वह गंभीर और अचानक आत्म नियंत्रण की शक्ति से वंचित हो गया था तो यह सिध्द करने का भार मोहन पर ही होगा कि वो गम्भीर और अचानक आत्म नियंत्रण की शक्ति से वंचित हो गया था। यदि वह इन परिस्थितियों को सिध्द नहीं कर सका तो न्यायालय उसे दंडित कर सकती है।

इस प्रकार अंग्रेजी विधि के सबूत के भार के नियम को धारा 101 में शामिल करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि सबूत का भार उस व्यक्ति पर है जो किसी तथ्य के अस्तित्व को स्वीकार करता है। सबूत के भार का निर्धारण किये जाने पर वादी/प्रतिवादी को सबूत (प्रमाण) को प्रस्तुत करना होता था, ये प्रमाण विविध प्रकार के हो सकते थे।

[447] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 101

3.3 प्रमाण का वर्गीकरण-

भारतीय दर्शन में प्रमाण उसे माना गया हैं जो सत्य ज्ञान कराने में सहायता प्रदान करता है। 'प्रमा' से आशय यथार्थ ज्ञान है और इस यथार्थ ज्ञान का जो करण होता है अर्थात् जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है उसे प्रमाण कहते हैं। यथार्थ अनुभव को ही 'प्रमा' माना गया है जिसमें 'स्मृति' तथा 'संशय' आदि नहीं आते । इसी को शास्त्रदीपिका में कहा है- कारणदोषबाधकज्ञानरहितम् अगृहीतग्राहि ज्ञानं प्रमाणम् अर्थात जिस ज्ञान में अज्ञात वस्तु का अनुभव हो और जो अन्य ज्ञान से बाधित न हो एवं दोष रहित हो, वही 'प्रमाण' है। इस प्रमाण के भेद किये गये है जिसमें इंद्रियों के साथ संबंध होने से किसी वस्तु का जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है, लिंग (लक्षण) और लिंगी दोनों के प्रत्यक्ष ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान को अनुमान माना गया है, किसी जानी हुई वस्तु के सादृश्य द्वारा किसी दूसरी वस्तु का ज्ञान जिस प्रमाण से होता है वह उपमान कहा गया है जैसे, गाय के सदृश ही नील गाय होती है, आप्त या विश्वासपात्र पुरुष की बात को शब्द प्रमाण माना गया है। इन चार प्रमाणों के अतिरिक्त मीमांसक, वेदांती और पौराणिक चार प्रकार के ओर प्रमाण मानते हैं- ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अनुपलब्धि या अभाव । जो बात केवल परंपरा से प्रसिद्ध चली आती है वह जिस प्रमाण से मानी जाती है उसको ऐतिह्य प्रमाण कहते हैं। जिस बात से बिना किसी देखी या सुनी बात के अर्थ में आपत्ति आती हो उसके लिये अर्थापत्ति प्रमाण है, जैसे- मोटा देवदत्त दिन को नहीं खाता, यह जानकर यह मानना पड़ता है कि देवदत्त रात को खाता है क्योंकि बिना खाए कोई मोटा हो नहीं सकता । व्यापक के भीतर व्याप्य का होना जिस प्रमाण से सिद्ध होता है उसे संभव प्रमाण कहते हैं, जैसे- सेर के भीतर छटाँक का होना। किसी वस्तु का न होना जिससे सिद्ध होता है उसे अभाव प्रमाण कहते हैं, जैसे- चूहे निकलकर बैठे हुए हैं इससे बिल्ली यहाँ नहीं है।

परन्तु धर्मशास्त्र में प्रमाण का प्रयोग ज्ञान प्राप्ति के साधन की बजाय विवादों के सन्दर्भ में किया गया है जिसमें प्रमाणों के आधार पर किसी विवाद का निर्णय लिया जाता था। ये प्रमाण उस विवाद की ज्ञान प्राप्ति से जुडे होते थे जिनके सम्बन्ध में न्यायप्रक्रिया चल रही होती थी । धर्मशास्त्रकारों ने विविध प्रकार के प्रमाणों का उल्लेख किया है जिनकी सभी विवादों में आवश्यकता होती थी, चाहे वे विवाद हिंसामूलक हो या अर्थमूलक। क्योंकि इन प्रमाणों के आधार पर ही विवादों का निर्णय लिया जाता था । अत: दोनों पक्षों के द्वारा ही सबल प्रमाणों को उपस्थापित करने का प्रयास किया जाता था । जिस भी पक्ष के द्वारा अधिक प्रमाणिक साक्ष्यों/प्रमाणों को प्रस्तुत किया जाता था उस विवाद का निर्णय उसी के पक्ष में होता था। विवाद के निर्णय तक पहुंचने के लिए प्रमाण की भूमिका अतिमहत्वपूर्ण होती थी क्योंकि सभासद् आदि न्यायिक अधिकारियों के द्वारा इन्हीं प्रमाणों के आधार पर निर्णय लिया जाता था।

गौतम ने केवल साक्षी प्रमाण का उल्लेख किया है ।[448] वशिष्ठ ने दस्तावेज (लिखित) तथा स्वामित्त्व (भुक्ति) दो प्रमाणों को स्वीकार किया है ।[449] विष्णु ने केवल दिव्य (समयक्रिया) प्रमाण का उल्लेख किया है ।[450] याज्ञवल्क्य[451] ने तीन मुख्य प्रमाण माने हैं- लिखित, भुक्ति एवं साक्षी तथा इन तीनों प्रमाणों के अभाव में चतुर्थ दिव्य प्रमाण का प्रयोग किये जाने का विधान किया है । अर्थात् याज्ञवल्क्य ने चार प्रमाण माने हैं । नारद ने प्रमाण के दो भेद किये हैं- मानुषी एवं दैविकी । पुन: मानुषी प्रमाण के तीन भेद- लिखित, भुक्ति एवं साक्षी तथा दैविकी प्रमाण के ९ भेद किये हैं ।[452] बृहस्पति ने प्रमाण के दो भेदों में से प्रथम मानुषी प्रमाण के तीन भेद किये- लिखित, साक्षी एवं अनुमान तथा द्वितीय दैविकी प्रमाण के भेद ९ भेद किये- अग्नि, जल, विष, कोश, तन्डुल, तप्तमाष, फाल एवं धर्मज्ञ ।[453] व्यास ने मानुषी प्रमाण के अन्तर्गत लिखित, प्रमाण, अनुमान, हेतु एवं तर्क को स्थान दिया है ।[454]

प्रमाणों में श्रेष्ठता का क्रम- बृहस्पति के अनुसार अनुमानजन्य परिस्थितिप्रमाण की अपेक्षा प्रत्यक्षदर्शी साक्षी, साक्षियों की अपेक्षा लिखित दस्तावेज, लिखित दस्तावेज की अपेक्षा तीन पीढीयों का क्रमागत व्यवधानरहित भोग उत्कृष्ट होता है अर्थात् भुक्ति सबसे श्रेष्ट प्रमाण है ।[455]

इस प्रकार धर्मशास्त्रकारों ने समस्त प्रमाणों को दो श्रेणियों में विभाजित किया था- मानुषी एवं दैविकी प्रमाण । मानुषी प्रमाण के अन्तर्गत- लिखित, भुक्ति, साक्षी, हेतु, तर्क एवं अनुमान को रखा गया तथा दैविकी प्रमाण में जल आदि ९ दिव्यों को स्थान दिया गया था ।

---

448 विप्रतिपत्तौ साक्षेनिमित्ता सत्यव्यवस्था । शपथ नैके सत्यकर्म ॥ गौतम धर्मसूत्र

449 वशिष्ठ धर्मसूत्र

450 अथ समयक्रिया ॥ विष्णु धर्मसूत्र ९/१

451 प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम् । एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/२२

452 क्रियापि द्विविधा प्रोक्ता मानुषी दैविकी तथा । मानुषी लेख्यसाक्षिभ्यां धटादिर्दैविकी स्मृता ॥ नारदस्मृति २/२८

453 साक्षिलेख्यानुमानं च मानुषी त्रिविधा क्रिया । साक्षी द्वादश भेदस्तु लिखितं त्वष्टधा स्मृतम् ॥ बृहस्पतिस्मृति ४/८
घटोऽग्निरुदकं चैव विषं कोशश्च पञ्चमम् । षष्ठं च तण्डुलाः प्रोक्तं सप्तमं तप्तमाषकः ॥
अष्टमं कालमित्युक्तं नवमं धर्मकं तथा । दिव्येनायाति सर्वाणि निर्दिष्टानि स्वयम्भुवा ॥ बृहस्पतिस्मृति ८/३-४

454 लिखितं साक्षिणो भुक्ति: प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम । अनुमानं विदुर्हेतुस्तर्क श्चेति मनीषिण: ॥ व्यासस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ.११९

455 अनुमानाद्गुरु:साक्षी साक्षिभ्यो लिखितम् गुरु । अव्याहतभिपुरुषि भुक्तिरेभ्यो गरीयसी ॥ बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारमयूख, पृ, ३५०

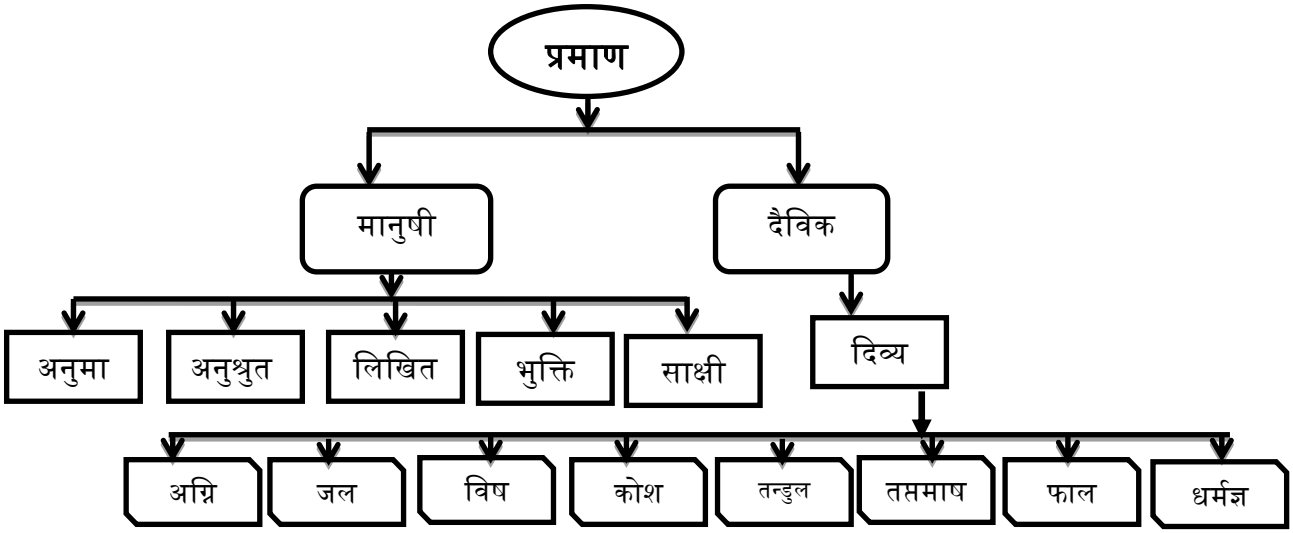

भारतीय साक्ष्य अधिनियम में साक्ष्य (प्रमाण) प्रमुख रूप से दो प्रकार का है - (१) मौखिक प्रमाण (२) दस्तावेजी प्रमाण । इसके अतिरिक्त प्रमाण के अन्य प्रकार है- (१) प्रत्यक्ष प्रमाण (२) परिस्थिति जन्य प्रमाण (३) यथार्थ प्रमाण (४) अनुश्रुत प्रमाण (५) प्राथमिक प्रमाण (६) द्वितियक प्रमाण (७) मौखिक प्रमाण (८) दस्तावेजी प्रमाण ।[456]

१. प्रत्यक्ष प्रमाण- प्रत्यक्ष प्रमाण से आशय उस प्रमाण से है जहां तथ्य सीधे गवाहो, वस्तुओं या दस्तावेजों के द्वारा प्रमाणित किए जाते हैं । जैसे- किसी हत्या के प्रकरण में कोई साक्षी यह कहता है कि मेंरे सामने राम ने श्याम को चाकू से मारा, तो यह प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

२. परिस्थितिजन्य प्रमाण- परिस्थितिजन्य प्रमाण कार्यकारण से सम्बधित तथ्यों से अत्यंत निकट से जूडा होता है जो निश्चित निष्कर्ष की ओर ले जाता है । इसमें अभियुक्त का प्रमाण, उसकी धमकिया, उसके द्वारा प्रयत्न की तैयारी, उसके द्वारा प्रमाण का बनाया जाना या बिगाडा जाना, उसका पद हैसियत चरित्र आदि आते हैं । जैसे- राम पर श्याम की हत्या का आरोप है इस मामले में दो प्रकार से प्रमाण दिए जा सकते हैं, गवाह यह कह सकते हैं कि उसकी उपस्थिति में राम ने श्याम की हत्या की किन्तु यह भी सम्भव है कि श्याम को किसी ने हत्या करते ना देखा हो तब राम और श्याम साथ-साथ पार्क में जाते हुए देखे गये, राम की श्याम से दुश्मनी थी, हत्या के कुछ दिन पूर्व श्याम ने यह कहा था कि वो राम की हत्या कर देगा, जिस दिन हत्या हुई उस दिन श्याम राम को ढूंढ रहा था, घटना वाले दिन ही श्याम के कपडो में खून के दाग देखे गये थे, घटना वाले दिन श्याम को अकेले पार्क से आते देखा गया, श्याम के पार्क से लोटने के बाद २० मिनट पश्चात ही राम को पार्क में मरी हुई आवस्था में देखा जाना इत्यादि । इन सब परिस्थितियों में यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवतया श्याम ने ही राम की हत्या की है ।

---

[456] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, अध्याय 2, धारा 3

३. यथार्थ प्रमाण- न्यायालय के निर्णय तथा विकास के लिए दस्तावेजो के अतिरिक्त जो वस्तुएं न्यायालय के समक्ष प्रमाण के रूप में प्रस्तुत की जाती है वे यथार्थ प्रमाण कहलाती है । जैसे- तलवार, चाकू, बन्दूक आदि हत्या के प्रकरणों में प्रयुक्त वे हथियार जिनसे हत्या की गई है ।

४. अनुश्रुत प्रमाण (सुनी सुनाई गवाही)- वह प्रमाण जिसका ज्ञान एवं अनुभव साक्षी स्वयं प्राप्त नहीं करता अपितु वह घटना की सूचना को किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से सुनकर प्राप्त करता है । जैसे- राम आकर कहता है कि अभी मैं एक एक्सिडेंट देखकर आया हूं, उसमें कारचालक ने तेजी से वाहन चलाकर गलती की है । जब इस राम द्वारा दी गई जानकारी को श्याम न्यायालय में कथन करता है तब श्याम सूनी-सूनाई प्रमाण का वर्णन कर रहा है, क्योंकि घटना उसने स्वयं नहीं देखी बल्कि वह राम द्वारा दी गई जानकारी के आधार पर दुर्घटना के तथ्यों को प्रकट कर रहा है ।

५. प्राथमिक प्रमाण- ऐसा प्रमाण जो न्यायालय के सामने स्वयं उसके निरीक्षण के लिये प्रस्तुत होता है । जैसे- किसी दस्तावेज का न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाना ।

६. गौण या द्वितीयक प्रमाण- इसके अन्तर्गत वह प्रमाण आता है जो प्राथमिक प्रमाण के अतिरिक्त होता है। जैसे- प्रमाणित प्रतिलिपियां मूल से तुलना कर बनाई गई प्रतियां, किसी यांत्रिक क्रिया द्वारा बनाई गई प्रतियां जो विशुध्दता को निश्चित करती हो ।

७. मौखिक प्रमाण- मौखिक प्रमाण से अर्थ है जिसे एक गवाह किसी तथ्य को सिध्द करने के लिये अपने मुख से कहता है । जैसे- राम ने श्याम की हत्या कर दी, मोहन घटना स्थल पर मौजूद था । यहां पर मोहन इस घटना के सम्बंध में न्यायालय में जो वृतांत सुनायेगा वह मौखिक प्रमाण कहा जायेगा ।

८. दस्तावेजी प्रमाण- दस्तावेजी प्रमाण से अभिप्राय जब किसी पदार्थ को अक्षरों, अंको या चिन्हों के साधन द्वारा अभिलेखन के प्रयोजन से उपयोग में लाये जाऐ तथा जिन्हें न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया जाऐ । जैसे- पत्र, चिट्ठी, रजिस्टर आदि ।

मानुषी प्रमाण-

दैविकी प्रमाण की अपेक्षा मानुषी प्रमाण को अधिक श्रेष्ठ माना जाता था । मानुषी प्रमाण के अन्तर्गत चार प्रमाणों- अनुमान (परिस्थितिजन्य प्रमाण), साक्षी, लिखित एवं भुक्ति को स्वीकार किया गया था । ये प्रमाण क्रमश: अपने पूर्ववती से अधिक प्रबल होते थे । अत: अनुमान सबसे निम्न कोटि का तथा भुक्ति उत्कृष्ट कोटि का मानुष प्रमाण होता था ।

3.4 अनुमान (परिस्थितिजन्य प्रमाण)-

अनुमान से तात्पर्य प्रत्यक्ष के अभाव में हेतुओं के माध्यम से परिस्थिति विशेष का ज्ञान प्राप्त करना। इस अनुमान को हेतु भी कहा जाता था।[457] किन्तु यह निम्न कोटि का प्रमाण होता था। इसलिये इसका प्रयोग विशेष परिस्थितियों में ही किया जाता था। इस कारण से इसको परिस्थितिजन्य प्रमाण भी कहा गया था। अनुमान प्रमाण को युक्ति (तर्क) भी कहा गया है।[458] युक्ति से तात्पर्य है शास्त्र एवं शिष्ट पुरुषों के अविरुद्ध उत्तम प्रकार से जिस पर मत रखा जाता है उसे तर्क/युक्ति कहते हैं।[459] पी.वी. काणे ने इस युक्ति को परिस्थितिजन्य प्रमाण माना है।[460]

वर्तमान में भी अनुमान प्रमाण का प्रयोग करते हुए **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की **धारा 5** में कहा गया है कि किसी विवाद या कार्यवाही में दो प्रकार के तथ्यों के आधार पर उनके आस्तित्व होने या ना होने का प्रमाण दिया जा सकता है- १. वह तथ्य जो स्वयं विवाद में है (विवाद तथ्य) तथा २. केवल उन तथ्यों के बारे में जो विवाद तथ्यों से सुसंगत है अर्थात जो विवाद तथ्य तो नहीं है परन्तु विवाद तथ्य के इतने निकट होते हे कि उनसे जुड़े होने के कारण वे सुसंगत हो जाते हैं। इस तरह धारा ५ यह बताती है कि न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत साक्ष्य (प्रमाण) या तो विवाद तथ्य के सम्बंध में प्रस्तुत होंगे या विवाद तथ्यों से सुसंगत तथ्यों को प्रकट करेंगे। उदाहरण- मोहन की मृत्यु करने के आशय से उसे लाठी मारकर उसकी हत्या करने के लिये सोहन का विचार किया जाना। तब सोहन के विचार में निम्नलिखित तथ्य विवादयत है- सोहन का मोहन को लाठी मारना, सोहन की ऐसी मार द्वारा मोहन की मृत्यु होना, मोहन की मृत्यु कारित करने का सोहन का आशय होना यह सभी विवाद तथ्य होंगे तथा इन सभी तथ्यों पर प्रमाण दिया जा सकता है।[461]

तदनन्तर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस प्रमाण का उपयोग कहां पर और कैसे किया जाता था? इस प्रमाण का प्रयोग वही किया जा सकता था जहां पर प्रत्यक्ष संभव न हो। आपस्तम्ब के अनुसार संदेह की स्थिति में प्राड्विवाकों के द्वारा लिंगों (अनुमान) एवं दिव्यों से निर्णय करना चाहिये।[462] जैसे- एकान्त, रात्रि एवं अधंकार में घटित हुए अपराधों के लिए अनुमान प्रमाण का प्रयोग करना। क्योंकि इन स्थितियों का कोई प्रत्यक्षदृष्टा नहीं होने से विवादों के बारे में जानकारी प्राप्त करना दुष्कर होता था। इसलिये इस प्रमाण का प्रयोग अधिकांशत: हिंसामूलक विवादों में किया जाता था।

अनुमान प्रमाण में वस्तुओं के साहचर्य सम्बन्ध को आधार बनाया जाता था। जैसे- पहाड पर धुए को देखकर आग का अनुमान करना। यहां आग का ज्ञान इसलिये हो पाया क्योंकि आग एवं धुए में

---

457 व्यासस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ. ९५

458 कात्यायनस्मृति, व्यवहारप्रकाश, पृ. १६७

459 शुक्रनीति ४/५/२७७

460 पी.वी. काणे, भाग २, पृ.७४४

461 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 5

462 आपस्तम्ब धर्मसूत्र २/११/२९/६

साहचर्य सम्बन्ध होता है । अत: जहां-जहां धुआ होगा वहां-वहां आग होगी । इसी साहचर्य को आधार मानते हुये नारद, वशिष्ठ एवं शंखलिखित ने अनुमान की व्याख्या की है । जिसमें नारद के अनुसार ऐसे छ: विवाद है जिसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता है लेकिन इसमें अनुमान के साहचर्य नियम से अपराधी की पहचान की जानी चाहिए । जैसे- अग्निस्थल पर उल्का लिये व्यक्ति को आग लगाने वाला, घटनास्थल पर मृतक के समीप शस्त्रधारी को हत्यारा, जलाशय के समीप पावडे से युक्त व्यक्ति को बांध तोडने वाला, कटे पेड के समीप कुल्हाडी से युक्त व्यक्ति को वृक्ष काटने वाला, रक्तरंजित तलवार से युक्त व्यक्ति को आक्रान्ता समझा जाता था ।[463] वशिष्ठ के अनुसार अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित, घायल या चोरी के समान के साथ पकडे गये व्यक्ति को साहचर्य संबंध से चोर समझा जाना चाहिये ।[464] इसी प्रकार शंखलिखित का मत है कि परस्त्री के साथ केश क्रीडा करने वाले को व्यभिचारी, आगयुक्त स्थान पर आगवर्धक समान लिये हुए को आग लगाने वाला, घटनास्थल पर पहले से उपस्थित रक्तरंजित हथियार से युक्त व्यक्ति को हत्यारा तथा चोरी के समान से युक्त व्यक्ति को चोर समझा जाना चाहिये ।[465]

इसी साहचर्य सम्बन्ध को सुसंगत तथ्य मानते हुए **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की **धारा 7** में कहा गया है कि वे तथ्य जो विवाद तथ्यों के प्रसंग हेतुक या परिणाम है अर्थात् वे तथ्य जो सुसंगत तथ्यों के या विवाद तथ्यों के निकटवर्ती या अन्य रीति पर अवसर कारण या परिणाम है या जो उस वस्तु स्थिति को गठित करते हैं जिनके अन्तर्गत वे घटित हुए या जिनसे उनके घटने का संव्यवहार का अवसर दिया । यह धारा खासकर घटना के कारण तथा परिणाम को सुसंगत तथ्य मानते हुए उनसे संबंधित सारे तथ्यों को न्यायालय में प्रस्तुत करने की अनुज्ञा देती है । जैसे- १.) कारण- वे परिस्थितियां जिसने उस घटना को घटित करने का कारण उत्पन्न किया सुसंगत है क्योंकि किसी भी घटना के घटित होने के पीछे कोई ना कोई कारण आवश्यक होता है । जैसे- राम ने मोहन को लूटा, इस मामले में यह तथ्य की लूट के थोड़ी देर पहले राम के पास धन था और उसने और लोगो को उसे दिखाया था यह तथ्य सुसंगत होंगे क्योंकि वे लूट का कारण उत्पन्न करते हैं । २.) अवसर- वे सारे तथ्य जिनसे घटना के घटित होने का अवसर प्रदान किया हो सुसंगत होते हैं । जैसे- संतोष ने कान्ता को जहर दिया, यहां जहर से उत्पन्न लक्षणों के पूर्व कान्ता के स्वास्थ्य की दशा एवं कान्ता की वे आदते जो सन्तोष को मालूम थी, जिनसे उसे जहर देने का अवसर मिला, सभी सुसंगत तथ्य होंगे । ३.) परिणाम- वे तथ्य जो विवाद या सुसंगत तथ्यों के परिणाम स्वरूप प्राप्त होते हैं सुसंगत है क्योंकि प्रत्येक कार्य कुछ ना कुछ प्रभाव (परिणाम) अवश्य छोड़ता है ।[466] सुसंगत तथ्य से

---

[463] उल्काहस्तोऽग्निदो ज्ञेयः शस्त्रपाणिस्तु घातकः । केशाकेशिगृहीतश्च युगपत्पारदारिकः ॥
कुद्दालपाणिर्विज्ञेयः सेतुभेत्ता समीपगः । तथा कुठारपाणिश्च वनछेत्ता प्रकीर्तितः ॥
अभ्यग्रचिह्नो विज्ञेयो दण्डपारुष्यकृन्नरः । असाक्षिप्रत्यया ह्येते पारुष्ये तु परीक्षणम् ॥ नारदस्मृति १/१५५-१५७, व्यवहारप्रकाश १६७-१६८

[464] वशिष्ठ धर्मसूत्र १९/३९

[465] केशाकेशिग्रहणात् पारदारिक:, उल्काहस्तोऽग्नि:, शस्त्रपाणिर्घातको, लोप्त्रहस्तश्चौर: । शंखलिखितस्मृति, व्यवहारप्रकाश, पृ. १६८

[466] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 7

तात्पर्य वे तथ्य जो विवाद तथ्य न होते हुए किसी भी विवाद से इस प्रकार संयुक्त होते है कि वे एक ही संव्यवहार के भाग है वे तथ्य सुसंगत होगे तथा उनकी भी प्रमाण न्यायालय में दी जा सकेगी ।[467] याज्ञवल्क्य[468] एवं कौटिल्य[469] ने व्यभिचार के लिये अनुमान प्रमाण का प्रयोग किया और कहा- कि उस व्यक्ति को व्यभिचारी माना जाना चाहिये जिसके हाथ में स्त्री के बाल हो, होठों पर नाखून या दांत के निशान हो या फिर दोनों की परस्पर सहमति से वे इस अवस्था में गये हो ।

इस प्रकार के विवादों में अपराधी की पहचान अनुमान के साहचर्य से की जाती थी । जो केवल सन्देह पर आधारित होता था अर्थात् इसमें पूर्ण यथार्थता का अभाव होने से अन्याय होने की संभावना बनी रहती थी । इसलिये नारद ने विवादों में अनुमान प्रमाण का प्रयोग किये जाते समय प्राड्विवाकों को विशेष सावधानी बरतने का निर्देश दिया है क्योंकि इसमें निरपराध व्यक्ति के भी दण्डित होने की सम्भावना बनी रहती थी और यह भी संभव हो सकता है कि अभियुक्त के साथ शत्रुता का भाव रखने वाले व्यक्ति ने ही साहचर्य प्रस्तुत किया हो ।[470] जैसाकि प्राचीन काल में माण्डव ऋषि को तर्कता के अभाव में परिस्थितिजन्य प्रमाण के अभाव में चोर निर्धारित कर दिया गया था । यद्यपि वे चोर नहीं थे तब भी उन्हें अभियुक्त बना दिया गया था, क्योंकि उनके द्वारा मौन व्रत धारण किये जाने के कारण विवाद में कोई उत्तर नहीं दिया गया और उनके पास चोरी की सम्पत्ति भी प्राप्त हुई । इन परिस्थितियों के कारण माण्डव्य जैसे ऋषि को केवल विधि के आधार पर बिना किसी तर्कपूर्ण कारण के जाने अभियुक्त घोषित कर दिया गया था ।[471] इसलिए मनु का मत है कि राजा द्वारा चोरी के अभियुक्त को तब तक दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए जब तक उसके अपराध के प्रमाणों से निश्चितता के साथ यह ज्ञात न हो जाये कि उसके पास ही चौर्य सम्पत्ति एवं चौर्य उपकरण पाये गये हैं ।[472]

इसी प्रकार की तर्कता के अभाव का सन्देह कौटिल्य द्वारा अनुमान प्रमाण पर किया गया है और कहा- कि संयोग से ऐसा हो सकता है कि अभियुक्त चोर के मार्ग से ही जा रहा हो और अज्ञानतावश चोरों के दल में शामिल हो गया हो तथा चोरों के साथ पकडे जाने पर मारपीट के भय से चोरी के अपराध को स्वीकार ले तब उसे अनुमान प्रमाण से तो अपराधी समझा जायेगा । पर वह वास्तव में अपराधी नहीं है ।[473] इसीलिये शुक्र का मत है कि राजा को युक्ति/अनुमान से छल आदि दोषों को

---

[467] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 6

[468] पुमान् संग्रहणे ग्राह्यः केशाकेशि परस्त्रिया । सद्यो वा कामजैश्चिह्नैः प्रतिपत्तौ द्वयोस्तथा ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/२८३

[469] केशाकेशिकं संग्रहणम्, उपलिङ्गनाद्वा शरीरोपभोगानाम्, तज्जातेभ्यः स्त्रीवचनाद्वा ॥ कौटिल्य ४/१२

[470] नारदस्मृति ४/१५५

[471] शूलै प्रौत: पुराणऋषिश्चोरसङ्कया । अणिमाण्डव्य इत्येवम् विख्यात: सुपहायश: ॥ बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारप्रकाश, पृ. १३-१४

नारदस्मृति १/४२

कौटिल्य ४/८

[472] न होढेन विना चौरं घातयेद्धार्मिको नृपः । सहोढं सोपकरणं घातयेदविचारयन् ॥ मनुस्मृति ९/२७०

[473] कौटिल्य ४/८

दूर करते हुए यथार्थ साधनों से व्यवहार को देखना चाहिये ।[474] और एक सजग न्यायाधीश के रूप में अनुमान विधि से उसी प्रकार अपराधी का पता लगाना चाहिये जिस प्रकार शिकारी भूमि पर गिरे रूधिर के धब्बों से घायल मृग के स्थान का पता लगा लेता है ।[475] इस प्राचीन अनुमान प्रमाण को वर्तमान में अप्रत्यक्ष एवं आनुषांगिक प्रमाण के रूप में स्थान दिया गया है ।[476]

3.5 अनुश्रुत प्रमाण

अनुश्रुत प्रमाण से तात्पर्य उस अप्रत्यक्ष प्रमाण से होता था जिसमें व्यक्ति का विवाद से सीधा संबंध नहीं होता था बल्कि परोक्ष संबंध होता था । क्योंकि वह व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के कथनों को सुनकर न्यायालय में प्रमाण देता था । इसलिये इस प्रमाण को हीन कोटि का प्रमाण मानते हुए स्वन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया गया ।

यदि अनुश्रुत प्रमाण का प्रयोग किया जाता था तो उसमें कुछ प्रतिबन्धों का भी पालन करना पडता था । इसलिये विशेष परिस्थितियों में जहां सीधे तौर पर प्रमाण का अभाव रहता था वहां पर विकल्प के रूप में अनुश्रुत प्रमाण का प्रयोग किया जाता था । जैसाकि शतपथ ब्राह्मण में कहा गया कि यदि किसी विवाद का एक पक्ष यह कहता है कि मैने देखा है और दूसरा पक्ष यह कहता है कि मैने सुना है तब देखने वाले पक्ष पर विश्वास करना चाहिए ।[477] इसी प्रकार का मत नारद एवं मनु का भी है जिनके अनुसार विवाद में देखने वाले एव सुनने वाले दोनों ही साक्षी होते हैं, पर देखने वालों को वरियता दी जानी चाहिए ।[478]

इसी प्रकार का उल्लेख **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की **धारा 60** में भी मिलता है । धारा 60 के अंतर्गत यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मौखिक प्रमाण प्रत्यक्ष होना चाहिए अर्थात सुनी-सुनाई बात या अनुश्रुत साक्ष्य (प्रमाण) ग्राह्य नहीं होगा बल्कि जिसने खुद घटना को देखा हो, सुना हो, अन्य इन्द्रियों द्वारा जाना हो, वह मौखिक प्रमाण दे सकता है । इस धारा के अंतर्गत दिए गये नियम का अपवाद मृत्युकालीन कथन है । जो धारा 32 खंड (1) के अंतर्गत ग्राह्य होता है ।[479]

साथ ही अनुश्रुत प्रमाण में नारद ने कृत साक्षियों के भेद के रूप में उत्तर साक्षी को तथा प्रमाण देने के अयोग्य साक्षियों में शर्त से युक्त मृतान्तर साक्षी को स्वीकार किया । उत्तर साक्षी वह होता था जो अन्य साक्षियों के प्रमाण को सुनकर उत्कृष्ट प्रमाण प्रदान करता था । इसकी प्रमाणिकता तब

---

474 शुक्रनीति ४/१५/१६३

475 नारदस्मृति १/३८

476 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 114

477 सत्यं वै चक्षु: सत्यं हि वे चक्षुस्तस्माद्यदिदानीम् द्वौ विवदमानावेयातामहमद्राक्षम् अहमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमद्राक्षमिति तस्मा एव श्रदद्ध्यात् । शतपथ ब्राह्मण १४/८/१५/५

478 समर्थदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति ॥ मनुस्मृति ८/७४

नारदस्मृति ४/१६७

479 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 60

होती थी जब कोई पक्ष चला जाए या किसी दूसरे देश चला जाए, तब मरने से या विदेश जाने से पूर्व उस पक्ष विशेष के वचनों को जिसने सुना हो वह साक्षी रूप में प्रमाणिक होता था ।[480] विष्णु भी इस विचार को कहते हैं ।[481]

मृतान्तर साक्षी को एक स्थिति में ही प्रमाण देने के योग्य समझा जा सकता था वह भी तब जब मरणासन्न पिता अपने पुत्रों को विवाद के साक्षियों के बारे में बता देता था, तब वे पुत्र पिता के मरणोपरान्त अनुश्रुत साक्षी के रूप में प्रमाण देने के लिए उसी प्रकार योग्य होते थे जिस प्रकार वास्तविक साक्षी योग्य होता था ।[482]

यह नियम **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की **धारा 32 (1)** मृत्युकालीन कथन का साक्ष्यिक मूल्य के समरूप है जिसमें कहा गया है कि- यद्यपि मृत्युकालीन कथन एक अनुश्रुत प्रमाण है तथा जो न तो शपथ पर होता है और न उसकी प्रतिपरीक्षा होती है फिर भी मृत्युकालीन कथन प्रमाण में ग्राह्य माने जाते हैं जिसके दो आधार है– (१.) आवश्यकता का आधार- मृत व्यक्ति अकेले ही घटना का प्रत्यक्ष साक्षी होता है । उसके कथन का अपवर्जन कर देने से न्याय की हत्या होने की आशंका रहती है । (२.) मरणासन्न व्यक्ति द्वारा झूठ बोलने की आशा कम होती है क्योंकि उसका संसार से मोह समाप्त हो चुका होता है । कौशल राम बनाम स्टेट ऑफ़ बॉम्बे के मामले में कहा गया कि यह सिद्धांत भली-भाँति स्वीकृत है कि मृत्युकालिक कथन प्रमाण में ग्राह्य है । लेकिन मृत्युकालिक कथन के आधार पर कब सजा देनी चाहिए, इस बारे में कोई कठोर नियम नहीं है बल्कि ऐसा प्रत्येक मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करता है |[483]

इस प्रकार अनुश्रुत प्रमाण की विश्वसनीयता में संदेह की उपस्थिति हो जाने के कारण इसे स्वन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया गया क्योंकि इसमें तीसरा व्यक्ति अनुश्रुत साक्षी के रूप में अवस्थित होता था जो विवादित व्यक्ति से सीधे न सुनकर किसी दूसरे व्यक्ति से उस बात को सुनता था । इससे इस प्रमाण का महत्त्व कम हो जाता था । अनुश्रुत प्रमाण में साक्षी का न्यायिक परीक्षण भी किया जाता था । इसी प्रकार ही **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की **धारा 59** के अनुसार- दस्तावेजों की अंतर्वस्तु के सिवाए सभी तथ्य मौखिक साक्ष्य (प्रमाण) द्वारा साबित किये जा सकेंगे अर्थात् जहां कोई लिखित दस्तावेज के रूप में होता है वहां उसे दस्तावेज के रूप में साबित किया जाता है लेकिन कुछ परिस्थितियों में जहां दस्तावेज उपलब्ध नहीं है, मौखिक साक्ष्य आवश्यक हो जाता है ।[484]

---

[480] तच्छ्रोतारः प्रमाणं स्युः प्रमाणं ह्युत्तरक्रिया ॥ नारदस्मृति ४/१६६-१६८, १४५
यत्र साक्षी दिशं गच्छेन्मुमूर्षुर्वा यथाक्रमम् । अन्यं संश्रावयेत्तं तु विद्यादुत्तरसाक्षिणम् ॥ बृहस्पतिस्मृति ५/१३

[481] उद्दिष्टसाक्षिणी मृते देसान्तरगते वा तदभिहित श्री तार:प्रमाणम् ॥ विष्णुधर्मसूत्र ८/१२

[482] नारदस्मृति ४/९४

[483] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 32 (१)

[484] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 59

3.6 लिखित प्रमाण-

सम्पूर्ण न्यायिक प्रक्रिया का आधार प्रमाण (साक्ष्य) होता है, जिसके आधार पर ही विवादों (व्यवहारपदों) का निर्णय लिया जाता था। विवाद के निराकरण के लिए उपस्थित प्रत्येक प्रमाण का औचित्य होता था। परन्तु प्रमाणों में लिखित प्रमाण का औचित्य अन्य प्रमाणों से अधिक था, क्योंकि मौखिक रूप से सुनी या देखी घटनाओं में दीर्घता (अर्थात् विवाद के निराकरण में लगने वाला लम्बा समय) से विस्मरण, भ्रान्तियां एवं विभिन्नताएं प्रविष्ट कर जाती है। जिससे परस्पर कथनों में विसंगतियों के उपस्थित होने से उन कथनों की महत्ता कम या बिलकुल नहीं के बराबर हो जाती है। अत: इन विसंगतियों से बचने के लिए लिखित प्रमाण को श्रेष्ट माना गया था क्योंकि उचित रूप में लिखा गया लिखित प्रमाण सभी भ्रान्तियों एवं विसंगतियों से परे होता है। इसलिए शुक्रनीति में कहा गया है कि भुलना मनुष्य का स्वभाव है और किसी प्रकार के भ्रम की उत्पत्ति न हो इसके लिए लेख बहुत बडा प्रमाण होता है।[485]

लिखित प्रमाण-

किसी विषय पर उसकी प्रमाणिकता के लिए उस विषय का लिखित विवरण ही लिखित प्रमाण माना जाता था। लिखित प्रमाण को अन्य भुक्ति, साक्षी आदि मानुषी प्रमाणों से अधिक श्रेष्ठ माना गया था, क्योंकि साक्षी प्रमाण की प्रामाणिकता साक्षी के जीवित रहने तक ही बनी रहती थी और भुक्ति प्रमाण के लिए अधिक समय तक का भोग होना आवश्यक होता था।[486] नारद ने लिखित प्रमाण को चक्षुस्वरूप माना है[487] क्योंकि लिखित प्रमाण का चक्षु द्वारा दर्शन होता है। लिखित प्रमाण का स्पष्टत: चक्षु के माध्यम से दृष्टव्य होने से यह देश, काल, फल, द्रव्य, प्रमाण और सीमा आदि से संबंधित निर्णयों में होने वाले संदेहों का विनाश करने वाला होता था।[488] जिससे व्यवहारपद का शीघ्र निर्णय हो जाता था। जो लिखित प्रमाण को अन्य प्रमाणों से अधिक प्रमाणित बना देता था। अत: इस लिखित प्रमाण के माध्यम से समाज कल्याण गति को प्राप्त करता था।[489] **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की **धारा 59** में दस्तावेजी प्रमाण को सर्वाधिक प्रमाणिक मानते हुए कहा गया है कि- दस्तावेजों की अंतर्वस्तु के सिवाए सभी तथ्य मौखिक प्रमाण द्वारा साबित किये जा सकेंगे। प्रमाण विधि का यह महत्वपूर्ण सिद्धांत है कि प्रत्येक मामले में सर्वोत्तम प्रमाण दिया जाये और दस्तावेज सर्वोत्तम प्रमाण माने जाते हैं अर्थात जहां कोई लिखित दस्तावेज के रूप में

---

[485] भ्रान्ते: पुरुषधर्म्मत्वाल्लेख्यं निर्णायकं परम्। अलेख्यमाज्ञापयति ह्यलेख्यं यत् करोति य: ॥ शुक्रनीति २/२९१

[486] विद्यमानेऽपि लिखिते जीवत्स्वपि हि साक्षिषु। विशेषतः स्थावराणां यन्न भुक्तं न तत्स्थिरम् ॥ नारदस्मृति ४/७५

[487] लिखितं चक्षुरोतमम् ॥ नारदस्मृति ४/७०

[488] देशकालफलद्रव्यप्रमाणवधिनिश्चये। सर्वसन्देहविच्छेदि लिखितं चक्षुरुत्तमम् ॥ नारदस्मृति ४/७१

[489] तत्रेयमस्य लोकस्य नाभविष्यच्छुभा गति: ॥ नारदस्मृति ४/७०

होता है वहां उसे दस्तावेज के रूप में साबित किया जाता है लेकिन कुछ परिस्थितियों में जहां दस्तावेज उपलब्ध नहीं है, मौखिक प्रमाण आवश्यक हो जाता है।[490]

3.6.1 लिखित प्रमाण के भेद-

लिखित प्रमाण के भेदों के विषय में धर्मसूत्रकारों एवं स्मृतिकारों में एकमत नहीं था। विष्णु धर्मसूत्र ने लिखित प्रमाण के तीन भेद बतलाये है[491]- १. राजसाक्षिक, २. ससाक्षिक, ३. असाक्षिक अर्थात् राजसाक्षिक वह लेख वह होता था जिसे राजा द्वारा नियुक्त लिपिक के द्वारा राजकीय आदेश पर लिपिबद्ध किया जाता था और यह प्राड्विवाक द्वारा हस्ताक्षरित होता था,[492] ससाक्षिक वह लेख होता था जिसे साक्षियों के द्वारा हस्ताक्षरित किया जाता था चाहे वह लेख किसी के द्वारा कहीं पर भी लिखा गया हो,[493] तथा असाक्षिक वह लेख होता था जिसे बिना साक्षी के हस्ताक्षर के स्वयं के द्वारा लिखा जाता था।[494] विष्णु धर्मसूत्र के समान ही विष्णुस्मृति में भी लेख्य के तीन भेद[495]- राजसाक्षिक, ससाक्षिक तथा असाक्षिक माने हैं। बृहस्पति ने भी लिखित के तीन भेद माने हैं[496] यथा- राजलेख्य (राजा द्वारा प्रमाणित), स्थानकृत (किसी निश्चित स्थान पर लिखित साक्षीयुक्त लेख) तथा स्वहस्तलिखित (स्वयं के द्वारा लिखित साक्षीरहित लेख)।

नारद ने लिखित प्रमाण के दो भेद किये हैं[497]- १.) स्वहस्त लिखित, जो स्वयं के द्वारा लिखित होता था और जिसमें साक्षी की आवश्यकता नहीं होती थी तथा २.) अन्यहस्त लिखित, जो किसी अन्य के द्वारा लिखित होता था और जिसमें साक्षी की आवश्यकता होती थी। मिताक्षरा ने भी लिखित प्रमाण के दो भेद माने हैं- शासन और चीरक (जानपद)[498] अर्थात् शासन लेख्य अर्थी एवं प्रत्यर्थी द्वारा राजा के सम्मुख लिखा जाता था और यह लेख्य सुन्दर संस्कृत भाषा में लिखा जाता था तथा इसका संबंध भाषापाद और उत्तरपाद से होता था। जानपद लेख्य स्वयं के द्वारा लिखित होता था और यह संस्कृत या फिर स्थानीय भाषा में भी लिखा जा सकता था।[499] यह (जानपद लेख्य) दो

---

490 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 59

491 अथ लेख्यं त्रिविधम्। राजसाक्षिकं ससाक्षिकमसाक्षिकं च। विष्णु धर्मसूत्र ७/१-२

492 राजाधिकरणे तन्नियुक्तकायस्थकृतं तदध्यक्षकरचिन्हितं राजसाक्षिकम्। विष्णु धर्मसूत्र ७/३

493 यत्र क्वचन येन केनचिल्लिखितं साक्षिभि: स्वहस्तचिन्हितं ससाक्षिकम्। विष्णु धर्मसूत्र ७/४

494 स्वहस्तलिखितमसाक्षिकम्। विष्णु धर्मसूत्र ७/५

495 अथ लेख्यं त्रिविधं राजसाक्षिकं ससाक्षिकमसाक्षिकं च....स्वहस्तलिखितमसाक्षिकम्॥ विष्णुस्मृति ७/१-५

496 राजलेख्यं स्थानकृतं स्वहस्तलिखितं तथा। लेख्यं तु त्रिविधं प्रोक्तं भिन्नं तद्वहुधा पुन: ॥ बृहस्पतिस्मृति, उद्धृत धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.३६३

497 लेख्यं तु द्विविधं ज्ञेयं स्वहस्तान्यकृतं यथा। नारदस्मृति ४/१३५

498 तत्र लेख्यं द्विविधं शासनं जानपदं चेति। शासनं निरूपितम्। याज्ञवल्क्यस्मृति २/८४ मिताक्षरा

499 तच्चैतस्वहस्तकृतं परहस्तकृतं, परहस्तकृतं च यल्लेख्यं देशाचारानुसारेण सबन्धकव्यवहारेऽबन्धकव्यवहारे च युक्तमर्थक्रमापरिलोपेन लिप्यक्षरापरिलोपेन च लेख्यमित्येतावत् न पुन: साधुशब्दैरेव, प्रातिस्विकदेशभाषयापि लेखनीयम्। याज्ञवल्क्यस्मृति २/८९ मिताक्षरा

प्रकार का होता था[500]- स्वहस्त लिखित तथा परहस्त लिखित अर्थात् स्वहस्त लिखित साक्षी रहित तथा परहस्त लिखित साक्षी युक्त होता था।

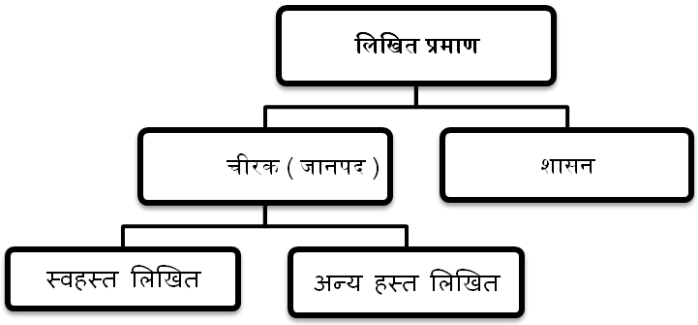

शुक्रनीति ने भी मिताक्षरा के समान लिखित के दो भेद किये हैं- राजकीय और लौकिक। ये दोनों लेख ही स्वहस्त लिखित एवं परहस्त लिखित के भेद से दो प्रकार के होते थे। साथ ही ये लेख साक्षी सहित एवं साक्षी रहित भी होते थे।[501] राजकीय लेख्य के तीन भेद किये गये थे- शासनार्थ अर्थात् शासन के लिए, ज्ञापनार्थ अर्थात् सूचना देने के लिए तथा निर्णयार्थ अर्थात् निर्णय देने के लिए। लौकिक लेख्य के सात भेद माने गये थे– भाग, दान, आचार, न्यास, प्रतिज्ञा, सेवा एवं ऋण।[502] इन राजकीय एवं लौकिक लेखों को ही वर्तमान भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 74 एवं 75 में क्रमश: लोक दस्तावेज एवं प्राइवेट दस्तावेज कहा गया है।[503]

- **लिखित प्रमाण द्वारा मौखिक प्रमाण का अपवर्जन-**

धर्मशास्त्रकालीन लेखों के भेदों एवं उपभेदों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तात्कालिक समय में न्यायव्यवस्था/व्यवहारविधि में प्रमाण व्यवस्था पूर्णता को प्राप्त कर चुकी थी। किसी भी व्यवहार को लिखित रूप में प्रयुक्त करने का यह उद्देश्य होता था कि जो कुछ लिखा गया है वह शाश्वत स्मृति के रूप में कई सालों तक बना रहेगा और समय आने पर उसे एक मजबूत प्रमाण के रूप में प्रस्तुत भी किया जा सकेगा। इस लिखित प्रमाण के विरुद्ध मौखिक प्रमाण को स्वीकार नहीं किया गया था।[504]

इसी प्रकार का उपबन्ध **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की **धारा 91 एवं 92** में दस्तावेज के सन्दर्भ में किया गया है। किन मामलों में मौखिक प्रमाण को दस्तावेजी प्रमाण द्वारा अपवर्जित किया जाता

---

500 जानपदमभिधीयते । तच्च द्विविधम् स्वहस्तकृतमन्यकृतं चेति । स्वहस्तकृतमसाक्षिकं अन्यकृतं ससाक्षिकम् । याज्ञवल्क्यस्मृति २/८४ मिताक्षरा

501 राजकीयं लौकिकञ्च द्विविधं लिखितं स्मृतम् । स्वहस्तलिखितं वान्यहस्तेनापि विलेखितम् । असाक्षिमत् साक्षीमच्च सिद्धिर्देशस्थितेस्तयो: ॥ शुक्रनीति ४/५/१७३

502 भागदानक्रियादानसंविद्दानऋणादिभि: । सप्तधा लौकिकं चैतत् त्रिविधं राजशासनम् । शासनार्थं ज्ञापनार्थं निर्णयार्थं तृतीयकम् ॥ शुक्रनीति ४/५/१७४

503 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा ७४, ७५

504 नारदस्मृति ४/१४५

कात्यायनस्मृति ३०६-३०७

है, इससे सम्बन्धित धाराएँ है- 91, 92 एवं धारा 64, 65 एवं धारा 144 । इन धाराओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक मामले में सर्वोत्तम प्रमाण दिया जाना चाहिए तथा दस्तावेजी प्रमाण सर्वोत्तम प्रमाण है, जैसा कि धारा 91 में कहा गया है कि किसी संविदा, अनुदान या संपत्ति के व्ययन को साबित करने के लिए जिसे लेखबद्ध कर लिया गया है तब वह दस्तावेज स्वयं पेश किया जाना चाहिए । धारा 92- संविदा, अनुदान या सम्पत्ति के व्ययन की शर्तों का विखंडन करने के लिए मौखिक प्रमाण अपवर्जित होते हैं अर्थात् यदि किसी संविदा, अनुदान या सम्पत्ति का व्ययन लिखित द्वारा साबित हो गया है तब लिखित के पक्षकारों द्वारा उसकी शर्तों में हेर-फेर करने, परिवर्तन करने या जोड़ने-घटाने का कोई भी प्रमाण जो मौखिक रूप से दिया जाता है ग्राह्य नहीं है । परन्तु पक्षकारों से भिन्न व्यक्ति मौखिक प्रमाण दे सकते हैं, उनके लिए कोई रोक नहीं है । लिखित प्रमाण के शासन एवं जानपद भेदों के भी अनेक उपभेद किये गये है-

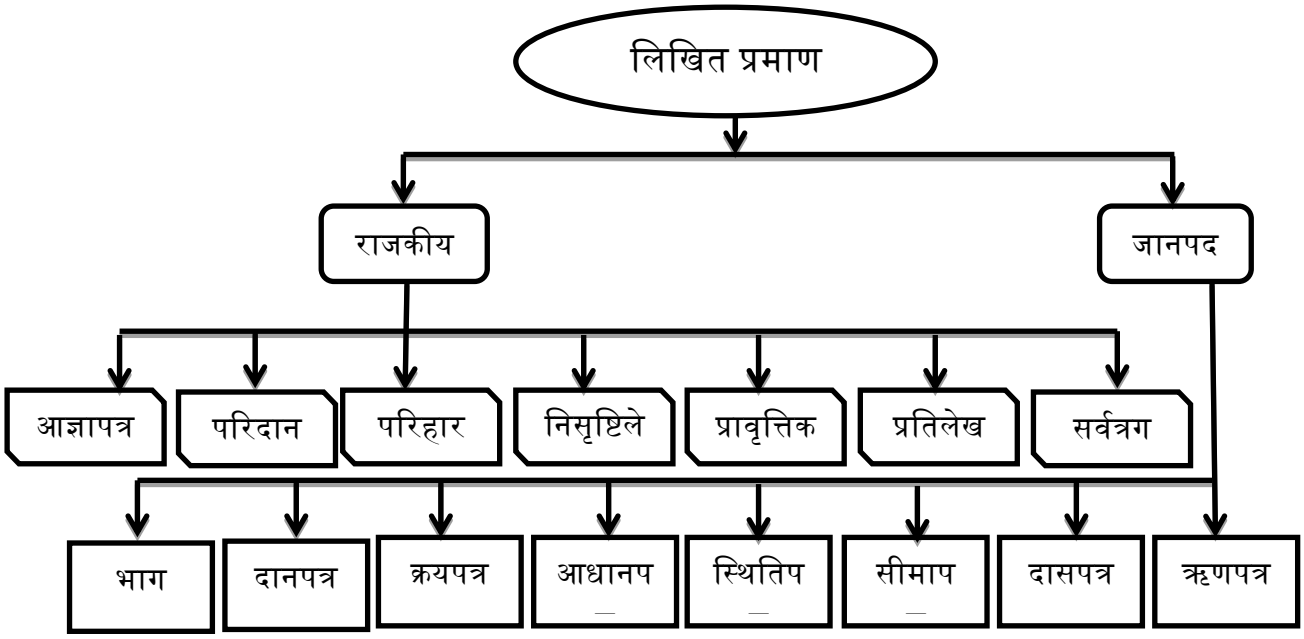

3.6.1.1 राजकीय (शासन) लेख-

राजा के सम्मुख नियुक्त लिपिक के द्वारा लिखित एवं प्राड्विवाक द्वारा प्रमाणित लेख को राजकीय लेख कहा जाता था । शुक्रनीति के अनुसार जिस लेख पर राजा का हस्ताक्षर हो या राजमुद्रा अंकित हो या राजा के आदेशानुसार मंत्रियों की मोहर लगी हो उसे राजकीय लेख कहा जाता है ।[505] कौटिल्य के मतानुसार राजा द्वारा पत्र आदि पर लिखित आज्ञा या प्रतिज्ञा को शासन कहा जाता है, क्योंकि राजा शासन (लिखित बात) पर ही विश्वास करते हैं न कि मौखिक बातों पर

[505] राज्ञा स्वहस्तसंयुक्तं स्वमुद्राचिन्हितं तथा । राजकीयं स्मृतं लेख्यं प्रकृतिभिश्च मुद्रितम् ॥ शुक्रनीति ४/५/१७७

।[506] कौटिल्य ने शासन लेख के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है कि यदि राजकीय लेख किसी राजा से संबंधित होता है तो उसमें देश, एश्वर्य, वंश और नाम का उल्लेख होना आवश्यक है ।[507] और यदि लेख का संबंध किसी अमात्य से है तो उसमें केवल उसके देश और नाम का ही उल्लेख होना चाहिए ।[508] और यदि लेख किसी राजकार्य से संबंध रखता है तो उसमें जाति, कुल, स्थान, आयु, योग्यता, कार्य, धनसम्पत्ति, सदाचार, देश, काल, वैवाहिक संबंध आदि बातों का भलीभांति विचार करके, प्राप्तकर्ता पुरुष की श्रेष्ठता एवं निकृष्टता का भी उल्लेख करना चाहिए ।[509]

वशिष्ठ ने राजकीय लेख प्रमाण के चार प्रकार माने हैं-[510] (१) शासन- राजकीय भूमि अर्थात् राजप्रदत्त भूमि का ब्यौरा, (२) जयपत्र- किसी मुकदमें की जीत का फैसला, (३) आज्ञापत्र- सामन्तों तथा अन्य कर्मचारियों को दी गई आज्ञाएं, (४) प्रज्ञापनापत्र- यज्ञ करने वालों, पुरोहितों, गुरु, वेदज्ञ ब्राह्मणों तथा अन्य श्रद्धास्पद लोगों के लिए लिखित प्रार्थना । कौटिल्य ने आठ राजाज्ञाओं के नामों का उल्लेख किया है यथा- प्रज्ञापना, आज्ञापत्र, परिदान, परिहार, निसृष्टिलेख, प्रावृत्तिक, प्रतिलेख तथा सर्वत्रग ।[511] जिनकी व्याख्या इस प्रकार है-

१. प्रज्ञापना-

किसी की प्रार्थना का आवेदन अर्थात् यदि कोई महामात्र राजकीय धन का संग्रह करके अपने पास रख लेता था और इस बात की सूचना जब गुप्तचर द्वारा राजा के पास जाती थी तब राजा उस महामात्र से उस राजकीय संग्रहित धन को राजकोष में जमा करने की आज्ञा देता था । जब महामात्र राजा की इस आज्ञा को स्वीकार कर लेता था तब जो लेखन कार्य किया जाता था उस लेख पत्र को प्रज्ञापना कहा जाता था ।[512] शुक्रनीति ने प्रज्ञापना लेख्य की कौटिल्य से भिन्न व्याख्या करते हुए कहा हैं कि जिस लेख के द्वारा राजा यज्ञकर्ता, पुरोहित, आचार्य एवं अन्य पूज्य लोगों को कार्य सूचित करता है उसे प्रज्ञापना लेख्य कहते हैं ।[513]

---

506 शासने शासनमित्याचक्षते । शासनप्रधाना हि राजानः । कौटिल्य २/प्रकरण २६/ अध्याय १०/ शासनाधिकार

507 तस्मादमात्यसम्पदोपेतः सर्वसमयविदाशुग्रन्थश्चार्वक्षरो लेखनवाचनसमर्थो लेखकः स्यात् । कौटिल्य २/प्रकरण २६/ अध्याय १०/ शासनाधिकार

508 सोअव्यग्रमना राज्ञः संदेशं श्रुत्वा निश्चितार्थं लेखं विदध्यात्देशाइश्वर्यवंशनामधेयोपचारमीश्वरस्य, देशनामधेयोपचारमनीश्वरस्य । कौटिल्य २/प्रकरण २६/ अध्याय १०/ शासनाधिकार

509 जातिं कुलं स्थानवयःश्रुतानि कर्मर्द्धिशीलान्यथ देशकालौ । यौनानुबन्धं च समीक्ष्य कार्ये लेखं विदध्यात्पुरुषानुरूपम् ॥ कौटिल्य २/प्रकरण २६/ अध्याय १०/ शासनाधिकार

510 शासनं प्रथमं ज्ञेयं जयपत्रं तथाऽपरम् । आज्ञाप्रज्ञापनापत्रं राजकीयं चतुर्विधम् ॥ वशिष्ट धर्मसूत्र, व्यवहारमयूख पृ.२८, एवं स्मृतिचन्द्रिका २ पृ.५५

511 प्रज्ञापनाज्ञापरिदानलेखास्तथा परीहारनिसृष्टिलेखौ । प्रावृतिकश्च प्रति लेख एव सर्वत्रगश्चेति हि शासनानि॥ कौटिल्य अर्थशास्त्र २/प्रकरण २६/ अध्याय १०/ शासनाधिकार

512 अनेन विज्ञापितमेंवमाह तद्दीयतां चेद्यदि तत्त्वमस्ति । राज्ञः समीपे वरकारमाह प्रज्ञापनैषा विविधोपदिष्टा ॥ कौटिल्य अर्थशास्त्र २/प्रकरण २६/ अध्याय १०/ शासनाधिकार

513 शुक्रनीति ४/५/३०१

२. आज्ञापत्र-

जिस पत्र में राजा की ओर से निग्रह या अनुग्रह की आज्ञा हो, विशेषरूप से भृत्यों (सेवक) के संबंध में लिखित पत्र को आज्ञा कहा जाता था।[514] जबकि शुक्रनीति के अनुसार आज्ञापत्र वह होता है जिसमें राजा लिखित रूप में सामन्तों, राज्यपालों तथा अन्य पदाधिकारियों को निर्दिष्ट काम करने का अधिकार देता है।[515]

३. परिदान-

सुपात्र को समादर या विपत्ति में भेट अर्थात् जिस लेख में राजा द्वारा समुचित गुणों के साथ सत्कार भाव प्रकट किया जाता था उसे परिदान लेख कहा जाता था। यह परिदान लेख दो तरह से लिखा जाता था प्रथम- जब किसी भृत्य के आत्मीयजन की मृत्यु हो, जिसके कारण वह भृत्य व्यथित हो तब संवेदना व्यक्त करने के लिए, द्वितीय- जब राजा उनकी रक्षा के लिये दयाभाव प्रकट करता है तब।[516]

४. परिहार-

जिस लेख में राजा की आज्ञानुसार किसी विशेष जातियों, ग्रामों, नगरों और देशों पर जो अनुग्रह किया जाता था उसे परिहार कहा जाता था।[517] जैसे- कुछ जातियों या ग्रामों का कर माफ कर देना।

५. निसृष्टिलेख-

वह लेख जिसके द्वारा राजा किसी विश्वासपात्र व्यक्ति की क्रियाओं या शब्दों को अपना लेता था या किसी कार्य को करने में या कहने में आत्मवचन का प्रमाण देता था उसे निसृष्टिलेख कहा जाता था।[518]

६. प्रावृत्तिक-

जिस लेख में राजा अनेक प्रकार की दैविक, पारमार्थिक तथा मानुषी (शत्रु आदि) घटना की सूचना देता था उसे प्रावृत्तिक लेख कहा जाता था। यह शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता था।[519]

---

514 भर्तुराज्ञा भवेद्यत्र निग्रहानुग्रहौ प्रति। विशेषेण तु भृत्येषु तदाज्ञालेखलक्षणम्॥ कौटिल्य अर्थशास्त्र २/प्रकरण २६/ अध्याय १०/ शासनाधिकार

515 शुक्रनीति ४/५/३००

516 यथार्हगुणसम्युक्ता पूजा यत्रोपलक्ष्यते। अप्याधौ परिदाने वा भवतस्तावुपग्रहौ॥ कौटिल्य अर्थशास्त्र २/प्रकरण २६/ अध्याय १०/ शासनाधिकार

517 जातेर्विशेषेषु परेषु चैव ग्रामेंषु देशेषु च तेषु तेषु। अनुग्रहो यो नृपेर्निदेशात्तज्ज्ञः परीहार इति व्यवस्येत्॥ कौटिल्य अर्थशास्त्र २/प्रकरण २६/ अध्याय १०/ शासनाधिकार

518 निसृष्टिस्थापना कार्यकरणे वचने तथा। एष वाचिकलेखः स्याद्भ्रवेन्नैसृष्टिकोअपि वा॥ कौटिल्य अर्थशास्त्र २/प्रकरण २६/ अध्याय १०/ शासनाधिकार

519 विविधां दैवसम्युक्तां तत्त्वजां चैव मानुषीम्। द्विविधां तां व्यवस्यन्ति प्रवृत्तिं शासनं प्रति॥ कौटिल्य अर्थशास्त्र २/प्रकरण २६/ अध्याय १०/ शासनाधिकार

७. प्रतिलेख-

किसी से प्राप्त सन्देश पर राजा से विचार विमर्श कर उत्तर देना अर्थात् दूसरे के द्वारा प्रेषित लेख को भलीभांति देखने एवं पढने के अनन्तर राजा के सम्मुख पढना और राजा की आज्ञानुसार उसका उत्तर लिखना ही प्रतिलेख कहलाता था ।[520]

८. सर्वत्रग-

यात्रियों के कल्याण के लिए राजकर्मचारियों को आज्ञा देना अर्थात जिस लेख में राजा राहगीरों की सुरक्षा और उनके उपकार के लिए अपने अधिकारियों को आदेश देता था उसे सर्वत्रग लेख माना जाता था । सर्वत्रग इसलिए कहा जाता था क्योंकि यह सभी मार्गों में, देश में तथा राष्ट्र में सब जगह लिखा होता था ।[521]

इस प्रकार शासन लेख का सम्बन्ध राजा से होता था जिसमें राजा के आदेशों एवं प्रतिज्ञाओं को लिखितरूप दिया जाता था । इन आदेशों एवं प्रतिज्ञाओं को लिखितरूप देने का कार्य नियुक्त लिपिक के द्वारा किया जाता था । शासनलेख में साक्षीगण की आवश्यकता नहीं होती थी, यह लेख प्रत्येक परिस्थितियों में बिना साक्षीगण के प्रमाणिक होता था । इस लेख पर किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता था क्योंकि शासनलेख को राजमुद्रा से चिन्हित किया जाता था जो सभी संशयों को निराकरण करता था ।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम की **धारा 74** में राजकीय लेख को ही लोक दस्तावेज मानते हुए कहा गया है कि लोक दस्तावेज वे दस्तावेज होते हैं जो लोक पदाधिकारियों द्वारा अपने पदीय कर्तव्यों के अधीन या तो तैयार किये जाते हैं या तैयार कराये जाते हैं और अपनी अभिरक्षा में रखते हैं । ऐसे लोक दस्तावेज निर्धारित शुल्क दिए जाने पर निरीक्षित किये जा सकते हैं और उनकी सत्य प्रतिलिपि जारी हो सकती है । लोक दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतियां द्वितीयक प्रमाण के रूप में ग्राह्य होती है । वर्तमान लोक दस्तावेज के अंतर्गत कौन-कौन से दस्तावेज आते हैं? उदाहरण- प्रभुतासम्पन्न प्राधिकारी द्वारा अथवा शासकीय निकाय या अधिकरणों द्वारा, भारत के न्यायिक, कार्यपालक तथा लोक अफसरों द्वारा अथवा विधायी विषयों के बारे में कार्य और उसके अभिलेख के रूप में जो मान्य है अथवा किसी राज्य में रखे गये प्राइवेट दस्तावेजों के लोक अभिलेख, (जैसे- कंपनियों के संगम ज्ञापन जो रजिस्ट्रार ऑफ़ कम्पनीज के यहाँ पंजीकृत होते हैं, उन्हें लोक दस्तावेज माना जाता है) खेतों के अभिलेख जो कलेक्टर के कार्यालय में है (जैसे- खसरा-खतौनी लोक दस्तावेज है, जन्म-मृत्यु का रजिस्टर), जो ग्राम पंचायत के सेक्रेटरी के पास होते हैं लोक दस्तावेज हैं, न्यायालयों के अभिलेख लोक दस्तावेज है, सरकारी अस्पतालों के रिकॉर्ड लोक दस्तावेज है ।[522]

---

[520] दृष्ट्वा लेखं यथातत्त्वं ततः प्रत्यनुभाष्य च । प्रतिलेखो भवेत्कार्यो यथा राजवचस्तथा ॥ कौटिल्य अर्थशास्त्र २/प्रकरण २६/ अध्याय १०/ शासनाधिकार

[521] यत्रेश्वरांश्चाधिकृतांश्च राजा रक्षोपकारौ पथिकार्थमाह । सर्वत्रगो नाम भवेत्स मार्गे देशे च सर्वत्र च वेदितव्यः ॥ कौटिल्य अर्थशास्त्र २/प्रकरण २६/ अध्याय १०/ शासनाधिकार

[522] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 74

3.6.1.2 जानपद लेख-

जानपद लेख अर्थात् निजी तौर से लिखा गया प्रमाणपत्र होता था । जानपद दो कोटि के होते थे- चिरक और चिरकहीन । चिरक वह प्रमाणपत्र होता था जिसे पुश्तैनी लिपिक द्वारा लिखा जाता था इन पुश्तैनी लिपिकों के पास दोनों पक्षों के लोग साक्षियों, पिताओं आदि के हस्ताक्षर के साथ पहुंचते थे ।[523] जानपद प्रमाण देश एवं स्थिति के अनुसार साक्षीयुक्त एवं साक्षीरहित भी होता था ।[524] चिरक एवं चीरक दोनों ही प्रकार के लेख प्रमाणों का प्रयोग कुछ ग्रन्थों में हुआ है जिसके प्रति पी.वी. काणे का मत है कि चिरक/चीरक भोजपत्र या किसी वृक्ष की छाल पर लिखा जाता था । चिरक शब्द "चिर" से बना है जो राजा द्वारा नियुक्त लिपिकों द्वारा लिखित होता था तथा चिरकाल तक चलता था ।[525]

जानपद लेख के भेद- मिताक्षरा ने जानपद लेख के दो भेद माने है- स्वहस्तकृत और अन्यहस्तकृत । ये दोनों लेख्य लिपि, अक्षरादि के लोप संबंधी त्रुटियों से हीन हो और जरूरी नहीं है कि इसमें साधु शब्दों का प्रयोग किया जाये, ये दोनों लेख्य देश-भेद से स्थानीय भाषा में भी लिखित हो सकते थे ।[526]

बृहस्पति के अनुसार जानपद के आठ प्रकार हैं-[527] भाग या विभागपत्र (बंटवारे का लेखप्रमाण), दानपत्र, क्रयपत्र, आधानपत्र (बंधकपत्र), स्थितिपत्र या संवित्पत्र (किसी ग्राम, श्रेणी, पूग आदि के सदस्यों द्वारा निर्णीत परम्पराओं का लेखप्रमाण), दासपत्र (भोजन-वस्त्र के अभाव में गुलामी करने का लेखप्रमाण), ऋणपत्र या उद्धारपत्र (ब्याज के साथ भविष्य में किसी तिथि पर लौटा देने वाले ऋण का लेख) तथा सीमापत्र । व्यास ने जानपद के आठ प्रकार बताये हैं-[528] चिरक, उपगत (रसीद), स्वहस्त (अपने हस्त से लिखित पत्र), आधिपत्र, क्रयपत्र, स्थितिपत्र, सन्धिपत्र तथा

---

523 चिरकं नाम लिखितं पुराणै: पौरलेखकै: । अर्थिप्रत्यर्थिनिर्दिष्टै: यथासंभवसंस्तुतै: ॥
स्वकीयै: पितृनामाद्यैरर्थिप्रत्यर्थिसाक्षिणाम् । प्रतिनामभिराक्रान्तमर्थिसाक्षिस्वहस्तवत् । स्पष्टावगमसंयुक्तं यथास्मृत्युक्तलक्षणम् । स्मृतिचन्द्रिका २ पृ.५९

524 असाक्षिमत्साक्षिमच्च सिद्धिर्देशस्थितेस्तयो: ॥ नारदस्मृति ४/१३५

525 धर्मशास्त्र का इतिहास, पी.वी. काणे, पृ. ७२९

526 तच्चैतत्स्वहस्तकृतं, कृतं च यल्लेख्यं देशाचारानुसारेण सबन्धकव्यवहारेऽबन्धकव्यवहारे च युक्तमर्थक्रमापरिलोपेन लिप्यक्षरापरिलोपेन च लेख्यमित्येतावत् न पुन: साधुशब्दैरेव, प्रातिस्विकदेशभाषयापि लेखनीयम् । याज्ञवल्क्यस्मृति २/८९ मिताक्षरा

527 भागदानक्रयाधानसंविद्दासऋणादिभि: । सप्तधा लौकिकं लेख्यं त्रिविधं राजशासनम् ॥ बृहस्पतिस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका, पृ.१३६, व्यवहारकाण्ड ६/५

528 चिरकं च स्वहस्तं च तथोपगतसंज्ञितम् । आधिपत्रं चतुर्थं च पचमं क्रयपत्रं ॥
षष्ठंतु स्थितिपत्राख्यं सप्तमं संविपत्रकम् । विशुद्धिपत्रकं चैवमष्टधालौकिकं स्मृतम् ॥ व्यासस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका, पृ. १३५

विशुद्धिपत्र । कात्यायन[529] ने ४ प्रकार के जानपद लेखों- स्थितिपत्र, सन्धिपत्र, सीमापत्र, विशुद्धिपत्र को स्वीकार किया है । शुक्रनीति ने भी अनेक जानपद लेखों का उल्लेख किया है- भोगपत्र, करदीकृत, उपायनीकृत, पुरुषावधिक, कालावधिक, भागपत्र, धर्मपत्र, क्रयपत्र, सादिलेख, संवित्लेख, ऋणपत्र, शुद्धिपत्र, सामयिकपत्र, सम्मितसंज्ञक, भाषा या वेदनार्थक पत्र ।[530]

जानपद प्रमाण के भेदों की संक्षिप्त व्याख्या-

- **विभागपत्र**- बंटवारे का लेखप्रमाण अर्थात् स्वेच्छा से भाईयों के बीच आपस में होने वाले बंटवारे का जो अभिलेख तैयार किया जाता था उसे विभागपत्र कहा जाता था ।[531]

- **दानपत्र** (दान की सम्पत्ति का पत्र)- वह लेख जिसमें दिये जाने वाले दान जैसे भूदान को लिखित रूप दिया जाता था ।[532]

- **क्रयपत्र** (सम्पत्ति क्रय करने का पत्र)- उचित मूल्य देकर घर, जमीन आदि की जो खरीददारी होती थी उसके लिए जो दस्तावेज तैयार किया जाता था, उसे क्रयपत्र कहा जाता था ।[533]

- **आधानपत्र/सादिलेख** (बंधकपत्र)- जब कोई व्यक्ति धन की आवश्यकता पडने पर किसी अन्य व्यक्ति के यहां स्वयं की चल या अचल सम्पत्ति को धरोहर के रूप में इस शर्त के साथ रखता था कि यह "रक्षणीय एवं उपभोग्य है", तब उससे संबन्धित जो अनुबन्ध पत्र तैयार किया जाता था उसे आधानपत्र कहा जाता था ।[534]

- **स्थितिपत्र या संवित्पत्र**- जब किसी ग्राम, श्रेणी, पूग आदि के सदस्य मिलकर प्रशासन के सहयोगी धर्म की रक्षा के निमित्त जो प्रतिज्ञापत्र लिखते थे उसे संवित्पत्र कहा जाता था ।

---

529 कात्यायनस्मृति २५४-२५७

530 शुक्रनीति ४/५/३०४-३१५

531 भ्रातरः संविभक्ता ये स्वरुच्या तु परस्परम् । विभागपत्रं कुर्वन्ति भागलेख्यं तदुच्यते ॥ बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारकाण्ड ६/११
शुक्रनीति ४/५/३०५

532 भूमिं दत्त्वा यस्तु पत्रं कुर्याच्चन्द्रार्ककालिकम् । अनाच्छेदामनाहार्यं दानलेख्यं तु तद्विधुः ॥ बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारकाण्ड ६/१२

533 गृहक्षेत्रादिकं क्रीत्वा तुल्यमूल्याक्षरान्वितम् । पत्रं कारयते यत्तु क्रयलेख्यं तदुच्यते ॥ बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारकाण्ड ६/१३
शुक्रनीति ४/५/३०७

534 जङ्गमं स्थावरं बन्धं दत्त्वा लेख्यं करोति यत् । गोप्यभोग्यक्रियायुक्तमाधिलेख्यं तु तत्स्मृतम् ॥ बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारकाण्ड ६/१४
शुक्रनीति ४/५/३०८

इसके लिये यह आवश्यक शर्त होती थी कि यह प्रतिज्ञा पत्र राजशासन का विरोधी नहीं होना चाहिए।[535]

- **दासपत्र**- जब कोई व्यक्ति भोजन-वस्त्रादि के अभाव में किसी अन्य व्यक्ति के यहां गुलामी/सेवा कार्य करने का जो लेख लिखता था उसे दासपत्र कहा जाता था।[536]

- **ऋणपत्र या उद्धारपत्र**- जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से ऋण लेता था तब उस ऋण के संबंध में ब्याज के साथ भविष्य में किसी तिथि पर लौटा देने के निश्चय के साथ जो लेख लिखा जाता था उसे ऋणपत्र या उद्धारपत्र कहा जाता था।[537]

- **सीमापत्र**- किसी स्थान की सीमा के तय हो जाने पर सीमा का निर्धारण करने वाला लेख सीमापत्र होता था।[538]

- **विशुद्धिपत्र**- महापातक या पातक जैसें अपराधों किये जाने पर निर्धारित प्रायश्चित को करने के बाद व्यक्ति शुद्ध हो जाता था। शुद्धि होने उपरान्त साक्षियों के साथ लिखा जाने वाला मुक्ति लेख विशुद्धिपत्र कहलाता था।[539]

- **सन्धिपत्र**- अपराधी के द्वारा अपराध की स्वीकृति पर विशिष्ट लोगों की उपस्थिति में समझौते का जो लेख लिखा जाता था उसे सन्धिपत्र कहा जाता था।[540]

- **उपगत**- जब ऋणदाता ऋणी के द्वारा सम्पूर्ण ऋण चुका दिये जाने पर जो रसीद ऋणी को देता था उस लेख को उपगत कहा जाता था।[541]

- **अन्वाधिपत्र**- यह पत्र बंधक रखने वाले की ओर से लिखकर ऋणदाता को दिया जाता था।

---

535 ग्रामो देशश्च यत्कुर्यान्मत्तलेख्यं परस्परम् । राजाविरोधि धर्मार्थे संवित्पत्रं वदन्ति तत् ॥ बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारकाण्ड ६/१५

चात्रुविद्यपुरश्रेणी- गणपौरादिकस्थितिः। तत्सिध्यर्थं तु यल्लेख्यं तद्भवेत्स्थितिपत्रकम् ॥ कात्यायनस्मृति २५४

शुक्रनीति ४/५/३०९

536 वस्त्रान्नहीनः कान्तारे लिखितं कुरुते तु यत्। कर्माहं ते करिष्यामि दासपत्रं तदिष्यते ॥ बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारकाण्ड ६/१६

537 धनं वृध्या गृहीत्वा तु स्वयं कुर्याच्च कारयेत् । उद्धारपत्रं तत्प्रोक्तमृणलेख्यं मनीषिभिः ॥ बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारकाण्ड ६/१७

शुक्रनीति ४/५/३१०

538 सीमाविवादे निर्णीते सीमापत्रमिति स्मृतम् ॥ बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारकाण्ड ६/६

सीमाविवादे निर्णीते सीमापत्रं विधीयते ॥ कात्यायनस्मृति २५७

539अभिशापे समुत्तीर्णे प्रायश्चित्ते कृते जनैः। विशुद्धिपत्रकं ज्ञेयं तेभ्यः साक्षिसमन्वितम् ॥ कात्यायनस्मृति २५५

शुक्रनीति ४/५/३११

540 उत्तमेंषु समस्तेषु अभिशापे समागते। वृत्तानुवादलेख्यं यत्तज्ज्ञेयं सन्धिपत्रकम् ॥ कात्यायनस्मृति २५६

541 पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग २, पृ.७२९

- **भोगपत्र** – जिस पत्र में यह लिखा हो कि- "तुम इसका उपभोग करो", वह लेख भोगपत्र होता था ।[542]

- **करदीकृत**- जिस पत्र में यह लिखा हो कि- "इस सम्पत्ति की इतनी सी मालगुजारी देनी है", वह लेख करदीकृत पत्र होता था ।[543]

- **उपायनीकृत**- लिखित रूप में दी गई उपहारस्वरूप सम्पत्ति वाले लेख को उपायनीकृत लेख कहा जाता था ।[544]

- **पुरुषावधिक**- जिस लेख में किसी सम्पत्ति को एक से अधिक लोगों को उपभोग हेतु दिया जाता था वह लेख पुरुषावधिक कहलाता था ।[545]

- **कालावधिक**- जिस लेख में किसी धन, सम्पत्ति या उपनिधि के लिए समय का उल्लेख किया जाता था वह कालावधिक लेख कहलाता था ।[546]

- **धर्मपत्र**- जब किसी को घर, जमीन आदि देकर सार्वजनिक रूप से यह घोषित किया जाता था कि यह सम्पत्ति अनाहरणीय है तो उसके संबंध में लिखित लेख को धर्मपत्र कहा जाता था ।[547]

- **सामयिकपत्र**- जब कुछ उद्योगपतियों के द्वारा अपने धन का कुछ हिस्सा भागीदार के रूप में लगाकर कोई उद्योग चलाने के लिए जो संवित्पत्र तैयार किया जाता था उसे सामयिक पत्र कहा जाता था ।[548]

- **सम्मितसंज्ञकपत्र**- शिष्टनागरिक, पदाधिकारी, अमात्यादि राजप्रधान पुरुष एवं सभासद् के द्वारा लिये गये निर्णय यदि वादियों को मान्य हो तो उस संबंध में लिखित पत्र को सम्मितसज्ञक पत्र कहा जाता था ।[549]

- **भाषापत्र/वेदनार्थकपत्र**- किसी व्यक्ति की मनोदशाओं को व्यक्त करने वाला पत्र भाषापत्र/वेदनार्थकपत्र होता था ।[550]

---

[542] शुक्रनीति ४/५/३०४

[543] शुक्रनीति ४/५/३०४

[544] शुक्रनीति ४/५/३०४

[545] शुक्रनीति ४/५/३०४

[546] शुक्रनीति ४/५/३०४

[547] शुक्रनीति ४/५/३०६

[548] शुक्रनीति ४/५/३१२

[549] शुक्रनीति ४/५/३१३

[550] शुक्रनीति ४/५/३१५

इस प्रकार जानपद लेख का सम्बन्ध सामान्य जनमानस के लेखपत्र से होता था। यह लेख पुश्तैनी लिपिक द्वारा लिखा जाता था या फिर यह स्वहस्तलिखित भी हो सकता था। जिस जानपद लेख को लिपिक द्वारा लिखा जाता था उसमें साक्षियों की आवश्यकता होती थी और जो जानपद लेख स्वहस्तकृत होता था उसमें सम्बन्धित पक्ष ही एक मात्र साक्षी होता था अर्थात् स्वहस्तकृत जानपद लेख को साक्षी की आवश्यकता नहीं होती थी। जानपद लेख को लिखितरूप देते समय सम्बन्धित पक्षों के विवरणों के साथ शुद्धता का भी ध्यान रखा जाता था। इस लेख की प्रमाणिकता के लिये साक्षियों पर निर्भर होना पडता था, बिना साक्षियों के इस लेख पर सन्देह उपस्थित हो जाता था। इसलिये उसी जानपद लेख को प्रमाणिक माना जाता था जो श्रेष्ठ/गुणवान् साक्षियों से युक्त होता था।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम की **धारा 75** में जानपद लेख को ही "प्राइवेट दस्तावेज" मानते हुए कहा गया है अन्य सभी दस्तावेज प्राइवेट दस्तावेज हैं अर्थात् जो दस्तावेज लोक दस्तावेज नहीं है वे प्राइवेट दस्तावेज है। जैसे– किसी व्यक्ति की जन्म कुंडली, व्यक्तिगत चिट्ठियाँ, पारिवारिक बंटवारे के लिखित लेख, परिवार के फोटोग्राफ, पंडों के बही-खाते, सेठों के बही-खाते, व्यक्तिगत प्रतियां आदि प्राइवेट दस्तावेज है।[551]

3.6.2 लिखित प्रमाण का स्वरूप-

लिखित प्रमाण के स्वरूप से तात्पर्य उन नियमों से होता था जिनका पालन किसी भी लेन-देनादि विषयों को लिखित रूप देते समय किया जाता था। लिखित प्रमाण का स्वरूप कैसा होना चाहिए? इस पर विस्तृत चर्चा याज्ञवल्क्यस्मृति ने की है। जो इस प्रकार है:-

१. सर्वप्रथम लेख में ऋणदाता और ऋणी के मध्य ऋण के लेन-देन में तय हुई बात जैसे- देय ऋण की मात्रा, ब्याज की दर, ऋण को लौटाने की समयावधि आदि को साक्षी सहित उल्लिखित करना चाहिए एवं इसी में ऋणी एवं ऋणदाता का नाम एवं पतादि भी लिखना चाहिए।[552]

२. उसी लेख्य में ऋण देने एवं लौटाने के मास, पक्ष, तिथि, ऋणी एवं ऋणदाता की जाति-गोत्र–उपाधि-पिता का नाम भी लिखना चाहिए।[553]

---

[551] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 75

[552] यः कश्चिदर्थो निष्णातः स्वरुच्या तु परस्परम्। लेख्यं तु साक्षिमत्कार्यं तस्मिन् धनिकपूर्वकम्॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/८४
काल निवश्य राजान निवसति तथा। दायकं ग्राहकं चैव पितृनाम्ना च संयुतम्॥ वशिष्ठस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ. १३३

[553] समामासतदर्धाहर्नामजातिस्वगोत्रकैः। सब्रह्मचारिकात्मीयपितृनामादिचिह्नितम्॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/८५

३. लेख में पूर्वोक्त सारी बातों को लिखने के उपरान्त ऋणी द्वारा लेख में लिखित बातों को स्वीकार करते हुए, लेख के अन्त में यह लिखे कि- 'मुझे अमुक के पुत्र का उक्त लेख सम्मत है'। तदनन्तर ऋणी अपना पहचान चिन्ह हस्ताक्षर या अगूठे का निशान लगा दे।[554]

४. पूर्वोक्त लेख में जितने साक्षी हैं वे भी अपना एवं अपने पिता का नाम लिखे, साथ ही 'मै अमुक का साक्षी हूं' यह लिखकर हस्ताक्षर करें। यदि ऋणी अथवा साक्षी अलिपिज्ञ (असाक्षर) हो तो ऋणी अथवा साक्षी को अपना अभिमत क्रमश: किसी अन्य व्यक्ति अथवा किसी अन्य साक्षी के द्वारा सभी उपस्थित जनों के सम्मुख लिखवा दें। इन साक्षियों की संख्या सम में होनी चाहिए।[555]

५. तदनन्तर लेख के अन्त में लेखक लिखें कि 'अमुक के पुत्र ऋणदाता एवं ऋणी दोनों के कथनानुसार मैंने यह लिख दिया है।'[556]

इस प्रकार किसी भी लिखित प्रमाण की वैधानिकता तभी होती थी, जब वह इन औपचारिकताओं को पूरा करता था। ये औपचारिकताएं लिखित प्रमाण को पूर्णता प्रदान करती थी। इन लिखित विषयों में साक्षी का होना आवश्यक होता था, क्योंकि इन कार्यों में ऋणदाता के द्वारा जो कार्य किया जाता था उस कार्य की सिद्धि के लिए साक्षियों की प्रवृत्ति होती थी। यदि कभी इन विषयों को लेकर भविष्य में कोई विवाद होता था तो उन विषयगत साक्षियों के आधार पर विवाद का निर्णय हो सकता था, जिससे उस लेख की प्रमाणिकता भी बनी रहती थी। परन्तु इसी प्रकार के लेखपत्र में जाति, संज्ञा, निवासस्थान, वस्तु, संख्या, वर्ष, मास, पक्ष, दिन आदि का भी स्पष्ट उल्लेख होना आवश्यक था। इस प्रकार के स्वरूप से युक्त प्रमाण को मूल लिखित प्रमाण माना जाता था जिसे आज की प्रमाण अधिनियम में प्राथमिक प्रमाण कहा गया है।

3.6.3 लिखित प्रमाण की प्रमाणिकता / अप्रमाणिकता-

किसी भी व्यवहार को लिखित रूप देते समय यदि लिखित प्रमाण के नियमों का सुसंगतढंग से पालन नहीं किया गया हो और यदि लेख्य को अनुचितरूप से लिखा या लिखवाया गया हो तो उस लेख को अप्रमाणिक माना जाता था और जो वैधानिक रूप से मान्य नहीं होता था। अत: यह आवश्यक होता था कि किसी विषय की प्रमाणिकता को सिद्ध करने के लिए उस विषय को लिखित रूप देते समय समस्त लेख्य नियमों का पालन किया जाये ताकि वह विषय यदि व्यवहारप्रक्रिया (न्यायिक प्रक्रिया) में उपस्थित हो तो स्वयं की प्रमाणिकता को सिद्ध कर सके। लेख की प्रमाणिकता एवं अप्रमाणिकता संबंधी नियम इस प्रकार है-

---

554 समाप्तेऽर्थे ऋणी नाम स्वहस्तेन निवेशयेत्। मतं मेंऽमुकपुत्रस्य यदत्रोपरि लेखितम्॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/८६

555 साक्षिणश्च स्वहस्तेन पितृनामकपूर्वकम्। अत्राहममुकः साक्षी लिखेयुरिति ते समाः॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/८७

556 उभयाभ्यर्थितेनैतन्मया ह्यमुकसूनुना। लिखितं ह्यमुकेनेति लेखकोऽन्ते ततो लिखेत्॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/८८

निम्नोक्त लेखों को प्रमाणिक माना जायेगा-

१. जो लेख बिना किसी बल, भय एवं छलकपट आदि के स्वयं के द्वारा लिखित हो तो उस लेख की प्रमाणिकता साक्षी के बिना भी होती थी ।[557]

२. जो लेख देश की मर्यादा का उल्लंघन न करता हो, आधि के नियमानुसार हो अर्थात् जिस लेख में व्यक्ति विशेष अपने स्वत्व या अधिकार को प्रकट करता हो, नियमानुसार क्रमबद्ध लिखित हो तथा लेख में उल्लिखित विषय को अस्त-व्यस्त करके न लिखा हो तो ऐसा लेख प्रमाणिक होता था ।[558]

३. जो लेख किसी अवसर पर लोगों द्वारा देखा गया हो या ऋणी को बतलाया गया हो तो उस लेख की प्रमाणिकता लेख सम्बद्ध साक्षी के मरने के बाद भी बनी रहती थी ।[559]

४. जिस पितृकृत लेख को ऋणग्रहीता के पुत्रों या उत्तराधिकारियों द्वारा न देखा गया हो और न सुना गया हो तो ऐसा लेख केवल लेख सम्बद्ध साक्षी के जीवनकाल तक ही प्रमाणिक होता था ।[560]

५. कौटिल्य के अनुसार प्रत्येक लेख में ६ गुणों का होना आवश्यक है । यथा- अर्थक्रम, सम्बन्ध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य एवं स्पष्टता ।

- अर्थक्रम- प्रधान अर्थ और अप्रधान अर्थ पूर्वापर यथाक्रम में रखना ही अर्थक्रम है ।
- सम्बन्ध- लेख की समाप्ति पर्यन्त अगला अर्थ, प्रस्तुत अर्थ का बाधक न होने पर अर्थसंबंध है ।
- परिपूर्णता- अर्थपद तथा अक्षरों का न्यूनाधिक्य न होना, हेतु, उदाहरण तथा दृष्टान्त सहित अर्थ का निरूपण करना, प्रभावहीन शब्दों का प्रयोग न करना आदि परिपूर्णता है ।
- माधुर्य- सरल सुबोध शब्द का प्रयोग करना माधुर्य है ।
- औदार्य- शिष्ट शब्दों का प्रयोग करना औदार्य है ।
- स्पष्टता- सुप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग करना स्पष्टता है ।

---

[557] विनापि साक्षिभिर्लेख्यं स्वहस्तलिखितं तु यत् । तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यं बलोपधिकृतादृते ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/८९

[558] देशाचाराविरुद्धं यद्व्यक्ताधिकृतलक्षणम् । तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यमविलुप्तक्रमाक्षरम् ॥ नारदस्मृति ४/१३६
देशाचाराविरूद्धं व्यक्ताधिकृतलक्षणमलुप्तक्रमाक्षरं प्रमाणम् ॥ विष्णुधर्मसूत्र ७/११

[559] दर्शितं प्रतिकालं यत् प्रार्थितं श्रावितं च यत् । लेख्यं सिध्यति सर्वत्र मृतेष्वपि हि साक्षिषु ॥ नारदस्मृति ४/१४०

[560] अदृष्टार्थमश्रुतार्थं व्यवहारार्थमागतम् । न लेख्यं सिद्धिमाप्नोति जीवत्स्वपि हि साक्षिषु ॥ नारदस्मृति ४/१४१

साथ ही लेख की प्रमाणिकता में लेखक का मुख्य योगदान होता था इसलिए लेखक को आचार-विचारों का ज्ञाता, शीघ्र वाक्यों की रचना करने वाला और शान्त चित्त वाला होना आवश्यक था। क्योंकि इस प्रकार के गुणों से युक्त लेखक द्वारा लिखित लेख में लेखन संबंधी सभी प्रतिबन्धों का सहजभाव से पालन किया जाता था।[561] भारतीय साक्ष्य अधिनियम में भी बदलती परिस्थितियों के अनुसार हुए परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए लेखों की प्रमाणिकता से सम्बन्धी प्रावधान का विवरण धारा 79 से धारा 90 तक किया गया है।

निम्नोक्त लेखों को अभियोग में अप्रमाणिक माना जायेगा –

१. वह लेख जो लिखित प्रमाण के उल्लेखित नियमों के अनुसार न हो या लेख क्रमबद्धढंग से न लिखा गया हो या मूल अर्थ की बजाय अन्य अर्थ को बतलाने वाला हो या भिन्न-भिन्न अर्थ को बतलाने वाला हो या निरर्थक हो या कालान्तर में लिखा गया हो तो उस लेख को अप्रमाणिक माना जाता था।[562]

२. जिस लेख को मत्त, आश्रित, अभियुक्त, बिमार, स्त्री, पागल, बालक आदि के द्वारा बल-भय-छलकपटपूर्वक लिखवाया गया हो तो उस लेख को प्रमाणिक नहीं माना जाता था अर्थात् जिस भी लेख को बलपूर्वक या छलकपट से या साक्षी को रिसवत देकर या किसी अन्य अनुचित माध्यम से लिखवाया जाता था तो उस लेख को प्रमाण्य नहीं माना जाता था।[563]

   अपवाद- बृहस्पति के अनुसार उन्मत्त, जड, बालक एवं प्रवासी आदि का लेख दीर्घकाल तक हानि को प्राप्त नहीं करता है। उस लेख की प्रमाणिकता दीर्घकाल तक बनी रहती थी।[564]

३. वह लेख जो आधि अर्थात् स्वत्व के अधिकार से रहित हो और जिस लेख को साक्षी, ऋणदाता एवं ऋणी की मृत्यु के उपरान्त लिखा गया हो तो वह लिखित प्रमाण होते हुए भी अप्रमाणिक होता था।[565]

---

561 अर्थक्रम: सम्बन्धपरिपूर्णता माधुर्यमौदार्यास्पष्ट्त्वमिति लेखसम्पत्। अर्थशास्त्र २/१०/१

562 शुक्रनीति ४/५/१८१-१८२

563 मत्ताभियुक्तस्त्रीबाल- बलात्कारकृतं च यत्। तदप्रमाणं लिखितं भीतोपधिकृतं तथा॥ नारदस्मृति ४/१३७
तद्बलात् कारितमप्रमाणम्। उपधिकृताश्च सर्व एव। दूषितकर्मदुष्टसाक्ष्यङ्कितं तत्ससाक्षिकमपि। तादृग्विधेन लिखितं च। स्त्रीबालाऽस्वतन्त्रमत्तोन्मत्तभीतताडितकृतं च। विष्णुधर्मसूत्र ७/६-११
मत्तेनोपाधिभीतेन तथोन्मत्तेन पीडितैः। स्त्रीभिर्बालाऽस्वतन्त्रैश्च कृतं लेख्यं न सिध्यति॥ कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ. ३७०
मुमूरुषुहीनलुप्तार्थैरुन्मातव्यसनातुरैः। विषोपधिबलात्कार- कृतं लेख्यं न सिध्यति॥ बृहस्पतिस्मृति व्यवहारकाण्ड ६.३०
अप्रगल्भेन च स्त्रिया बलात्कारेण यत् कृतम्। शुक्रनीति ४/५/१८२

564 उन्मत्तजडबलानां राजभीतिप्रवासिनाम्। अप्रगल्भभयार्त्तानां न लेख्यं हानिमाप्नुयात्॥ बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारकाण्ड, ६/५२

565 मृताः स्युः साक्षिणो यत्र धनिकर्णिकलेखकाः। तदप्यपार्थं लिखितं न चेदाधिः स्थिराश्रयः॥ नारदस्मृति ४/१३८

४. जिस लेख को न कभी देखा हो या न कभी सुना हो उस लेख को साक्षी की उपस्थिति में भी प्रमाणिक नहीं माना जाता था।[566]

५. जिस लेख्य के ऋणदाता, ऋणी, साक्षी एवं लेखक सभी मृत्यु को प्राप्त हो गये हो और ऋण बन्धक अथवा भोग से भी सिद्ध न होता हो तो वह लेख्य स्वीकार करने योग्य नहीं होता था। ऐसे लेख्य की कोई उपयोगिता नहीं होती थी।[567]

६. कौटिल्य ने निम्न दोषों से युक्त लेख को अप्रमाणिक माना है, यथा-

- अक्रान्ति- स्वच्छतारहित अर्थात् स्याही पडे या मलिन कागज पर लिखना, भद्दे अक्षर में लिखना, छोटे-बडे अक्षर में लिखना या फीकी स्याही में लिखना अक्रान्ति दोष है।
- व्याघात- परवर्ती कथनों(लेख) का पूर्ववर्ती कथनों (लेख) से विरोध अर्थात् परस्पर कथनों में सम्बन्ध का अभाव ही व्याघात दोष है।
- पुनरुक्त- कथनों का पुन: पुन: प्रयोग पुनरुक्त दोष है।
- अपशब्द- लिंग, वचन,काल और कारक का व्यवहार विपरीत प्रयोग करना अपशब्द दोष है।
- सम्प्लव- लेख में विराम आदि चिन्हों की, अर्थक्रम के अनुसार योजना न करना या अनुचित प्रयोग करना ही सम्प्लव दोष है।[568]

इस प्रकार किसी भी व्यवहार को लिखित रूप देते समय लिखितप्रमाण के स्वरूपगत नियमों का समुचितढंग से पालन किया जाता था। जिस भी लेख में इन नियमों का पालन नहीं किया जाता था उस लेख पर सन्देह उपस्थित हो जाता था जो उस लेख की प्रमाणिकता को भी सन्देहास्पद बना देता था। इसलिये लेख की प्रमाणिकता हेतु निर्धारित नियमों जैसे- अर्थक्रम, संबंध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य तथा स्पष्टता आदि का सुनिश्चितढंग से पालन किया जाना अत्यावश्यक होता था। जिन लेखों में इन नियमों के विपरीत दोषों जैसे- अक्रान्ति, व्याघात, पुनरुक्त, अपशब्द तथा सम्प्लव आदि का समावेश होता था उन लेखों को अप्रमाणिक माना जाता था। ये लेखगत गुण एवं दोष लेखन के व्यवहार पर निर्भर करते थे अर्थात् किस प्रकार से विषय को लेखपत्र पर लिखा गया है। इन लेखगत गुण एवं दोषों के अतिरिक्त, सम्बन्धित पक्षों के शारीरिक एवं मानसिक व्यापार को भी लिखित प्रमाण की प्रमाणिकता एवं अप्रमाणिकता में आधार माना गया था। अर्थात जिस लेख को मानसिक रूप से अवयस्क बालक, पागल, मत्त, आश्रित, स्त्री एवं अन्यजनों से बलपूर्वक, डरा-

---

[566] अदृष्टार्थमश्रुतार्थं व्यवहारार्थमागतम्। न लेख्यं सिद्धिमाप्नोति जीवत्स्वपि हि साक्षिषु॥ नारदस्मृति ४/१४१

[567] मृताः स्युः साक्षिणो यत्र धनिकर्णिकलेखकाः। तदप्यपार्थं लिखितमृते त्वाधेः स्थिराश्रयात्॥ नारदस्मृति ४/१३८

[568] अकान्तिर्व्याघात: पुनरुक्तमपशब्द: सम्प्लव इति लेखदोषा। अर्थशास्त्र २/१०/१

धमकाकर, रिश्वत देकर लिखवाया जाता था तो उस लेख को भी अप्रमाणिक माना जाता था। साथ ही लेख की प्रमाणिकता के लिये लेख के सम्बन्धित पक्षों जैसे- वादी, प्रतिवादी, साक्षी, लेखक आदि का भी जीवित होना आवश्यक होता था क्योंकि ये लोग लेख से सम्बन्धित सभी संशयों का समाधान करते थे। इस प्रकार विस्तृत रूप में लिखित प्रमाण के स्वरूप को वर्णित करते हुए धर्मशास्त्रकारों ने इसके औचित्य एवं श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है।

3.6.4 परिस्थिति विशेष में लिखित प्रमाण संबंधी नियम-

लेख के स्वरूप, लेख की प्रमाणिकता एवं अप्रमाणिकता के साथ ही धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में परिस्थितिजन्य लेख की भी चर्चा की गई है। परिस्थितिजन्य लेख से तात्पर्य उन लेखों से होता था जो या तो नष्ट हो गये हो या खो गये हो या लेख में किसी तरह का संदेह उपस्थित हो गया हो या किसी अन्य प्रकार से लेख को हानि हो गई हो तो इन सभी परिस्थितियों के उपस्थित होने पर जिन-जिन लेख्य नियमों का पालन किया जाता था उन्हें परिस्थितिजन्य लेखनियम कहा जाता था। अगर लेखों का स्वरूप के आधार पर भेद किया जाये तो लेख के दो भेद होंगे- मूल लेख (मूलरूप में लिखित) तथा परिस्थितिजन्य लेख (मूललेख का ही पुनर्लेखन)। इस परिस्थितिजन्य प्रमाण को ही भारतीय साक्ष्य अधिनियम में "द्वितीयक साक्ष्य" कहा गया है। **धारा 63** द्वितीयक साक्ष्य (प्रमाण) वे प्रमाण है जो प्राथमिक से तैयार किये गये है। जैसे- दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतियाँ, मूल से यांत्रिक तरीके द्वारा बनाई गयी प्रतियां, मूल से बनायीं गयी या तुलना की गयी प्रतियां, दस्तावेजों की प्रतिलिपियाँ, देखने वाले द्वारा दस्तावेज का मौखिक वृत्तांत, किसी व्यक्ति के फोटोग्राफ आदि द्वितीयक साक्ष्य होते हैं।[569] जिनसे लेख की प्रमाणिकता को पुन: सिद्ध की जा सकता था। वे लेखगत परिस्थितियां निम्न है:-

१. अगर लेख्य पत्र किसी दूरवर्ती देश में छूट जाये या पढ़ने योग्य न रहा हो या नष्ट हो जाए या खो जाये या चुरा लिया गया हो या पुराने होने पर उसके टुकडे- टुकडे हो गये हो या जल गया हो या कट जाये तब ऋणदाता एवं ऋणी की सहमति पर दूसरा लेख्य पत्र बनवा जा सकता था।[570] पूर्वोक्त परिस्थितियों में लेख्य पत्र की प्रमाणिकता सम्बद्ध साक्षी द्वारा ही सिद्ध की जाती थी।[571] यह नियम **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की **धारा 65** के समान है।[572] धारा 65- वे अवस्थाएं जिनमें दस्तावेजों के सम्बन्ध में द्वितीयक साक्ष्य/प्रमाण दिया जा सकेगा- जब विपक्षी

---

569 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 63

570 छिन्नभिन्नहृतोन्मृष्ट- नष्टदुर्लिखितेषु च। कर्तव्यमन्यल्लेख्यं स्यादेष लेख्यविधिः स्मृतः॥ नारदस्मृति ४/१४६
देशान्तरस्थे दुर्लेख्ये नष्टोन्मृष्टे हृते तथा। भिन्ने दग्धेऽथवा छिन्ने लेख्यमन्यत्तु कारयेत्॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९१

571 लेख्ये देशान्तरन्यस्ते दग्धे दुर्लिखिते हृते। सतस्तत्कालहरणमसतो द्रष्टदर्शनम्॥ नारदस्मृति ४/१४२
लेख्ये देशान्तरन्यस्ते दग्धे दुर्लिखिते हृते। सतस्तत्कालहरणमसतो द्रष्टृदर्शनम्॥ कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.३६९

572 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 65

ने लिखित रूप से स्वीकार कर लिया हो, जब मूल दस्तावेज नष्ट हो गया हो, खो गया हो, मिल नहीं सकता है, तब उसका द्वितीयक प्रमाण दिया जायेगा । जहाँ मूल दस्तावेज आसानी से स्थानांतरित नहीं किया जा सकता है या जहाँ मूल की प्रमाणित प्रति उपलब्ध न हो वहां द्वितीयक प्रमाण दिया जा सकेगा । इस प्रकार इन उपरोक्त परिस्थितियों में द्वितीयक साक्ष्य दिया जा सकता है |

२. यदि लेख्य पर हस्ताक्षरितकर्ता की मृत्यु हो जाए और लेख्य पर संदेह उपस्थित हो जाये तब हस्ताक्षरकर्ता के हस्ताक्षर को उसी के अन्य हस्ताक्षर से मिलाकर सन्देह को दूर किया जाता था ।[573] यह नियम **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की **धारा 67** के समान है ।[574] धारा 67- हस्ताक्षर को कैसे साबित किया जाता है– जब किसी व्यक्ति का हस्ताक्षर साबित करना होता है तो जिस व्यक्ति ने लिखा है –(१)- उसे बुलाकर, (२)- जिस व्यक्ति की उपस्थिति में लिखा गया है, उसे बुलाकर, (३)- हस्तलेख विशेषज्ञ को बुलाकार, (४)- उस व्यक्ति को बुलाकर जो परिचित है, (५)- स्वीकृत हस्ताक्षर या लिखावट की तुलना करके अथवा इस बात का सबूत देकर कि जिसने लिखा है, उसने लिखना स्वीकार कर लिया हो, (६)- पेशकार, क्लर्क या मुनीम को बुलाकार, (७)- अन्य परिस्थितियों का प्रमाण देकर, आद से हस्ताक्षर का प्रमाण दिया जा सकता है |

३. यदि लेख पत्र के ऋणी, साक्षी एवं लेखक की भी मृत्यु हो जाए तब उसके द्वारा लिखे गये अन्य लेख प्रमाणों से मिलाकर प्रमाणिकता की पुष्टि की जाती थी ।[575] यह नियम **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की **धारा 69** के समान है ।[576] धारा 69 जब अनुप्रमाणक साक्षी न मिले, जैसे- जब वे मर गये हों या सक्षम न रह गये हो तो केवल दो बाते शामिल करना होती है- (१.) निष्पादन उसी व्यक्ति के हस्तलेख में है, जिसके द्वारा निष्पादित करना कहा जाता है, तथा (२.) अनुप्रमाणक साक्षी के हस्तलेख का सबूत देकर, अथवा (३.) किसी विशेषज्ञ को बुलाकर |

४. राजमुद्रा के द्वारा चिन्हित लेख जिस पर वादी, प्रतिवादी, साक्षी तथा लेखक के हस्ताक्षर हो तो इन हस्ताक्षरकर्ता में से किसी की मृत्यु के बाद भी लेख को प्रमाणिक माना जाता था ।[577] यह

---

573 वर्णैश्च तत्कृतैश्चिन्हैः पत्रैरेव व युक्तिभिः । संदिग्धं साधयेल्लेख्यं तद्युक्तिप्रतिरूपितैः ॥ विष्णुधर्मसूत्र ७/१२

574 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 67

575 यत्रर्णी धनिको वापि साक्षी वा लेखकोऽपि वा । म्रियते तत्र त्ल्लेख्यं तद्युक्तिप्रतिरुपकैः ॥ विष्णुधर्मसूत्र ७/१३

576 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 67

577 समुद्रे तु यदा लेख्ये मृताः सर्वेऽपि तत्स्थिताः । लिखितं तत्प्रमाणं तु मृतेष्वपि हि तेषु वै ॥ कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.३७१

नियम **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की **धारा 79** के समान है ।[578] धारा 79 प्रमाणित प्रतियों की असली होने की उपधारणा है जिसके अंतर्गत इस बात की विधिक उपधारणा की गयी है कि यदि कोई प्रमाणित प्रति या अन्य दस्तावेज, जिसका किसी विशिष्ट तथ्य के प्रमाण के रूप में ग्राह्य होना विधि द्वारा अपेक्षित है और जो केंद्रीय सरकार या राज्य सरकार के किसी ऑफिसर द्वारा अथवा जम्मू-कश्मीर राज्य के किसी ऑफिसर द्वारा प्रमाणित है और जिसे सम्यक रूप में प्रमाणित करने का अधिकार प्राप्त है, तब न्यायालय ऐसे दस्तावेज का असली होना उपधारित करेगा । लेकिन इसके लिए यह आवश्यक होगा कि वह दस्तावेज उसी रूप में निष्पादित हो जैसा विधि द्वारा विनिर्दिष्ट है ।

५. लेख्य पत्र में संदेह हो जाने पर दूसरे स्वहस्तलिखित पत्र से मिलाकर, देशकालादि में प्राप्ति से, साक्षी के द्वारा, लेखक के लिपिचिन्हों के द्वारा, आगम के द्वारा, लेख्य की प्राप्ति कैसे हुई आदि हेतुओं के द्वारा संशय को दूर किया जाता था ।[579] इसका तात्पर्य यह है कि यदि लेख्यपत्र पर यह सन्देह हो जाता था कि यह पत्र शुद्ध है अथवा अशुद्ध । तब उस सन्दिग्ध पत्र को शुद्धि के लिये अपने हाथों से लिखे गये अन्य लेखान्तर से मिलाकर देखा जाता था कि दोनों पत्रों में अक्षरों की बनावट समान है कि नहीं । यदि दोनों पत्रों के अक्षर समान होते थे तो उस सन्दिग्ध पत्र को शुद्ध माना जाता था और साथ ही अन्य संशय निवारण हेतुओं जैसे उस देश काल में उन पुरुषों के साथ ऋण का संबंध, उस लेख्य पत्र के बारे में साक्षी का कथन एवं लेखक के चिन्हादि का ज्ञान, ऋणदाता एवं ऋणी में लेन-देन का संबंध, ऋणदाता द्वारा लेख्य में उल्लेखित ऋणराशि की प्राप्ति के संभावित उपायों, ऋणदाता ने जितने ऋण का उल्लेख किया है उतना ऋण देने के वह समर्थ है या नहीं इत्यादि के द्वारा संशय को दूर किया जाता था । यह नियम **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की **धारा 73** के समान है ।[580] धारा 73- हस्तलेख या सील की तुलना– जब यह निश्चित करना हो कि क्या कोई हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा उस व्यक्ति की है, जिसके द्वारा लिखा जाना तात्पर्यित है, तब ऐसे किसी हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा को किसी स्वीकृत और साबित हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा से तुलना की जा सकेगी । इस सम्बन्ध में न्यायालय को यह अधिकार है कि किसी व्यक्ति को शब्दों व अंकों को लिखने का निर्देश दे सके । यही नियम अंगुली चिन्हों पर भी लागू होता है । धारा 73 न्यायालय को इस बात का

---

[578] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 79

[579] संदिग्धलेख्यशुद्धिः स्यात्स्वहस्तलिखितादिभिः । युक्तिप्राप्तिक्रियाचिह्नसंबन्धागमहेतुभिः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९२
यत्र स्यात्संशयो लेख्ये भूताभूतकृते क्वचित् । तत्स्वहस्तक्रियाचिह्न प्राप्तियुक्तिभिरुद्धरेत् ॥
लेख्यं यच्चान्यनामाङ्कं हेत्वन्तरकृतं भवेत् । विप्रत्यये परीक्ष्यं तत्संबन्धागमहेतुभिः ॥ नारदस्मृति ४/१४३-१४४
दूषितो गर्हितः साक्षी यत्रैकोऽपि निवेशितः । कूटलेख्यं तु तत्प्राहुर्लेखको वाऽपि तद्विधः ॥
यदुज्वलं चिरकृतं मलिनं चाल्पकालिकम् । भग्नोन्मृष्टाक्षरयुतं लेख्यं कूटत्वमाप्नुयात् ॥
लेख्यदोषास्तु ये केचित्साक्षिणां चैव ये स्मृताः । वादकाले तु वक्तव्याः पश्चादुक्तान्न दूषयेत ॥ बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.३६६

[580] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 73

अधिकार देती है- कि वह यह जानने के लिए कि कोई लिखत उसी व्यक्ति का है, जिसका कहा जाता है, उसकी लिखावट से तुलना कर सकती है या लिखने का निर्देश दे सकती है ।

६. यदि किसी व्यक्ति का लेख किसी अन्य व्यक्ति के हाथ में दिखाई देता था तो उस व्यक्ति से तद्लेख के आगमन के विषय में स्पष्टीकरण किया जाता था ।[581]

७. ऋणी को निर्देश दिया गया था कि जब वह ऋण की अदायगी एक साथ न करके थोड़े-थोड़े समय पर करता है तो देय ऋण को लेख्य पत्र के पृष्ठ भाग में लिख दे और साथ ही ऋणदाता ऋणी को प्राप्त ऋण की रसीद भी दे । तथा सम्पूर्ण ऋण के चुकता हो जाने पर लेख्यपत्र को फाड़कर या जलाकर नष्ट कर दें ।[582]

८. किसी लेख्य में लिखित ऋण की देयता तीन पुरुषों तक ही होती थी अर्थात् साक्षी प्रमाणों से निर्णीत ऋण लेने वाले के पुत्र और पौत्रों को ऋण चुकाना पडता था । इस नियम का यही अभिप्रेत अर्थ था कि ऋण लेने वाले की आगे की सन्तानों में से चौथे पुरुष को (प्रपौत्र) वह ऋण देय नहीं होता था ।[583] परन्तु यदि किसी वस्तु को गिरवी रखकर ऋण लिया जाता था तो उस आधि (बन्धक) में रखे गये द्रव्य का तब तक भोग करने का विधान था जब तक बन्धक पर लिया गया ऋण अदा नहीं हो जाता । इस ऋण की देयता तीन पुरुषों से आगे तब तक देय थी जब तक पुरा ऋण अदा नहीं हो जाता था ।[584]

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि तात्कालिक समय में मूल लेख के अलावा भी परिस्थितिजन्य लेख भी होते थे जिनका विशेष परिस्थितियों में ही प्रयोग किया जाता था । वर्तमान प्रमाण अधिनियम में उल्लिखित प्राथमिक प्रमाण एवं द्वितीयक प्रमाण को ही धर्मशास्त्र में मूल एवं परिस्थितिजन्य प्रमाण माना गया है ।

3.6.5 जाली लेख पर दण्ड-

धर्मसूत्र एवं स्मृतिकाल में जाली लेखों का प्रचलन था । लिखित प्रमाण अन्य सभी प्रमाणों अधिक श्रेष्ट माना जाता था इसलिए लेख से किसी भी प्रकार की छेडखानी अपराध मानी जाती थी । कात्यायन ने जाली लेख की तुलना दर्पण से करते हुए कहा है कि जिस प्रकार दर्पण में देखने पर व्यक्ति को स्वयं के समान दर्पण में वास्तविक आकृति दृष्टिगत होती है उसी प्रकार जाली बना हुआ

---

581 यच्चान्यस्य कृतं लेख्यमन्यहस्ते प्रदृश्यते । अवश्यं तेन वक्तव्यं पत्रस्यागमनं तत: ॥ व्यासस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.३७७

582 लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेद्दत्त्वा दत्त्वार्णिको धनम् । धनी वोपगतं दद्यात्स्वहस्तपरिचिह्नितम् ॥
दत्त्वार्णं पाटयेल्लेख्यं शुद्ध्यै वान्यत्तु कारयेत् । साक्षिमच्च भवेद्यद्वा तद्वातव्यं ससाक्षिकम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९३-९४

583 ऋणं लेख्यकृतं देयं पुरुषैस्त्रिभिरेव तु । याज्ञवल्क्यस्मृति २/९०

584 आधिस्तु भुज्यते तावद्यावत्तन्न प्रदीयते ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९०

लेख वास्तविक लेख के समान ही दिखाई पडता है ।[585] नारद के अनुसार कुछ व्यक्ति स्वार्थवश लोभ के कारण इस प्रकार के जाली लेखन का कार्य करते हैं । अत: राजा को ऐसे लेखों की जांच विभिन्न मानदण्डों पर करनी चाहिए ।[586] इससे (जाली लेखों के प्रचलन से) लेख की प्रमाणिकता पर सन्देह उपस्थित हो जाता था । जिससे लेख्य की जांच करना प्राड्विवाकों एवं अन्य न्यायकर्ताओं के लिए दुष्कर हो जाता था ।[587] ऐसी स्थिति में लेख्य पत्र की संन्दिग्धता की जांच निम्न तरीके से की जाती थी- दोनों पत्रों में अक्षरों की बनावट में समानता हैं कि नहीं । यदि दोनों पत्रों के अक्षर समान है तो उस सन्दिग्ध पत्र को शुद्ध माना जाता था और साथ ही अन्य संशय निवारण हेतुओं, जैसे- उस देश काल में उन पुरुषों के साथ ऋण का संबंध, उस लेख्य पत्र के बारे में साक्षी का कथन एवं लेखक के चिन्हादि का ज्ञान, ऋणदाता एवं ऋणी में लेन देन का संबंध, ऋणदाता द्वारा लेख्य में उल्लेखित ऋणराशि की प्राप्ति का संभावित उपाय, ऋणदाता ने जितने ऋण का उल्लेख किया है उतना ऋण देने के वह समर्थ है या नहीं इत्यादि के द्वारा संशय को दूर किया जाता था ।[588]

किन्तु कभी-कभी पक्ष द्वारा प्रस्तुत लेख्य पर प्रतिपक्ष स्वार्थवश यह तर्क भी दे सकता है कि इसके द्वारा प्रस्तुत कोई ऐसा लेख लिखा ही नहीं गया । तब ऐसी स्थिति में सन्दिग्ध लेख्य की वैधता के लिए लेख्य में उल्लिखित साक्षी, लेखक एवं तत्संबंधी पक्षों से पूछताछ की जाती थी । अगर इस प्रकार की जांच पडताल में प्रतिपक्ष द्वारा उपस्थापित किया सन्देह सिद्ध नहीं हो पाता था तो प्रतिपक्ष न केवल विवाद में पराजित होता था बल्कि साथ में दण्ड का भागीदार भी होता था ।[589] इसलिए विवाद में उपस्थित लेख्य पत्र की पूर्ण जांच के उपरान्त ही निर्णय पर पहुंचा जाता था । तात्कालिक समय में प्रचलित जाली लेखों के प्रचलन को दोषपूर्ण मानते हुये इसके लिये कठोर दण्ड का भी निर्धारण किया गया था ।

जाली लेखों के प्रयोग करने पर अभियुक्त को मृत्युदण्ड दिया जाता था ।[590] और अगर जाली लेखक एवं जाली साक्षी भी होते थे तो उन्हें राजा द्वारा भलीभांति परीक्षण के उपरान्त अंगविच्छेद का दण्ड दिया जाता था ।[591] तात्कालिक जाली लेखों के न्यायप्रक्रिया में प्रचलन पर निर्धारित दण्ड के समान वर्तमान **भारतीय दण्ड संहिता 1860 एवं भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872** में भी इस

---

585 दर्पणस्थं यथा बिम्बमसत्सदिव दृश्यते । तथा लेख्यस्य बिम्बानि कुर्वन्ति कुशला जनाः ॥ कात्यायनस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ.१४८

586 पुरुषाः सन्ति ये लोभात्प्रब्रूयुः साक्ष्यमन्यथा । सन्ति चान्ये दुरात्मानः कूटलेख्यकृतो जनाः ॥
अतः परीक्ष्यमुभयमेंतद्राज्ञा विशेषतः । लेख्याचारेण लिखितं साक्ष्याचारेण साक्षिणः ॥ नारदस्मृति १/६०-६१

587 लेख्यमालेख्यवत्के चिल्लिखन्ति कुशलाः नराः । तस्मान्न लेख्य सामर्थयात् सिद्धिरैकान्तिकी मता । व्यास, स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ.१४८

588 संदिग्धलेख्यशुद्धिः स्यात्स्वहस्तलिखितादिभिः । युक्तिप्राप्तिक्रियाचिह्नसंबन्धागमहेतुभिः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९२

589 कात्यायनस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ.१४३-१४४

590 कूटशासनकर्तृंश्च राजा हन्यात् । कूटलेख्यकारांश्च । विष्णुधर्मसूत्र ५/९-१०
याज्ञवल्क्यस्मृति २/२९५
मनुस्मृति ९/२३२

591 कात्यायनस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ. १५०

तरह के कूट साक्ष्य (प्रमाण) को दण्डनीय माना गया है ।[592] धारा 79 प्रमाणित प्रतियों की असली होने की उपधारणा– इस धारा के अंतर्गत इस बात की विधिक उपधारणा की गयी है कि यदि कोई प्रमाणित प्रति या अन्य दस्तावेज, जिसका किसी विशिष्ट तथ्य के प्रमाण के रूप में ग्राह्य होना विधि द्वारा अपेक्षित है ।

निष्कर्षत: इस प्रकार लिखित प्रमाण के विस्तृत विवेचन के उपरान्त यह विचार सामने आता है कि तात्कालिक समय में लिखित प्रमाण को अन्य मानुषी प्रमाणों से अधिक श्रेष्ठ प्रमाण माना गया था । इसका कारण यह था कि लिखित प्रमाण में जब किसी विषय को न्यायोचितढंग से लिखित रूप दिया जाता था तब उसमें समय की दीर्घता से उत्पन्न होने वाली मानसिक शिथिलता से जनित दोषों (विस्मरण, भ्रान्ति, विरोधीमत) का समावेश नहीं हो पाता था । साथ ही यह प्रमाण चक्षु के माध्यम से प्रत्यक्षत: दृष्टव्य होने पर समस्त सन्देहों का नाश करने वाला भी होता था । जो लिखित प्रमाण को अन्य प्रमाणों से श्रेष्ठता प्रदान करता था । यह प्रमाण द्विविध प्रकार का होता था जिसमें राजकीय लेख का सम्बन्ध राजा की आज्ञा एवं नियमों से होता था, जो स्वत: प्रमाणित ही होता था क्योंकि उसमें प्रमाणस्वरूप राजमुद्रा अंकित होती थी । जिसके कारण राजकीय लेख पर किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं किया जाता था । जबकि जानपद लेख का सम्बन्ध सामान्यजन के लेखों से होता था जिसकी प्रमाणिकता हेतु साक्षियों की आवश्यकता होती थी । इन दोनों लेखों का एक प्रारूप भी निर्धारित किया गया था जिनमें इनको लिखा जाता था । इन प्रारुपों का अनुसरण करना आवश्यक था अन्यथा उस लेख को अप्रमाणिक घोषित कर दिया जाता था । लेख की प्रमाणिकता एवं अप्रमाणिकता हेतु कुछ नियमों का भी निर्धारण किया गया था और साथ उन परिस्थितियों का भी उल्लेख किया गया था जो लेख में समय की दीर्घतावश प्रवेश कर जाती थी जैसे लेख का छिन्न-भिन्न होना, जल जाना, खो जाना आदि । इन परिस्थितिविशेष में किन नियमों का पालन किया जाना चाहिये कि लेख पुन: अपनी प्रमाणिकता को सिद्ध कर सके आदि बातों पर भी धर्मशास्त्रकारों के द्वारा विस्तार से मत रखा गया था । वर्तमान के समान तात्कालिक समय में भी कूटलेखों का प्रचलन था । इन लेखों की जांच का कार्य प्राड्विवाक एवं अन्य न्यायिक अधिकारियों के द्वारा किया जाता था । लिखित प्रमाण की श्रेष्ठता के कारण कूट लेख को गम्भीर अपराध माना गया था जिसमें कूट लेख अपराधी को दण्डस्वरूप विवाद की हानि के साथ-साथ शारीरिक एवं आर्थिक दोनों ही प्रकार के दण्ड दिये जाते थे । यहां तक की जाली लेख के अभियुक्त को मृत्युदण्ड तक दिया जाता था जो लिखित प्रमाण की श्रेष्ठता, औचित्य एवं महत्ता को प्रकट करता था ।

[592] भारतीय दण्ड संहिता 1860, धारा 193
भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 79

भुक्ति प्रमाण

अध्याय - 4

भुक्ति प्रमाण

क्रियापाद के अन्तर्गत दूसरा प्रमाण भुक्ति होता था, जिसे साक्षी से अधिक प्रमाणिक माना जाता था। भुक्ति से तात्पर्य उपभोग से होता था अर्थात् किसी व्यक्ति के द्वारा किसी अन्य की वस्तु को अल्पकालिक या दीर्घकालिक समय के लिए अपने अधिकार में रखना भुक्ति कहलाता था। भुक्ति के द्वारा किसी अन्य की वस्तु पर स्वत्व की प्राप्ति की जाती थी। जिससे भुक्त वस्तु पर भोक्ता का अधिकार हो जाता था और उस सम्पत्ति का वास्तविक स्वामी स्वयं के स्वत्व को खो देता था। भुक्ति प्रमाण का प्रयोग सभी व्यवहारों में नहीं किया जाता था, बल्कि इसका ग्रहण विशेषरूप से सम्पत्ति के विनिमय या ऋणादि के ग्रहण में किया जाता था। धर्मशास्त्रकारों ने भुक्ति को एक प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति भोग के माध्यम से किसी अन्य की सम्पत्ति पर स्वयं के स्वामित्व को दावा करता था। उस सम्पत्ति के भोक्ता के पास सम्पत्ति के भोग के अलावा अन्य कोई प्रमाण नहीं होता था। हालांकि इस प्रकार के आगम रहित भुक्ति को धर्मशास्त्रकारों द्वारा भी अनुचित माना गया है।

4.1 भुक्ति प्रमाण-

भुक्ति प्रमाण लिखित एवं साक्षी प्रमाण से अधिक बलवान होता था क्योंकि लिखित प्रमाण के होने एवं साक्षियों के जीवित होने पर भी अचल सम्पत्ति पर स्वत्व का अधिकार बिना भोग के संभव नहीं था।[593] भुक्ति ऐसा प्रमाण था जिसमें स्वामित्व का अधिकार सम्पत्ति के उपभोग के उपरान्त ही स्थापित होता था। ऐसे में किसी अन्य की सम्पत्ति भी यदि किसी के द्वारा लम्बे समय से उपभोग की जा रही होती थी तो वह सम्पत्ति की भुक्ति प्रमाण से उपभोग करने वाले की हो जाती थी। जिससे भोक्ता उस सम्पत्ति पर स्वामित्व के अधिकार को प्राप्त कर लेता था। धर्मशास्त्रकारों ने भुक्ति द्वारा स्थापित होने वाले स्वत्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

स्वामित्व सम्बन्धी विषय- वे विषय जिनके माध्यम से किसी की सम्पत्ति पर स्वामित्व को स्थापित किया जा सकता था। इन विषयों के अन्तर्गत स्वामित्व प्राप्ति के प्रकारों के साथ-साथ उन रीतियों का भी उल्लेख किया गया था जिनसे व्यक्ति को सम्पत्ति पर स्वामित्व का अधिकार प्राप्त हो जाता था। गौतम धर्मसूत्र ने स्वामित्व पर विस्तृत चर्चा करते हुए इसकी (स्वामित्व) प्राप्ति के कई प्रकार बतलाये हैं यथा- पैतृक रिक्थप्राप्ति (वसीयत), क्रय (खरीदी हुई), संविभाग (बंटवारे से प्राप्त हुई), परिग्रह (अस्वामिक वस्तु की प्राप्ति) तथा अधिगम (स्वामी की बिना अनुमति के सम्पत्ति पर अधिकार)।[594] गौतम ने स्वामित्व की अतिरिक्त रीतियों का भी उल्लेख किया है जो सामाजिक

---

[593] त्रिविधस्यास्य दृष्टस्य प्रमाणस्य यथाक्रमम्। पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं भुक्तिरेभ्यो गरीयसी॥
विद्यमानेऽपि लिखिते जीवत्स्वपि हि साक्षिषु। विशेषतः स्थावराणां यन्न भुक्तं न तत्स्थिरम्॥ नारदस्मृति ४/७६-७७

[594] स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु। गौतम धर्मसूत्र २/१/३९

वर्णानुसार थी । जैसे- दानग्रहण (ब्राह्मण के लिए), विजय (क्षत्रिय द्वारा युद्ध क्षेत्र में प्राप्त) तथा लाभ (वैश्यों एवं शूद्रों के द्वारा क्रमश: व्यापार एवं सेवा के अन्तर्गत प्राप्त) ।[595] वशिष्ठ ने भी स्वामित्व की आठ रीतियां घोषित की है- यथा जो पैतृक रूप से प्राप्त हुआ हो, खरीदा गया हो, आधेय (भोग के अधिकार सहित व्यासरूप में रखा गया हो), अन्वाधेय (स्त्रियों के विवाह उपरान्त पितृकुल एवं ससुराल पक्ष से प्राप्त हुआ हो), प्रतिग्रह (दान में प्राप्त हो), यज्ञ में दक्षिणा स्वरूप प्राप्त, वेणि (विभाग के अनन्तर संसृष्ट हो जाने पर प्राप्त संपत्ति) तथा धूमशिखा (वेतनरूप में प्राप्त धन) ।[596] बृहस्पति ने स्वामित्व के अधिकार को घोषित करने वाले अचल सम्पत्ति के सात रूप स्वीकार किये है, यथा- विद्या, क्रय, बंधक, शौर्य, दहेज, वसीयत तथा सन्तानहीन की सम्पत्ति ।[597]

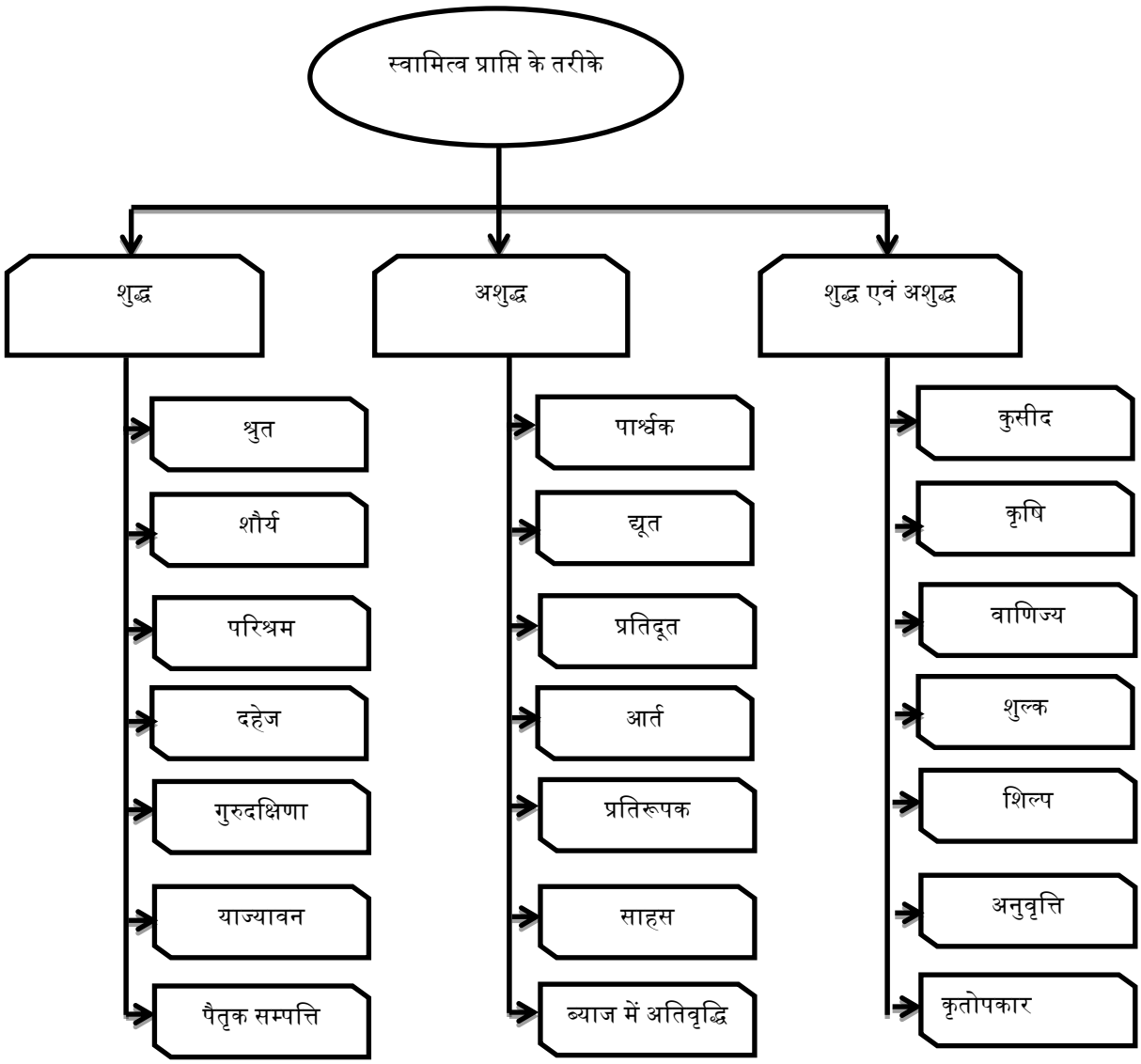

[595] ब्राह्मणस्याधिकं लब्धम् । क्षत्रियस्य विजितम् । निर्विष्टं वैश्यशूद्रयो: । गौतम धर्मसूत्र २/१/४०-४२

[596] पैतृकं क्रीतमाधेयमन्वाधेयं प्रतिग्रहम् । यज्ञादुपगमो वेणिस्तथा धूमशिखाष्टमीति । वशिष्ठ धर्मसूत्र १६/१६

[597] विद्यया क्रयबन्धेन शौर्यभार्यान्वयान्वितम् । सपिण्डस्याप्रजस्यांश: स्थावरं सप्तधाऽप्यते । बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ. ४११

नारदस्मृति ने स्वामित्व प्राप्ति के ३ तरीके बतलाये हैं- शुक्ल (शुद्ध), कृष्ण (अशुद्ध), तथा शब्ल (शुद्ध एवं अशुद्ध का मिश्रण)। इन तीनों स्वामित्व प्राप्ति के तरीकों के सात-सात भेद किये हैं। शुद्ध तरीके से सम्पत्ति पर स्वामित्व की प्राप्ति सात प्रकार से की जा सकती थी- श्रुत (विद्या), शौर्य (विजय), परिश्रम, दहेज, गुरुदक्षिणा, याज्यावन (यज्ञादि कर्मकाण्ड) तथा पैतृक सम्पत्ति। अशुद्ध तरीके से स्वामित्व की प्राप्ति की सात विधियां थी- पार्श्वक (उत्कोच), द्यूत, प्रतिदूत (सम्पत्ति स्वामी की प्रतिछवि बनकर सम्पत्ति को धोखे से लेना), आर्त (दया की भावना के योग्य बनकर), प्रतिरूपक (नकली पहचान बनाकर), साहस (जबदस्ती) तथा ब्याज में अतिवृद्धि करके। शुद्ध-अशुद्ध तरीके से सम्पत्ति पर स्वामित्व की प्राप्ति के सात प्रकार थे- कुसीद, कृषि, वाणिज्य, शुल्क, शिल्प, अनुवृत्ति (वेश्या), कृतोपकार।[598] अर्थात् नारद ने बृहस्पति के बंधक को छोडकर बाकी छ: अचल सम्पत्तियों को स्वीकार किया है जो कि शुद्ध स्वामित्व प्राप्ति के तरीके भी हैं।

इस प्रकार के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि धर्मशास्त्रकारों ने भुक्ति प्रमाण को अधिक महत्व दिया था। क्योंकि भुक्ति प्रमाण के लिए आवश्यक स्वामित्व की स्थापना के विभिन्न तरिकों का विस्तार से उल्लेख किया गया था। इन स्वामित्व के तरिकों को वैध एवं अवैध के आधार पर भी विभाजित किया गया था। जिसमें धर्मशास्त्रकारों ने वैध तरीकों से स्थापित किये स्वामित्व को उचित मानते हुये स्वीकार किया था।

4.2 भुक्ति के प्रकार[599]-

धर्मशास्त्रकारों ने केवल मात्र भुक्ति को स्वामित्व के उचित नहीं माना बल्कि भुक्ति के साथ आगम को भी स्वीकार किया था। इसी आगम को आधार बनाते हुये भुक्ति के दो भेद किये गये- १. सागम, २. अनागम। सागम भुक्ति- आगम सहित सम्पत्ति का उपभोग अर्थात् स्वत्व का निर्धारण करने वाले हेतुओं (क्रय, दानादि) से युक्त तथा अनागम भुक्ति- बिना आगम के सम्पत्ति का उपभोग।

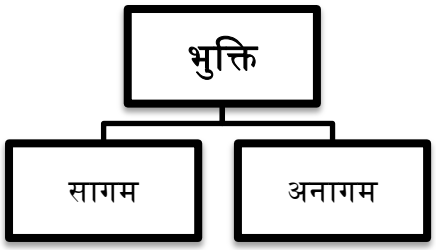

व्यास एवं बृहस्पति ने भुक्ति के पांच हेतु बतलाये है जो भोग के आधार पर स्वत्व को स्थापित करते थे। वे थे- सागम (स्वत्व प्रमाण), दीर्घकाला (दीर्घकालिक उपभोग), अविच्छेद (बिना विच्छेद के

---

[598] नारदस्मृति ४/८०८३

[599] याज्ञवल्क्यस्मृति २/२७ मिताक्षरा
नारदस्मृति ४/८४
मनुस्मृति ८/२००

निरन्तर उपभोग), अपरबोझिता (बिना विरोध के उपभोग) तथा प्रत्यर्थी की जानकारी में उपभोग । इन हेतुओं के अभाव में भुक्ति को प्रमाणिक नहीं माना जा सकता था ।[600]

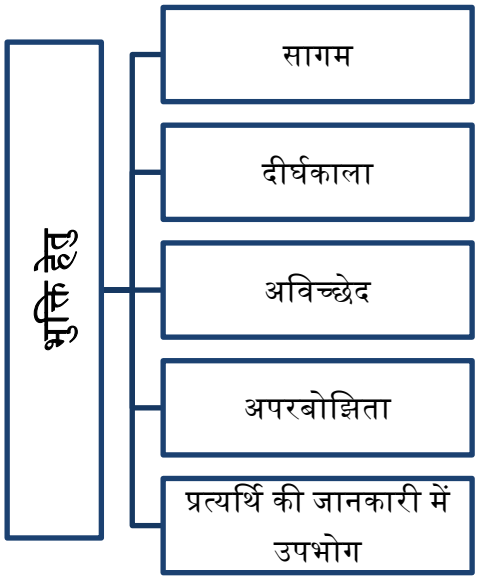

4.2.1 सागम भुक्ति प्रमाण-

सागम भुक्ति से तात्पर्य ऐसी भुक्ति से होता था जिसमें आगम सहित स्वामित्त्व का अधिकार निहित होता था तथा जो वैधानिक दृष्टि से उचित होता था । जैसे- क्रय की गई सम्पत्ति, पैतृक सम्पत्ति, दहेज आदि । आगम वही बलवान् होता था जिसमें कुछ मात्रा में भोग भी सम्मिलित होता था ।[601] कपटता आदि दोषों से रहित स्वत्वबोधक शुद्ध आगम से युक्त भोग प्रमाणित होता था अन्यथा आगम के छल कपटादि दोषों से युक्त होने पर भोग अप्रमाणित हो जाता था ।[602] इसलिए याज्ञवल्क्य ने शुद्ध आगम युक्त भोग के महत्त्व को स्वीकार करते हुए विधान किया है कि लिखित प्रमाण और साक्षी के रहने पर भी अचल सम्पत्ति पर बिना भोग प्रमाण के स्वत्व को स्थापित नहीं किया जा सकता है । इसलिए आगम की वैधता के लिए भुक्ति का होना आवश्यक था ।[603] और जहां लेशमात्र भी भोग नहीं होता था वहां आगम भी प्रभावहीन हो जाता था ।[604] मनुस्मृति के अनुसार जिस किसी वस्तु का उपभोग देखा गया हो परन्तु उस वस्तु की प्राप्ति के प्रमाणिक साधन (वस्तु खरीदकर या दानादि से प्राप्त) को नहीं देखा गया हो तो उस वस्तु की प्राप्ति के साधन को मुख्य मानना चाहिए, न की उपभोग को ।[605]

---

600 सागमा दीर्घकाला चाविच्छिन्नाऽपरविज्ञिता । प्रत्यर्थिसंनिधाना च भुक्तिः पञ्चविधा स्मृता ॥ व्यासस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ. ४१९

601 आगमोऽभ्यधिको भोगाद्विना पूर्वक्रमागतात् । आगमेऽपि बलं नैव भुक्तिः स्तोकापि यत्र नो ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/२७

602 आगमने विशुद्धेन भोगो याति प्रमाणताम् । अविशुद्धागमो भोग प्रामाण्यं चैव गच्छति ॥ नारदस्मृति ४/८५
स्वत्वहेतुः प्रतिग्रहक्रयादिः आगमः । याज्ञवल्क्यस्मृति २/२७, मिताक्षरा

603 विद्यमानेऽपि लिखिते जीवत्स्वपि हि साक्षिषु । विशेषतः स्थावराणां यन्न भुक्तं न तत्स्थिरम् ॥ नारदस्मृति ४/७७

604 आगमेऽपि बलं नैव भुक्ति स्तोकाऽपि यत्र नो । याज्ञवल्क्यस्मृति २/२७

605 मनुस्मृति ८/२००

अत: इससे स्पष्ट होता है कि सम्पत्ति के उपभोक्ता को सम्पत्ति पर स्वयं की वैधानिकता को सिद्ध करना पडता था और यह भी बताना होता था कि सम्पत्ति की प्राप्ति किसी गैर वैधानिक तरीके से नहीं की गई है । इसके साथ ही सम्पत्ति पर स्वामित्व को स्थापित करने के लिए आगम को भी प्रस्तुत करना पडता था । क्योंकि भुक्ति और आगम परस्पर आश्रित है, बिना आगम के भोग और बिना भुक्ति के आगम की प्रमाणिकता पर संदेह उपस्थित हो जाता था ।[606] अत: आगम युक्त भुक्ति को प्रमाणिक माना जाता था । **आगम अभाव में भुक्ति पर दण्ड-** जो व्यक्ति बिना आगम के परसम्पत्ति को भोग करता था उस व्यक्ति को राजा द्वारा चोर के समान दण्डित किया जाता था ।[607] चाहे वह उस सम्पत्ति का दीर्घकाल से उपभोग क्यों न कर रहा हो ।

4.2.2 अनागम भुक्ति प्रमाण-

अनागम भुक्ति प्रमाण से तात्पर्य ऐसी भुक्ति से होता था जिसमें बिना आगम के सिर्फ भोग के आधार पर सम्पत्ति पर स्वामित्त्व का अधिकार स्थापित किया जाता था । ऐसी भुक्ति को वैधानिक दृष्टि से प्रमाणिक नहीं माना जाता था । जैसे- जबरन किसी की सम्पत्ति को कब्जाना ।

- **स्वत्व का हस्तान्तरण-**

हालांकि बिना आगम के भोग को प्रमाणिक नहीं माना जाता था लेकिन कुछ परिस्थितियों में आगम रहित भोग प्रमाणिक होता था जिसे स्वत्व का हस्तान्तरण कहा जाता था । दान एवं क्रय के विषय में, दान कर्ता और विक्रय कर्ता के द्वारा उस सम्पत्ति का दान एवं विक्रय करने पर स्वामित्त्व का अधिकार उस सम्पत्ति को दान में प्राप्त करने वाले एवं क्रय करने वाले व्यक्ति के पास चला जाता था । जिससे उस दान एवं विक्रय सम्पत्ति पर से स्वत्व का हस्तान्तरण दानकर्ता एवं विक्रयकर्ता से दान प्राप्तकर्ता एवं क्रयकर्ता को हो जाता था । पर इसके लिए उस सम्पत्ति को ग्रहण करने वाले को तीन तरह से स्वीकृति देनी पडती थी- शारीरिक (सम्पत्ति को ग्रहण करके), मानसिक (सम्पत्ति को स्वीकार करके) तथा वाचिक (सम्पत्ति को कहकर स्वीकार करने) ।[608] किन्तु उस दान एवं क्रय पर पूर्ण स्वामित्त्व तभी आता था जब उसका उपभोग किया जाता था ।[609] भोक्ता की मृत्यु के बाद उसके वंशस्थ बिना आगम के उस सम्पत्ति का भोग कर सकते थे ।[610]

सम्पत्ति पर किसी अन्य के द्वारा दीर्घकाल तक भोग करने से न केवल स्वामी को स्वत्व की, अपितु सम्पत्ति के फल की भी हानि होती थी । यदि दोनों पक्षों (स्वामी एवं भोक्ता) में आधि (बंधकवस्तु)

---

606 नागमेन विना भुक्ति: नागमो भुक्तिवर्जित: । तयोरन्योन्यसम्बन्धात् प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ॥ पितामहस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका-२, पृ.१६१

607 भोगं केवलतो यस्य कीर्त्तयेन्नागम् क्वचित् । भोगच्छलापदेशेन स विज्ञेयस्तु तस्कर: ।।
अनागमं तु यो भुंक्ते बहून्यब्दशतान्यपि । चौरदण्डेन तं पापं दण्डयेत् पृथिवीपति: ॥ नारदस्मृति ४/८६-८७

608 मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति २/२७

609 पी.वी.काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-२, पृ.७३

610 भुज्यतेऽनागमं यत्तु न तद्भोगपदं नयेत । प्रेते तु भोक्तरि धनं याति तद्वंश्यभोग्यताम् ॥ नारदस्मृति ४/८८

रूप में रखी सम्पत्ति को लेकर विवाद होता था तो उस विवाद में विजयी होने वाले को सम्पत्ति एवं उसका फल दोनों ही प्राप्त होता था ।[611]

स्वत्व हस्तान्तरण का मुख्य आधार भोग होता था और भोग से ही स्वत्व की सिद्ध होती थी । इस भोग से स्वत्व की सिद्धि का निर्धारण करने के लिए काल/समयावधि का भी निर्देश किया गया था । वह समयावधि दो तरह की होती थी- स्मार्तकाल एवं अस्मार्तकाल ।

स्मार्तकाल- मानव स्मरण के अन्तर्गत के काल से होता था । मिताक्षरा में स्मार्तकाल को १०० वर्षों का माना गया है, क्योंकि सौ वर्षों के भोग विषय में साक्षी को बताना आसान होता था ।[612] जिसमें उस भोग विषय में मौखिक प्रमाण भी लिया जा सकता था और भोक्ता को आगम भी प्रस्तुत करना पडता था ।

अस्मार्तकाल- अस्मार्तकाल भोग, स्मार्तकाल के परे का होता था जिसमें व्यक्ति १०० वर्षों से अधिक समयावधि तक भोग के माध्यम से सम्पत्ति पर स्वत्व को उत्पन्न करता था ।[613] स्मार्तकाल के अन्तर्गत (१०० वर्ष) ही लिखित सहित भोग प्रमाणिक था किन्तु स्मार्तकाल के बाद लिखित प्रमाण के अभाव में तीन पीढ़ियों के क्रमागत भोग प्रमाणिक होता था ।[614] यदि भोक्ता आगम के अभाव में तीन पीढ़ियों के क्रमागत भोग के द्वारा स्वामित्व को सिद्ध करता था तो यह स्वामित्व या सम्पत्ति पर अधिकार की प्राप्ति उस आगम युक्त सम्पत्ति से अधिक श्रेष्ठ होती थी जिसमें सम्पत्ति का भोग ही नहीं हुआ होता था । इन तीन पीढ़ियों के क्रमागत भोग को याज्ञवल्क्य ने "पूर्वक्रमागत भोग"[615] (अविच्छिन्नरूप से पूर्व पीढी से भोग), बृहस्पति ने "अव्याहत त्रिपुरुषी भुक्ति"[616] (अविच्छिन्नरूप से तीन पीढ़ियों से भोग) की संज्ञा दी है । यहां तीन पीढ़ियों की भुक्ति से तात्पर्य प्रपितामह, पितामह तथा पिता के भोग के उपरान्त पुत्र को सम्पत्ति की प्राप्ति से होता था ।[617]

पिता के पूर्व तीन पीढ़ीयों से जिस सम्पत्ति का अन्यायपूर्ण भोग हो रहा होता था वह सम्पत्ति भी परवर्ती व्यक्ति से छिनी नहीं जा सकती थी ।[618] अर्थात् यदि किसी सम्पत्ति को पिता द्वारा सम्पूर्ण जीवनकाल में भोगा गया हो तो उस सम्पत्ति को पिता की मृत्युपर्यन्त पुत्र द्वारा भोग किये जाने में कोई दोष नहीं होता था । यदि तीन पीढ़ियों तक किसी सम्पत्ति को अविच्छिन्न एवं निर्बाध रूप से भोग या किसी अन्य के द्वारा किया जा रहा होता था तो वह सम्पत्ति बिना आगम के चौथी पीढी की हो जाती थी ।[619]

---

611 ययोनिर्क्षिप्त आधिस्तौ विवेदतां यदा नरौ । यस्य भुक्तिः फलं तस्य बालात्कारं बिना कृता ॥
सागमेन तु भोगेन भुक्तं सम्यग्यदा तु यत् । आहर्ता लभते तत्र नापहार्यं तु तत्क्वचित् ॥ विष्णुधर्मसूत्र ५/१८४-१८५

612 याज्ञवल्क्यस्मृति २/२७ मिताक्षरा

613 विष्णुधर्मसूत्र ५/१८७

614 स्मार्ते काले क्रियाभुक्तेः सागमाभुक्तिरिष्यते । अस्मार्ते लिखिताभावे क्रमात्त्रिपुरुषागता ॥ नारदस्मृति ४/८९

615 याज्ञवल्क्यस्मृति २/२७ मिताक्षरा

616 अव्याहतं लेखभोगं प्रमाणं तु त्रिपौरुषम् ॥ बृहस्पतिस्मृति ७/३५

617 पितापितामहो यस्य जीवेच्च प्रपितामहः । त्रिंशत्समा तु या भुक्ता भूमिरव्याहता परैः ॥ बृहस्पतिस्मृति ७/३६

618 अन्यायेनापि यद्भुक्तं पितुः पूर्वस्तरैस्त्रिभिः । न तच्छक्यमपाहर्तु क्रमात्त्रिपुरुषागतम् ॥ नारदस्मृति ४/९१

619 पित्रा भुक्तं तु यद्द्रव्यं भुक्त्याचारेण धर्मतः । तस्मिन्प्रेते न वाच्योऽसौ भुक्त्या प्राप्तं हि तस्य तत् ॥

यदि तीन पीढ़ियों से भुक्त सम्पत्ति को लेकर विवाद उठता था और यह (विवाद) न्यायालय में जाता था, तब यदि न्यायिक प्रक्रिया के मध्य में ही भोक्ता की मृत्यु हो जाती थी तो उसके उत्तराधिकारी को आगम प्रस्तुत करना पडता था। इस स्थिति में भोग को प्रमाणित नहीं माना जाता था।[620]

यहां पर पी.वी. काणे को तीन पीढ़ियों के क्रमागत भोग की व्याख्या में संदेह उत्पन्न हुआ और कहा है- यदि प्रपितामह, पितामह एवं पिता दस वर्षों के भीतर ही मृत्यु को प्राप्त हो जाये या प्रपितामह के द्वारा अवैधरूप से कब्जा की गई सम्पत्ति पर पितामह और पिता क्रमश: स्वामित्व को ग्रहण करते हुये दस वर्षों के अन्दर ही दिवङ्गत हो जाये। तब दोनों ही स्थिति में पुत्र तीन पीढ़ियों के क्रमागत भोग को उपस्थित करते हुये उस सम्पत्ति पर, भुक्ति के आधार पर स्वामित्त्व प्राप्त कर सकता है। जो वैधानिक दृष्टि से तो उचित भी है।[621]

अब स्वत: यह प्रश्न उत्पन्न हो जाता है कि इन तीन पीढ़ियों में कितने काल का निर्धारण किया जाये या प्रत्येक पीढी के लिये कितना वर्ष माना जाये। इस पर नारद[622] एवं व्यास[623] ने एक-एक पीढी के लिये २० वर्षों का काल माना है, वहीं बृहस्पति[624] ने एक पीढी की अवधि ३० वर्ष मानते हुये तीन पीढ़ियों के भोग की अवधि ९० वर्ष मानी है। कात्यायन[625] ने तीन पीढ़ियों के भोग की अवधि ६० वर्ष बतलायी है।

इस प्रकार नारद, व्यास एवं कात्यायन ने पर पीढी २० वर्ष की कालावधि मानते हुए ६० वर्षों तक (तीन पीढ़ियों का क्रमागतभोग) के भोग को स्वामित्व प्राप्ति के लिये उपयुक्त माना है।

4.3 स्वामित्व संबंध में भुक्ति प्रमाण

धर्मशास्त्रकारों ने उन परिस्थितियों का भी निर्धारण किया जिसमें भोक्ता सम्पत्ति/धन पर भोग के माध्यम से स्वत्व की प्राप्ति करता था। स्वामित्व संबंध में भुक्ति प्रमाण के निम्न तथ्य इस प्रकार हैं-

१. मूर्खतावश अगर कोई व्यक्ति स्वयं की सम्पत्ति को दूसरे के द्वारा भोग करता हुए देखता था परन्तु उसे भोग करने से रोकता नहीं था, तो वह धन भोग करने वाले भोक्ता का हो जाता था।[626]

त्रिभिरेव तु या भुक्ता पुरुषैर्भूर्यथाविधि। लेख्याभावेऽपि तां तत्र चतुर्थ: समवाप्नुयात्॥ विष्णुधर्मसूत्र ५/१८६-१८७

[620] नारदस्मृति ४/९३

याज्ञवल्क्यस्मृति २/२९

[621] पी.वी.काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-दो, पृ.७३३

[622] नारदस्मृति, अपरार्क, पृ.६३६

[623] वर्षाणि विशंतिर्भुक्ता स्वामिनाऽव्याहृता सती। व्यासस्मृति, व्यवहारप्रकाश. पृ. १५५

[624] त्रिंशद्वर्षाण्यविच्छिन्ना तस्य तां न विचालयेत्॥ बृहस्पतिस्मृति ७/२८

[625] मुख्या पैतामही भुक्तिः पैतृकी चापि संमता। त्रिभिरेतैरविच्छिन्ना स्थिरा षष्ट्याब्दिकी मता॥ कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, पृ. ४१७

[626] भुज्यमानान् परैरर्थान् यः स्वान्मौर्ख्यादुपेक्षते। समक्षं जीवतोऽप्यस्य तान् भुक्तिः कुरुते वशे॥ नारदस्मृति ४/७८

२. धन आदि चल सम्पत्ति पर धन स्वामी (शर्त- जो जड न हो तथा कम आयु का न हो) की बिना आपत्ति के लगातार १० वर्ष तक धन का उपभोग करने पर धन भोक्ता का हो जाता था ।[627] कौटिल्य के अनुसार धनस्वामी की सम्पत्ति पर अनभिज्ञतावश या उदासीनतावश किसी दूसरे के द्वारा उस सम्पत्ति का १० वर्षों तक भोग किये जाने पर, उस भुक्त धन पर स्वामी के अधिकार की पूर्ण हानि हो जाती है ।[628]

अपवाद- लेकिन गाय, बैल आदि पशु, भूमि और स्त्री का १० वर्ष से कम समय तक भी उपभोग करने पर उक्त पर भोक्ता का स्वामित्व हो जाता था ।[629]

३. भूमि आदि अचल सम्पत्ति पर भूमिस्वामी के देखरेख में बिना किसी आपत्ति के लगातार २० वर्ष तक किसी अन्य के द्वारा भूमि के उपभोग से भूमि भोक्ता की हो जाती थी ।[630]

४. अगर भोक्ता की लगातार तीन पीढ़ियों के द्वारा किसी अन्य की सम्पत्ति का उपभोग किया जा रहा होता था तो वह सम्पत्ति भोक्ता की मानी जाती थी, क्योंकि दीर्घकालिक भोग विशुद्ध होता था ।[631]

५. स्त्रीधन और राजधन के अतिरिक्त धन पर यदि प्रत्यक्ष में लगातार २० वर्ष तक उपभोग किया जाता था तो वह धन भोक्ता का हो जाता था, तत्कालिक स्वामी अपने स्वत्व को नष्ट कर देता था ।[632]

अत: ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल विशेष में चल एवं अचल सम्पत्ति के लिये अलग-अलग भोग अवधि का निर्धारण किया गया था । जिसमें धन आदि चल सम्पत्तियों का लगातार १० वर्षों तक वास्तविक स्वामी की देखरेख में किसी अन्य जन के द्वारा भुक्त धन/भूमि पर भोक्ता का अधिकार हो जाता था । इस भुक्ति के आधार पर स्वत्व का हस्तान्तरण स्वत: वास्तविक स्वामी से भोक्ता को हो जाता था । इसलिये कौटिल्य का मत है कि यदि कोई मकानमालिक किसी किरायेदार को लगातार २० वर्षों तक किराये पर रखता है तो २० वर्षों के पश्चात् उस किरायेदार का उस रह रहे मकान पर अधिकार हो जाता है ।[633]

---

627 यत्किंचिद्दश वर्षाणि संनिधौ प्रेक्षते धनी । भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥ नारदस्मृति ४/७९
परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/२४
अजडाऽपौगण्डधनं दशवर्षभुक्तं परै: संनिधौ भोक्तु: । गौतम धर्मसूत्र २/१/२४
यत्किंचिद्दश वर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी । भुज्यमानं परैतूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति । मनुस्मृति ८/१४७

628 कौटिल्य ३/६

629 पशुभूमिस्त्रीणामनतिभोग: । गौतम धर्मसूत्र २/३/३६

630 पश्यतोऽब्रुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकी ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/२४

631 भुक्तिरेव विशुद्धिः स्यात्प्राप्तौ या पितृतः क्रमात् ॥
अन्यायेनापि तद्भुक्तं पितु: पूर्वस्तरैस्त्रिभि: । न तच्छक्यमपाहर्तु क्रमात्त्रिपुरुषागतम् ॥ नारदस्मृति ४/९०, ९१

632 प्रत्यक्षपरिभोगाच्च स्वामिनो द्विदशाः समाः । आध्यादीन्यपि जीर्यन्ते स्त्रीनरेन्द्रधनादृते ॥ नारदस्मृति ४/८२

633 कौटिल्य ३/१६

4.3.1 स्वामित्व संबंध में भुक्ति प्रमाण के अपवाद-

कुछ सम्पत्तियां ऐसी भी थी जिनका दीर्घकाल तक भोग किये जाने पर भी सम्पत्ति पर भोक्ता का अधिकार नहीं हो पाता था। जिन विषयों में भुक्ति को प्रमाणिक नहीं माना जाता था, वे थे-

१. आधि (बन्धक में रखी वस्तु), भूमि की सीमा, उपनिक्षेप (किसी के पास गिनकर रखी वस्तु), मूर्ख की सम्पत्ति, बालक का धन, उपनिधि (धरोहर), राजधन, स्त्रीधन तथा श्रोत्रिय का धन इत्यादि का १० या २० वर्ष तक भोग किये जाने पर भी भुक्त धन पर इन्हीं लोगों का स्वत्व होता था, भोक्ता का नहीं।[634] साथ ही मनु का मत है कि आधि एवं उपनिधि को उसके वास्तविक स्वामी के द्वारा मांगे जाने पर वापस कर देना चाहिये, क्योंकि इसका दीर्घकालिक भोग भी भोक्ता के स्वामित्त्व को स्थापित नहीं कर सकता है।[635]

२. स्त्रीधन एवं राजधन का आगमरहित भोग सौ वर्ष के भोग के उपरान्त भी भोगकर्ता का नहीं हो सकता था। क्योंकि विशुद्ध आगम स्वत्व को प्रकट करता था, और साथ ही भोग को भी प्रमाणित करता था।[636]

३. अन्वाहित (विश्वासपात्र सौपी गई वस्तु), हृत (हरण किया धन), न्यास, बलपूर्वक ली गयी सम्पत्ति, याचित धन तथा सम्पत्ति स्वामी की अनुपस्थिति में भोग- इन छः विषयों में भोग प्रमाण होते हुए भी मान्य नहीं होता था।[637]

४. किसी श्रोत्रिय, सन्यासी एवं राजकर्मचारी द्वारा भोगी गई सम्पत्ति पर सम्पत्ति के वास्तविक स्वामी के स्वामित्व का लोप नहीं होता था।[638] व्यास ने गौतम के समान इस मत को स्वीकार करते हुये इसका कारण भी बतलाया कि- श्रोत्रिय से व्यक्ति धर्म की हानि होने के भय से, मित्र

---

[634] आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधीस्त्रियः। राजस्वं श्रोत्रियस्वं न भोगेन प्रणश्यति॥ नारदस्मृति ४/८१,
आधिसीमोपनिक्षेपजडबालधनैर्विना। तथोपनिधिराजस्त्रीश्रोत्रियाणां धनैरपि॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/२५
आधिः सीमा बालधनो निक्षेपोपनिधीस्त्रिया:। राजस्वं श्रोत्रियद्रव्यं न संभोगेन हीयते॥ वशिष्ठ धर्मसूत्र १६/१८
न स्त्रीणामुपभोगस्स्याद्विना लेख्यं कथंचन। राजश्रोत्रियवित्ते च जडबालधने न च॥ बृहस्पतिस्मृति, स्मृतिचन्दिका २, पृ. १५२
आधिश्चोपनिधिश्चोभौ कालत्ययमर्हत:। अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ॥ मनुस्मृति ७/१४५, १४९

[635] मनुस्मृति ७/१४९

[636] स्त्रीधनं च नरेन्द्राणां न कदाचन जीर्यते। अनागमं भुज्यमानं वत्सराणां शतैरपि॥
संभोगो यत्र दृश्येत त दृश्येतागमः क्वचित्। आगमः कारणं तत्र न भोगस्तत्र कारणम्॥ नारदस्मृति ४/ ८३-८४
न भोगं कल्पयेत्स्त्रीषु देवराजधनेषु च। बालश्रोत्रियवित्ते च प्राप्तेऽपि पितृत: क्रमात्॥ कात्यायनस्मृति, स्मृतिचन्दिका २, पृ. १५८
न स्त्रीणामुपभोगस्याद्विना लेख्यं कथञ्चन। राजश्रोत्रियवित्ते च जडबालधने न च॥ बृहस्पतिस्मृति, स्मृतिचन्दिका २, पृ. १५९

[637] अन्वाहितं हृतं न्यस्तं बलावष्टब्धं याचितम्। अप्रत्यक्षं च यद्भुक्तं षडेतान्यागमं विना॥ नारदस्मृति ४/९२

[638] न श्रोत्रियप्रव्रजितराजन्यपूरुषैः। गौतमधर्मसूत्र २/३/३५

से मित्रता के नष्ट हो जाने के भय से, राजपुरुष से राजदण्ड मिलने के भय से तथा बान्धवों से स्नेह लगावादि को खो देने के भय से स्वामी वस्तुओं को भोग करने से रोक नहीं सकता है ।[639] इसलिये इन (श्रोत्रिय, सन्यासी एवं राजकर्मचारी) के द्वारा दीर्घकाल तक किसी की सम्पत्ति का भोग किये जाने पर स्वामी के स्वामित्त्व का ह्रास नहीं होता था । इसी प्रकार का मत बृहस्पति एवं कात्यायन का भी है कि बान्धवों के द्वारा दीर्घकाल तक भुक्त सम्पत्ति पर भोग के आधार पर स्वामित्त्व स्थापित नहीं किया जा सकता ।[640]

५. बृहस्पतिस्मृति के अनुसार अचल सम्पत्ति पर तीन वर्ष तथा पशु एवं धन-धान्यादि पर एक वर्ष का भोग स्वामी के स्वत्व को नष्ट नहीं कर सकता है ।[641] मनु का भी मत है कि स्नेहपूर्वक किसी को भोग करने के लिये दी गई वस्तु/धन जैसे- दूध देने वाली गौ, भारवाहक ऊट, घोडा आदि का भोक्ता के द्वारा दीर्घकाल तक भोग किये जाने पर या स्वामी का दीर्घकाल तक भोग से वंचित होने पर भी इन वस्तुओं पर से स्वामी का स्वामित्व नष्ट नहीं होता है ।[642]

६. विवाद के निर्णय से पूर्व यदि अभियुक्त (अर्थात् जिस पर अभियोग लाया गया हो) के द्वारा अभियोग की निष्पत्ति हेतु प्रमाण को प्रस्तुत करने से पूर्व ही मृत्यु हो जाती थी, तब उस स्थिति में अभियुक्त के उत्तराधिकारी को प्रमाण उपस्थित करना पड़ता था । उत्तराधिकारी केवल आगम प्रमाण को ही प्रस्तुत कर सकता था । तद्विवाद में भुक्ति प्रमाण मान्य नहीं होता था क्योंकि उक्त विवाद में अभियोग की निवृत्ति हेतु दीर्घकालिक भोग संभव नहीं होता था ।[643]

निष्कर्षत: इस प्रकार भुक्ति प्रमाण के अन्तर्गत अगर किसी की सम्पत्ति/धन का वास्तविक स्वामी के सम्मुख बिना किसी अवरोध के अविच्छिन्न रूप से २०/१० वर्षों तक भोग किया जाता था तो उस सम्पत्ति से स्वामी के स्वत्व की हानि हो जाती थी और उस भुक्त सम्पत्ति पर भोक्ता का स्वत्व स्थापित हो जाता था । लेकिन इसके साथ ही कुछ उपबन्धों का भी निर्धारण किया गया था जिसमें भोक्ता कुछ लोगों की सम्पत्ति/धन को चाहे वह कितने समय तक बिना किसी अवरोध के भोग करें, पर उस सम्पत्ति पर भोक्ता का स्वत्व स्थापित नहीं हो सकता था अर्थात् स्वामी के स्वत्व की हानि नहीं होती थी । जैसे- स्त्रीधन, राजधन, बालकधन । भुक्ति यदि आगम से युक्त होती थी तो उसे वैधानिक दृष्टि से उचित माना जाता था । क्योंकि आगम एवं भुक्ति परस्पर आश्रित थे । बिना

---

639 धर्मक्षय: श्रोत्रिये स्याद्भ्रयं स्याद्राजपूरुषे । स्नेह: सुहृद्बान्धवेषु भुक्तमेतैर्न हीयते ॥ व्यासस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ. ४२१

640 सनाभिभिर्बान्धवैश्च यद्भुक्तं स्वजनैस्तथा । भोगात्तत्र न सिद्धिः स्याद्भोगमन्यत्र कल्पयेत् ॥ कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.१६६

बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.१६६

641 त्रिवर्षं भुज्यते येन समग्रा भूरवारिता । तस्य सा नापहर्तव्या क्षमालिङ्गं न चेद्रदेत ॥

चतुष्पाद्धनधान्यादि वर्षाद्धानिमवाप्नुयात् ॥ बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ. ४२१

642 मनुस्मृति४/१४६

643 तथारूढविवादस्य प्रेतस्य व्यवहारिणः । पुत्रेण सोऽर्थः संशोध्यो न तं भोगपदं नयेत् ॥ नारदस्मृति ४/९३

योऽभियुक्तः परेतः स्यात्तस्य रिक्थी तमुद्धरेत् । न तत्र कारणं भुक्तिरागमेन विना कृता ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/२९

आगम के भुक्ति का और बिना भुक्ति के आगम का वैधानिकरूप से कोई महत्व नहीं था। इसलिये वैधानिक दृष्टिकोण से उसी भुक्ति को उचित माना गया था, जिसमें आगम का समावेश होता था। आगम युक्त भुक्ति का यह नियम स्मार्तकाल की भुक्ति पर ही लागू होता था किन्तु जहां अस्मार्तकाल की भुक्ति होती थी वहां पर आगम से रहित भुक्ति को प्रमाणिक माना गया था। अस्मार्तकाल में तीन पीढ़ियों के क्रमागत भोग के माध्यम से उस भुक्त सम्पत्ति पर अधिकार स्थापित किया जाता था।

अत: अन्त में यह कहा जा सकता है कि सम्पत्ति में स्वामित्त्व के भाव के अन्तर्गत भुक्ति भी अन्तनिर्हित होती थी। इसलिए केवल मात्र भुक्ति को स्वामित्व का आधारभूत कारण नहीं माना जा सकता था। क्योंकि भोक्ता भले ही व्यवहारिक दृष्टि से सम्पत्ति का स्वामी हो, परन्तु वह कानूनी दृष्टि से केवल भोग को स्वत्व का आधार नहीं माना जा सकता था। इसके लिए विशुद्ध आगम का भी होना आवश्यक था। बिना आगम के केवल भोग द्वारा स्वामित्त्व दो ही आधार पर हो सकता था- प्रथम, यदि भोग दीर्घकालिक हो जिसमें क्रय-दानादि हेतुओं को सिद्ध करना सम्भव ही न हो, तब केवल भुक्ति के आधार पर ही स्वत्व को स्वीकार किया जा सकता था। द्वितीय, यदि भोक्ता सम्पत्तिस्वामी की दृष्टि एवं चेतना में बिना हस्तक्षेप के दीर्घकाल तक भोग करता था, तब यह प्रवृत्ति उत्पन्न होती थी कि स्वामी ने सम्पत्ति पर से अपने स्वत्व को त्याग दिया है। जिससे वह सम्पत्ति भोक्ता की मानी जाने लगती थी।

साक्षी प्रमाण

अध्याय - 5

साक्षी प्रमाण

क्रियापाद के अन्तर्गत लिखित एवं भुक्ति प्रमाण के बाद तीसरा प्रमाण साक्षी को माना गया था जिसे दोनों (लिखित एवं भुक्ति प्रमाण) के अभाव में प्रस्तुत किया जाता था । साक्षी की न्यायव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका होती थी । वर्तमान न्यायप्रणाली और धर्मशास्त्रीय न्यायप्रणाली दोनों में ही साक्षी एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है । परन्तु दोनों न्यायप्रणाली में साक्षी की भारिता (अर्थात् साक्षी की प्रस्तुती का भार) को लेकर अंतर विद्यमान है । वर्तमान न्यायप्रणाली में विवाद के दोनों पक्ष (वादी एवं प्रतिवादी) स्वयं की पक्ष प्रमाणिकता के लिए साक्षी प्रस्तुत कर सकते है, जबकि धर्मशास्त्रीय न्यायप्रणाली में यह व्यवस्था नहीं थी । क्योंकि धर्मशास्त्र में साक्षी प्रस्तुती का भार केवल एक पक्ष पर होता था और उसी पक्ष को ही स्वयं के सत्यापन के लिए साक्षी को प्रस्तुत करना पडता था । अगर धर्मशास्त्रीय न्यायप्रणाली में प्रमाण भारिता एक पक्ष पर होती थी तो वह पक्ष कौन होता था? उदाहरणार्थ- ऋणादान प्रकरण में ऋणदाता को वादी एवं ऋणी को प्रतिवादी मान सकते हैं । अगर यहां ऋण मांगने का व्यवहार उपस्थित किया जाये तो दो स्थिति उत्पन्न हो सकती है- एक- यदि ऋणी यह कहें कि- मैने ऋण लिया था पर वह उसे लौटा चुका है । तब प्रमाण का भार ऋणी पर होगा । दूसरा- यदि ऋणी यह कहें कि- मैने ऋण लिया ही नहीं । तब प्रमाण का भार ऋणदाता पर होगा । दोनों स्थिति में जिस पर प्रमाण का भार होता था वह यदि सत्य को सिद्ध कर देता था तो वह विजयी होता था, अन्यथा पराजित होता था ।

अत: साक्षी न्यायव्यवस्था की महत्वपूर्ण कडी होता था । साक्षी क्या है?, कौन हो सकता है?, क्या गुणधर्म होने चाहिये?, कितने साक्षी होने चाहिये?, साक्षियों की भाव परीक्षा?, कूट साक्षी?, आदि जिज्ञासापूर्ण प्रश्नों के समाधानार्थ इनका विस्तारपूर्वक विवेचन आवश्यक है ।

5.1 साक्षी प्रमाण-

साक्षी शब्द "स" एवं "अक्षी" के संयोग से बना है जिसमें "स" का अर्थ- वह एवं "अक्षी" का अर्थ आंखों से देखा गया । अत: शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से शाब्दिक अर्थ- किसी विवाद या मतभेद को साक्षात् देखने वाला या सुनने वाला हुआ ।[644] श्वेतास्वरोपनिषद् में "साक्षिन्" शब्द का प्रयोग उस सर्वव्यापी आत्मा के लिये किया गया है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को सर्वत्र देख रहा है ।[645] यहां साक्षी शब्द से साथ ईश्वर की आत्मा को जोडा गया है । जिस प्रकार ईश्वर स्वार्थ से रहित होता है और वह प्रत्येक मनुष्य को उसके कर्मों के अनुसार फल देता है, उसी प्रकार साक्षी का भी विवाद के

---

[644] सह आक्षि अस्य, सह आक्षि+इनि, सहस्य सादेश: । संस्कृतशब्दार्थ कौस्तुभ,पृ.१२४५
साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम् । पाणिनि ५/२/९१

[645] एको देवा: सर्वभूतेषु गूढ:..साक्षी चेता केवलानिर्गुणश्च । श्वेतास्वरोपनिषद् ६/२

सम्बन्ध में कोई स्वार्थ नहीं होता है उसने जो देखा या सुना उसके आधार पर ही सत्य को बतलाना होता है।

साक्षी न्यायप्रक्रिया में विवाद को समाधान कराने में एक कड़ी के समान कार्य करता था। क्योंकि साक्षी द्वारा वादी-प्रतिवादी के मध्य में कार्य विशेष को लेकर उत्पन्न हुए संदेह से संबंधित वे प्रकृत तथ्य प्रकाश में लाये जाते थे, जो साक्षी द्वारा उस कार्य में देखे, सुने या अनुभव किये गये हो।[646] शुक्रनीति के अनुसार साक्षी वह व्यक्ति होता है जो किसी उपस्थित विवाद में वादी या प्रतिवादी के सम्पर्क में आने से पूर्व, उस विवाद को जैसा देखता या सुनता है उसको उसी रूप में कहता है।[647]

यह नियम **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की **धारा 60** के अनुरूप है। धारा 60 के अंतर्गत - यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मौखिक प्रमाण प्रत्यक्ष होना चाहिए अर्थात सुनी-सुनाई बात या अनुश्रुत प्रमाण ग्राह्य नहीं होगा बल्कि जिसने खुद घटना को देखा हो या सुना हो या अन्य इन्द्रियों द्वारा जाना हो तो वह मौखिक प्रमाण दे सकता है।[648] यह मौखिक प्रमाण साक्षी के द्वारा ही दिया जाता है।

5.2 साक्षी की संख्या-

धर्मशास्त्रकारों में प्रमाण देने के लिए न्यायोचित साक्षियों की संख्या को लेकर मतैक्य का अभाव है। परन्तु यदि सामान्यत: देखा जाये तो अधिकांश धर्मशास्त्रकार किसी विवाद में न्यूनतम तीन साक्षियों की उपस्थिति को अनिवार्य मानते हैं।[649] पर बृहस्पति ने साक्षियों की अधिकतम संख्या ९ और न्यूनतम संख्या ३ मानते हुए साक्षियों की संख्या ९,७,५,४,३ मानी है। इसका अर्थ यह है कि किसी विवाद में ९ साक्षियों के न होने पर ७, ७ के न होने पर ५, ५ के न होने पर ४, ४ के न होने पर ३ साक्षी को अवश्य स्वीकार किया जायेगा। और यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाये की विवाद में ३ साक्षी भी न हो तब साक्ष्यार्थ २ श्रोत्रियों को साक्षी स्वीकार करना चाहिये।[650]

---

[646] संदिग्धेषु तु कार्येषु द्वयोर्विवदमानयोः। दृष्टश्रुतानुभूतत्वात्साक्षिभ्यो व्यक्तिदर्शनम्॥ नारदस्मृति ४/१४७
कौटिल्य ३/११
गौतम धर्मसूत्र २/४/१
विष्णुधर्मसूत्र ८/१३
समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति। तत्र सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते॥ मनुस्मृति ८/७४

[647] शुक्रनीति ४/५/१८३

[648] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 60

[649] बहव: स्युरनिन्दिता: स्वकर्मसु प्रात्ययिका राज्ञां निष्प्रीत्यनभितापाश्चान्यतरस्मिन्। गौतम धर्मसूत्र २/४/२
एकश्चासाक्षी। विष्णुधर्मसूत्र ८/५
नारदस्मृति ४/१५३
त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसंनिधौ॥ मनुस्मृति ८/६०,
त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्तक्रियापराः॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/७२

[650] नव सप्त च पञ्च स्युश्चत्वारस्त्रय एव वा। उभौ वा श्रोत्रियौ ख्यातौ नैकं पृच्छेत्कदा चन॥ बृहस्पतिस्मृति ५/१

नारद के मत में प्रत्येक व्यवहार/अभियोग में साधारणतः तीन साक्षी होते हैं। लेकिन एक व्यक्ति भी साक्षी हो सकता है यदि वह वादी-प्रतिवादी दोनों द्वारा स्वीकार्य हो[651] या लोभरहित हो।[652]

धर्मशास्त्रकारों ने साक्ष्यार्थ साक्षियों की न्यूनतम संख्या का निर्धारण करते हुये उन परिस्थितियों पर भी ध्यान दिया जिनमें या तो विवादानुसार या विवाद की परिस्थितियों के अनुसार साक्षियों की संख्या में बदलाव किया जाता था। जैसे-

- दोनों पक्षों के द्वारा स्वीकार्य होने पर एक साक्षी को भी प्रमाण देने के लिए स्वीकार किया जा सकता था। परन्तु वह एक साक्षी धर्मनिष्ठ, अनुभवशील एवं सत्यनिष्ठ आदि गुणों से युक्त होना आवश्यक होता था।[653] कौटिल्य ने इस स्थिति में (दोनों पक्षों के द्वारा स्वीकार्य) एक साक्षी की बजाय दो साक्षियों को लेने का निर्देश किया है।[654]

- अर्थमूलक विवादों अर्थात् ऋणादान, उपनिधि जैसे धनविषयक विवादों में दो साक्षियों को ही पर्याप्त माना गया था।[655] बृहस्पति ने केवल दो परिस्थितियों में जैसे- गूढ साक्ष्यों एवं लिखित साक्ष्यों में दो साक्षियों को पर्याप्त माना है।[656]

- साहस जैसे विवादों में यदि एक साक्षी होता था तो वह साक्षी पवित्र, धार्मिक, सत्यवादी, क्रियावान्, चरित्र की पवित्रता को पूर्व में ही सिद्ध करने वाले आदि गुणों से युक्त होना चाहिये था।[657] गौतम के अनुसार इन हिंसामूलक विवादों में साक्षी की योग्यता का नियम ही लागू नहीं होता है।[658]

अतः यहां पर ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मशास्त्रकारों ने साक्षियों की संख्या को लेकर अत्यन्त व्यवहारिक दृष्टिकोण को अपनाया और साथ ही परिस्थितियों के अनुसार साक्षियों की संख्या में बदलाव भी किया। जैसाकि- हत्या जैसे साहस अपराधों में या एकान्त में घटित अपराधों में एक साक्षी का मिलना भी बहुत कठिन होता है अतः ऐसे विवादों में ३ साक्षियों के बजाय एक साक्षी को

---

651 उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित्॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/७२

उभयानुमतो यः स्याद्व्योर्विवदमानयोः। असाक्ष्येकोऽपि साक्षित्वे प्रष्टव्यः स्यात्स संसदि॥ नारदस्मृति ४/१९२

कुलजा वृत्तवित्तसम्पन्ना यज्वानस्तपस्विनः पुत्रिणो धर्मज्ञा अधीयानाः सत्यवन्तस्त्रैविद्यवृद्धाश्च। अभिहितगुणसम्पन्न उभयानुमत एकोऽपि। विष्णुधर्मसूत्र ८/८-९

652 एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद्ब्रह्व्यः। मनुस्मृति ८/७७

653 उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित्। सर्वः साक्षी संग्रहणे चौर्यपारुष्यसाहसे॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/७२

नारदस्मृति ४/१९२

विष्णुधर्मसूत्र ८/९

शुक्रनीति ४/५/१८६

654 कौटिल्य ३/११

655 हारीत, स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ,१३४

656 लिखितौ द्वौ तथा गूढौ॥ बृहस्पतिस्मृति ५/१९

657 शुचिक्रियश्च धर्मज्ञः साक्षी यस्त्वनुभूतवाक्। प्रमाणमेकोऽपि भवेत्साहसेषु विशेषतः॥ व्यास, व्यवहारप्रकाश, पृ. ११२

658 न पीडाकृते निबन्ध। गौतम धर्मसूत्र २/४/९

ही आवश्यक माना। अन्य सामान्य (अर्थमूलक) विवादों में साक्षियों की न्यूनतम संख्या ३ निश्चित की गयी। जैसे- ऋणादान (अर्थमूलक विवादों) में ऋण व्यवहार को लिखित रूप देते समय न्यूनतम ३ साक्षियों का हस्ताक्षर होना आवश्यक था। इसके पीछे धर्मशास्त्रकारों का मन्तव्य शायद ये हो सकता है कि साक्षियों की सीमित संख्या से उस दस्तावेज की प्रमाणिकता की जांच आसानी से की जा सकती है और विवाद में उपस्थित संदेहों का निराकरण भी शीघ्रता से हो सकता है। साक्षियों की संख्याओं के साथ-साथ साक्षियों के भेदों, गुणों एवं योग्यताओं पर भी जोर दिया गया था। इसी प्रकार का विधान भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 134 में मिलता है कि साक्षियों की संख्या महत्वपूर्ण नहीं है, उनका साक्ष्य/प्रमाण महत्वपूर्ण है।[659]

5.3 साक्षी के भेद-

नारद ने ग्यारह प्रकार के साक्षी माने हैं, जिसमें पांच साक्षी कृत प्रकार के और छ: साक्षी अकृत के हैं।[660] बृहस्पति ने नारद के समान ११ साक्षियों को स्वीकार करते हुए एक अतिरिक्त साक्षी "लेखित" को भी स्वीकार किया है। अत: बृहस्पति ने १२ प्रकार के साक्षी माने है, परन्तु इन बारह साक्षियों का विभाजन नारद के समान कृत एवं अकृत श्रेणियों में नहीं किया।[661]

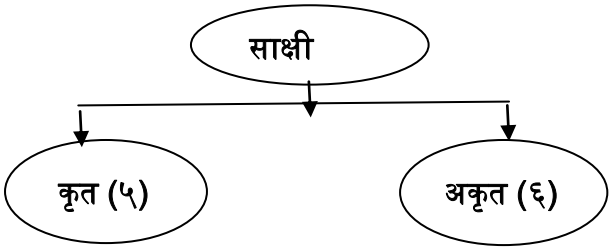

5.3.1 कृत साक्षी- जिस प्रमाणित साक्षी को वादी और प्रतिवादी द्वारा निरूपित किया जाता था वह कृत साक्षी होता था। कृत साक्षी के पांच भेद[662]-

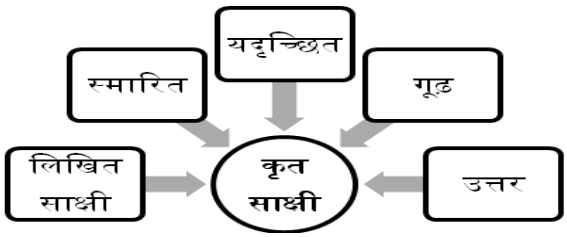

---

659 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 134

660 एकादशविधः साक्षी स तु दृष्टो मनीषिभिः। कृतः पञ्चविधस्तेषां षड्विधोऽकृत उच्यते॥ नारदस्मृति ४/१४९

661 लिखितो लिखितो गूढः स्मारितः कुल्यदूतकौ। यदृच्छश्चोत्तरश्चैव कार्यमध्यगतोऽपरः॥
नृपोऽध्यक्षस्तथा ग्रामः साक्षी द्वादशधा स्मृतः। प्रभेदमेषां वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥ बृहस्पतिस्मृति ५/४-५

662 लिखितः स्मारितश्चैव यदृच्छाभिज्ञ एव च। गूढश्चोत्तरसाक्षी च साक्षी पञ्चविधः स्मृतः॥ नारदस्मृति ४/१५०
याज्ञवल्क्यस्मृति, साक्षीप्रकरण, मिताक्षरा पेज नं. १५५

१. लिखित/लेखित साक्षी -

जिसे स्वयं अर्थी द्वारा लेख्य में संनिविष्ट किया जाता था अर्थात् ऋणादान जैसे अर्थमूलक विवादों में ऋण के लेन-देन हेतु जो लिखित व्यवहार किया जाता था उसमें ऋणदाता एवं ऋणग्रहीता का नाम, उनके पिता का नाम, जन्मस्थान, लिंग, जाति आदि को लिखा जाता था। यह ऋण संबंधी लिखित व्यवहार कुछ साक्षी के सम्मुख किया जाता था जो इस व्यवहार को प्रमाणिक बनाते थे। ऐसे साक्षियों को लिखित साक्षी कहा जाता था।[663]

बृहस्पति ने लिखित साक्षी के अतिरिक्त लेखित साक्षी का भी वर्णन किया है। इन दोनों साक्षियों में अंतर था- लिखित साक्षी स्वयं से सम्बन्धित जानकारी को लिखित व्यवहार के समय लिखता था, जबकि लेखित साक्षी उस लिखित व्यवहार को प्रमाणिकता प्रदान करने के लिये प्रत्यक्षत: उपस्थित होता था। लेखित साक्षी स्वयं से सम्बन्धित जानकारी को लिखित व्यवहार में नहीं लिखता था बल्कि कोई अन्य साक्षी लेखित के बारे में लिखता था।[664]

लिखित साक्षी या तो स्वयं से सम्बन्धित जानकारी नाम-पतादि स्वयं ही लिख सकता था या निरक्षर होने पर वह किसी अन्य से भी लिखवा सकता था। यदि वह निरक्षर होता था तो वह किसी लेखक के द्वारा लेखपत्र पर लिखित स्वयं के बारे में जानकारी को किसी अन्य साक्षर व्यक्ति से जांच करवा सकता था और उस साक्षर व्यक्ति को स्वयं की ओर से हस्ताक्षर करने के लिये कह सकता था, अन्यथा स्वयं अंगूठे का निशान प्रमाणिकता के लिये लगा सकता था।[665] दीर्घकालिक विवाद में लिखित साक्षी प्रमाणिक होता था।[666] भारतीय साक्ष्य अधिनियम में लिखित साक्षी को अनुप्रमाणक साक्षी माना गया है जिसका लेखन लेखक के द्वारा किया जाता है।[667] धारा ७१- जब अनुप्रमाणक साक्षी निष्पादन से इन्कार करे अथवा उसे निष्पादन का स्मरण न हो तो उस दस्तावेज का निष्पादन अन्य प्रमाण द्वारा साबित किया जा सकता है। चन्दन बनाम लोंगा बाई के मामले में एक साक्षी ने सत्यापन से इन्कार किया लेकिन लेखक ने यह प्रमाण दिया कि वसीयत उसके द्वारा लिखी गयी थी तथा दो गवाहों द्वारा प्रमाणित थी। लेखक का कथन ग्राह्य माना गया।

२. स्मारित -

अर्थी के लेख्य में असंनिविष्ट होने पर भी व्यवहार में जिसे बार बार स्मरण किया जाये स्मारित साक्षी कहलाता था। बृहस्पति के मतानुसार वह साक्षी जो ऋणादान, न्यास आदि आर्थिक क्रियाओं के व्यवहार में निर्दिष्ट लेख्य पत्र पर लिखित न हो, परन्तु इनको आर्थिक क्रियाओं के व्यवहार के समय बार-बार स्मरण किया जाता हो या किसी पक्ष के द्वारा स्मरण के उपरान्त आहूत

---

663 जातिनामादिलिखितं येन स्वं पित्र्यमेव च। निवासश्च विज्ञेयः साक्षी लिखितसंज्ञकः॥ बृहस्पतिस्मृति ५/६

664 अर्थिना च क्रिया भेदैस्तस्य कृत्वा ऋणादिकम्। प्रत्यक्षं लिख्यते यस्तु लेखितः स उदाहृतः॥ बृहस्पतिस्मृति ५/७

665 आत्मनैव लिखेज्जानन्नज्ञस्त्वन्येन लेखयेत्। हारीत, धर्मकोश, पृ. ३४३

666 सुदीर्घेणापि कालेन लिखितं सिद्धिमाप्नुयात्। जानता चात्मना लेख्यमजानानस्तु लेखयेत्॥ नारदस्मृति ४/१६७

667 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा ७१

किया जाता हो ऐसे साक्षी को स्मारित साक्षी कहते हैं ।[668] इस साक्षी का प्रामाण्य आठ वर्ष तक रहता था ।[669]

सामान्यत: ऐसा होता था कि जब ऋणादान आदि आर्थिक क्रियाओं को लिखित रूप दिया जा रहा होता था तब दोनों पक्षों (ऋणदाता एवं ऋणग्रहिता), लेखक, साक्षी के अतिरिक्त भी कुछ अन्य लोग ऐसे होते थे जो इस व्यवहार को देखते थे । परन्तु इनका उल्लेख उस लेखपत्र में नहीं किया जाता था । इन साक्षी की उपयोगिता तब बढ जाती थी जब लेख्यपत्र में हस्ताक्षरित साक्षी या अन्य पक्षों की मृत्यु हो जाती थी और उस लेख्य पत्र पर संदेह उपस्थित हो जाता था, तब संबंधित पक्ष के द्वारा उस लेख को लिखितरूप देते समय उपस्थित जनों का स्मरण किया जाता था । ऐसे उपस्थित व्यक्ति को जब साक्षी के रूप में स्वीकार किया जाता था तो उन्हें स्मारित साक्षी कहा जाता था ।

३. यदृच्छित -

जो स्वयं की स्वतन्त्र इच्छा से व्यवहार प्रक्रिया में उपस्थित होता था उसे यदृच्छित साक्षी माना जाता था । ऐसा साक्षी घटनास्थल पर अकस्मात् उपस्थित हो जाता था और उस घटना का प्रत्यक्ष द्रष्टा होता था जिसके कारण उसे संबंधित व्यवहार प्रक्रिया में प्रमाण देने के लिए उपस्थित किया जा सकता था या वह स्वयं स्वैच्छा से प्रमाण देने के लिए प्रस्तुत हो सकता था ।[670] इसका प्रमाण पांच वर्ष तक प्रमाणिक रहता था ।[671]

वाक्पारूष्य (गाली-गलौच), दण्डपारूष्य (हत्या,मारपीट) एवं स्त्रीसंग्रहण आदि अपराधों के घटनास्थल पर कई व्यक्ति बिना किसी कारण के अकस्मात् पहुंच जाते हैं और उस घटना को प्रत्यक्षत: देखते हैं । ऐसे में अकस्मात् उपस्थित जन उस घटना के प्रत्यक्षद्रष्टा हुये । जब यह घटना न्यायालय में पहुंचती थी तब यदि ये प्रत्यक्षदर्शी बिना दोनों पक्षों के बुलाये, स्वयं ही न्यायालय में प्रमाण देने के लिये उपस्थित होते थे या न्यायालय के द्वारा आहूत किये जाते थे तो उन्हें यदृच्छाभिज्ञ साक्षी कहा जाता था ।

४. गूढ -

जो साक्षी अर्थी द्वारा अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए बिना प्रत्यर्थी की जानकारी के केवल प्रत्यर्थी के वचन को सुन कर प्रमाण देने के लिये बुलाया जाता था उसे गूढ साक्षी कहा जाता था । बृहस्पति के अनुसार किसी व्यवहार, जैसे- लेन-देन आदि को गुप्त स्थान पर बैठकर देखने वाला तथा उस व्यवहार से संबंधित कथनों को सुनने वाला व्यक्ति जब उस व्यवहारप्रक्रिया में प्रमाण देने के लिये उपस्थित होता है तो उसे गूढ साक्षी कहते हैं ।[672] इसका प्रामाण्य ३ वर्ष तक रहता था ।[673]

---

[668] आहूय यः कृतः साक्षी ऋणन्यासक्रियादिके । स्मार्यते च मुहुर्यश्च स्मारितः स उदाहृतः ॥ बृहस्पतिस्मृति ५/९

[669] आष्टमाद्वत्सारात्सिद्धिः स्मारितस्येह साक्षिणः । नारदस्मृति ४/१६८

[670] क्रियमाणे तु कर्तव्ये यः कश्चित्स्वयमागतः । अत्र साक्षी त्वमस्माकमुक्तो यादृच्छिकस्तु सः ॥ बृहस्पतिस्मृति ५/१२

[671] आ पञ्चमात्तथा सिद्धिर्यदृच्छोपगतस्य तु ॥ नारदस्मृति ४/१६८

[672] कुड्यव्यवहितो यस्तु श्राव्यते ऋणभाषितम् । विनिह्नुतो यथाभूतं गूढः साक्षी स उच्यते ॥ बृहस्पतिस्मृति ५/८

सामान्यत: ऐसा होता है कि जब कोई व्यवहार गुप्त स्थान पर किया जा रहा होता है तब दोनों पक्षों की अनभिज्ञता के कोई अन्य व्यक्ति उस व्यवहार को देख लेता है । किन्तु जब यह व्यवहार में न्यायालय में लाया जाता था तब इस साक्षी को प्रमाण देने के लिये प्रस्तुत किया जा सकता था ।

५. उत्तर -

अन्य साक्षियों के प्रमाण को सुनकर उत्कृष्ट प्रमाण प्रदान करने वाला उत्तरसाक्षी होता था । इसकी प्रमाणिकता तब होती थी जब कोई पक्ष कहीं चला जाता या किसी दूसरे देश चला जाता, तब मरने से या विदेश जाने से पूर्व उस पक्ष विशेष के वचनों को सुनने वाला व्यक्ति साक्षी रूप में प्रमाणित होता था ।[674]

5.3.2 अकृत साक्षी-

वादी और प्रतिवादी के द्वारा अनिरूपित (अनियुक्त) साक्षी को अकृत साक्षी कहते हैं । अकृत साक्षी के छः भेद हैं- ग्रामजन, प्राड्विवाक, राजा, व्यवहारियों द्वारा भेजा गया, अर्थी के द्वारा भेजा गया, कुल संबंधी विवादों में कुलजन आदि ।[675]

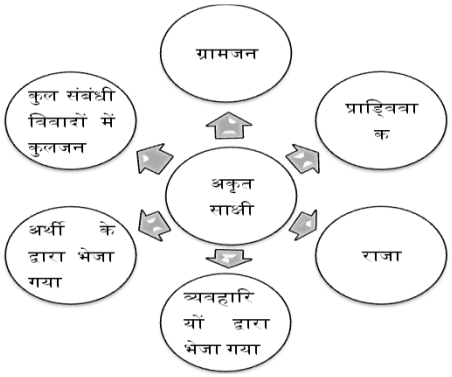

१. ग्रामजन -

ग्रामवासियों को साक्षी के रूप में स्वीकार करना । जब कोई घटना किसी ग्राम या ग्राम की सीमा पर घटित होती थी तो उस विवाद में सम्पूर्ण ग्रामवासियों को साक्षी माना जाता था । और इस तरह के विवाद में ग्रामवासी को अकृतसाक्षी के रूप में बुलाया जाता था ।[676]

२. प्राड्विवाक -

किसी विवाद में निर्णय के उपरान्त जब प्राड्विवाक द्वारा निर्णय पर पुर्नविचार किया जाता था तब प्राड्विवाक की स्थिति साक्षी के समान होती थी ।[677]

---

673 साक्ष्युद्दिष्टो यदि प्रेयाद्गच्छेद्वापि दिगन्तरम् । नारदस्मृति ४/१६६

674 तच्छ्रोतारः प्रमाणं स्युः प्रमाणं ह्युत्तरक्रिया ॥ नारदस्मृति ४/१६६-१६८
यत्र साक्षी दिशं गच्छेन्मुमूर्षुर्वा यथाक्रमम् । अन्यं संश्रावयेत्तं तु विद्यादुत्तरसाक्षिणम् ॥ बृहस्पतिस्मृति ५/१३

675 अकृतः षड्विधश्चापि साक्षिणस्त्वकृताः स्वयम् । ग्रामश्च प्राड्विवाकश्च राजा च व्यवहारिणाम् ॥
कार्येष्वभ्यन्तरो यः स्यादर्थिना प्रहितश्च यः । कुल्याः कुलविवादेषु भवेयुस्तेऽपि साक्षिणः ॥ नारदस्मृति ४/१५१-१५२

676 व्युषितं छादितं यत्र सीमायां च समन्ततः । स कृत्तोऽपि भवेत्साक्षी ग्रामस्तत्र न संशयः ॥ बृहस्पतिस्मृति ५/१८

677 निर्णीते व्यवहारे तु पुनर्न्यायो यदा भवेत् । अध्यक्षः सभ्यसहितः साक्षी स्यात्तत्र नान्यथा ॥ बृहस्पतिस्मृति ५/१७

३. राजा -

राजा के साक्षी होने या न होने पर विभिन्न धर्मशास्त्रकारों में वैचारिक भिन्नता है । नारद ने राजा को अकृत साक्षी की श्रेणी के अन्तर्गत स्थान दिया है जिसमें राजा स्वयं की इच्छा से किसी भी विवाद में प्रमाण दे सकता है, परन्तु उसे साक्षी नहीं बनाया जा सकता । विशेषत: प्राङ्न्याय की स्थिति में, जब किसी विवाद के निर्णय पर पुर्नविचार किया जाता था तब राजा प्राड्विवाक के समान ही प्रमाण दे सकता था ।[678] या राजा को किसी विवाद के बारे जानकारी हो या उसके बारे में किसी पक्ष से सुना हो तब राजा साक्षी बन सकता था ।[679]

परन्तु विष्णु धर्मसूत्र ने राजा को अयोग्य साक्षी की सूची में स्थान दिया है ।[680] तथा मनु[681] एवं कौटिल्य[682] ने राजा को साक्षी के रूप में तो स्वीकार किया है किन्तु उसके लिए अपराधों का निर्धारण कर दिया गया । राजा केवल हिंसामूलक अपराध जैसे- साहस, स्त्रीसंग्रहण, दण्डपारूष्य आदि में ही साक्षी बन सकता है अर्थात् राजा को अर्थमूलक विवादों में साक्षी नहीं बनाया जा सकता था ।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि राजा को साक्षी के रूप में स्वीकार न करने का कारण उनकी प्रतिष्ठा एवं पद था । क्योंकि ऐसा हो सकता था कि जिस विवाद में राजा को साक्षी बनाया गया है उसमें राजा के प्रमाण दिये जाने पर, उसके विपरीत या उसको खंडन करने के लिए अन्य साक्षियों में साहस ही न हो । ऐसी स्थिति में विवाद के साथ न्याय नहीं हो पायेगा, जो अनुचित होगा । या ऐसा भी हो सकता था कि जिस विवाद में राजा ने प्रमाण दिया है उस प्रमाण को खण्डित करने वाले अनेक प्रमाण अन्य साक्षियों के द्वारा प्रस्तुत कर दिये जाये, ऐसी स्थिति में राजा की प्रतिष्ठा पर प्रश्नचिन्ह लग सकता था जो उसकी पद गरिमा के लिए उचित नहीं होता । अत: राजा को उसकी प्रतिष्ठा एवं पदसम्मान के कारण साक्षी की योग्यता होते हुये भी साक्षी के रूप में स्वीकार नहीं किया होगा ।

राजा जिसे तात्कालिक समय में विधि का रक्षक माना जाता था को वर्तमान के न्यायाधीश से समतुल्य माना जाये तो भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 121 भी न्यायाधीश को एक विशेषीकृत साक्षी के रूप में नियमबद्ध करती है । **धारा 121**, न्यायाधीश और मजिस्ट्रेट– ये विशेषाधिकृत साक्षी हैं । जब किसी न्यायाधीश या दण्डाधिकारी को ऐसे पद पर कार्य करते समय किसी तथ्य का ज्ञान होता है तो उस तथ्य का प्रमाण देने के लिए उसे विवश नहीं किया जायेगा परन्तु वरिष्ठ न्यायालय के आदेश से उसे प्रश्नों का उत्तर देना होता है लेकिन वरिष्ठ न्यायालय में ही

---

[678] अकृतः षड्विधश्चापि साक्षिणस्त्वकृता: स्वयम् । ग्रामश्च प्राड्विवाकश्च राजा च व्यवहारिणाम् ॥ नारदस्मृति ४/१५१

[679] अर्थिप्रत्यर्थिनोर्वाक्यं यच्छ्रुतं भूभृता स्वयम् । स एव तत्र साक्षी स्याद्विसंवादे द्वयोरपि ॥ बृहस्पतिस्मृति ५/१६

[680] विष्णुधर्मसूत्र ८/१

[681] न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ । मनुस्मृति ८/६५

[682] पारुष्यस्तेयसंग्रहणेषु तु वैरिस्यालसहायवर्जाः । रहस्यव्यवहारेष्वेका स्त्री पुरुष उपश्रोता उपद्रष्टा वा साक्षी स्याद्राजतापसवर्जम् ॥ कौटिल्य ३/११

।[683] यदि राजा जिसे तात्कालिक समय में विधि रक्षक माना जाता था को आज के न्यायाधीश के समतुल्य माना जाये तो भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा १२१ भी न्यायाधीश को एक विशेषीकृत साक्षी के रूप में उद्धृत करती है।

४. व्यवहारियों द्वारा भेजा गया -

जब विवाद को सुलझाने के लिये दोनों ही पक्ष किसी विशेष व्यक्ति को चुनते हैं तो वह व्यक्ति बिना किसी के साथ पक्षपात किये, प्रमाण दे सकता था। ऐसे साक्षी को बृहस्पति ने "कार्यमध्यागत" अकृत साक्षी कहा है।[684]

५. अर्थी के द्वारा भेजा गया (अर्थिना प्रहित) -

वह साक्षी जो अर्थी या प्रत्यर्थी के वचनों के उपरान्त किसी कार्य को करता था तो वह व्यक्ति उस वाद में अकृत साक्षी के रूप में प्रमाण दे सकता था। जैसे- अनेक अवसरों (विवाह) पर वास्तविक स्वामी किसी अन्य व्यक्ति को अनेक कार्य का भार सौप देता है, तब यदि उस कार्य को लेकर विवाद होता था तो उस स्वामी द्वारा भारित व्यक्ति को अकृत साक्षी के रूप में साक्ष्यार्थ स्वीकार किया जाता था। बृहस्पति ने ऐसे साक्षी को "दूतक" कहा है।[685]

६. कुलजन -

कुल संबंधी विवादों में कुल के उन वयोवृद्ध एवं सम्मानित व्यक्तियों को जो दोनों पक्षों के द्वारा समान रूप से आदरणीय होते थे तथा उन्हें अकृत साक्षी के रूप में प्रमाण देने के लिये प्रस्तुत किया जा सकता था।[686]

5.4 साक्षी की गुण/योग्यताएं-

धर्मशास्त्रकारों ने साक्षियों के लिये कुछ गुणों का भी निर्धारण किया है क्योंकि तात्कालिक समय में भी असत्य साक्ष्यों को देने वालों की कमी नहीं थी। इसलिए उन गुणों से युक्त साक्षी को ही प्रमाण के लिए उपयुक्त माना जाता था। परन्तु यह आवश्यक नहीं था कि साक्षी उन सभी गुणों से युक्त हो अर्थात् उनमें से कुछ गुणों से युक्त साक्षी को भी साक्ष्यार्थ स्वीकार किया जा सकता था।

गौतम के अनुसार साक्षी निष्कलंकचरित्रयुक्त, कर्तव्यनिष्ठ, राजा का विश्वसनीय और किसी भी पक्ष में पूर्वाग्रह से रहित आदि गुणों से युक्त होना चाहिए।[687] और यदि ये गुण शूद्र में हो तो भी उसे

---

[683] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 121

[684] उभाभ्यां यस्य विश्वस्तं कार्यं चापि निवेदितम्। गूढधारी स विज्ञेयः कार्यमध्यागतस्तथा॥ बृहस्पतिस्मृति ५/१५

[685] अर्थिप्रत्यर्थिवचनं शृणुयात्प्रेषितस्तु यः। उभयोः संमतः साधुः दूतकः स उदाहृतः॥ बृहस्पतिस्मृति ५/११

[686] विभागदाने विपणे ज्ञातिर्यश्चोपयुज्यते। द्वयोः समानो धर्मज्ञः कुल्यः स परिकीर्तितः॥ बृहस्पतिस्मृति ५/१०

[687] गौतम धर्मसूत्र २/४/२

साक्षी बनाया जा सकता है ।[688] बोधायन के अनुसार चारों वर्णों में जो भी पुत्रवान् है उसे साक्षी स्वीकार किया जाना चाहिये ।[689] आपस्तम्ब के अनुसार विवाद के विषयों को जानने वाले, वृद्ध, कुलीन, बुद्धिमान्, धर्मज्ञ को साक्षी बनाना चाहिये ।[690] कौटिल्य ने साक्षी का विश्वसनीय एवं चरित्रवान् होना आवश्यक माना ।[691] वही वशिष्ट ने साक्षी के लिए रूपवान्, शीलवान्, गुणवान् एवं सत्यभाषित आदि गुणों को उल्लेखित किया ।[692] तथा विष्णु[693], याज्ञवल्क्य[694], बृहस्पति[695] एवं कात्यायन[696] ने साक्षी के लिये निम्न गुणों का निर्धारण किया- कुलीन, वंशपरम्परा से एकप्रदेशवासी, चरित्रवान्, विश्वसनीय, धर्मज्ञ, उभयपक्ष स्वीकृत, द्वेषहीन, तपस्वी, दानशील, सत्यवादी, पुत्रवान्, वेद-धर्मशास्त्रानुसार आचरण करने वाला आदि । इन गुणों से युक्त व्यक्ति को साक्ष्यार्थ स्वीकार किया जाता था । मनु के अनुसार सभी वर्णों में आप्त पुरुष. धर्मज्ञ एवं निर्लोभी को सभी व्यवहार में साक्षी बनाया जा सकता है ।[697] परन्तु नारद ने साक्षी के लिए केवल नौ गुणों का निर्देश किया, यथा- तपस्वी, दानशील, कुलीन, सत्यवादी, धर्म-प्रज्ञान, कुटिलता से रहित, पुत्रवान्, धनी, वेद-धर्मशास्त्रानुसार आचरण करने वाला आदि । साक्षी के लिए इन नौ गुणों में से न्यूनतम तीन गुणों का होना आवश्यक होता था ।[698]

5.4.1 वर्ण, वर्ग एवं जाति की समानता-

नारद एवं याज्ञवल्क्य ने साक्षी के लिये वर्ण, वर्ग एवं जाति की समानता पर भी बल दिया है और कहा है कि जहां तक संभव हो साक्षी अपने ही वर्ण एवं जाति का हो अन्यथा किसी भी वर्ण एवं जाति का भी साक्षी हो सकता है ।[699] जैसे- यदि विवाद समाज के किसी वर्ण विशेष का हो तो उसमें साक्ष्यार्थ उपलब्ध साक्षी भी उसी वर्ण विशेष का होना चाहिए ।[700]

---

[688] अपि शूद्रा: । गौतम धर्मसूत्र २/४/३

[689] चत्वारो वर्णा: पुत्रिण: साक्षिण: । बोधायन धर्मसूत्र १/१०/१९/१६

[690] विवादे विद्याभिजनसम्पन्ना वृद्धा मेंधाविनो धमेष्वविनिपातिन: । आपस्तम्ब धर्मसूत्र २/११/२९/५

[691] साक्षिभेदे यतो बहवः शुचयोअनुमता वा ततो नियच्छेयुः, मध्यं वा गृह्णीयुः ॥ कौटिल्य ३/११, ३/१/३

[692] वशिष्ठ धर्मसूत्र, धर्मकोश, पृ. २४३

[693] विष्णु धर्मसूत्र ८/८

[694] तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः । धर्मप्रधाना ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/६८

[695] श्रौतस्मार्तक्रियायुक्ताः लोभद्वेषविवर्जिताः । कुलीनाः साक्षिणोऽनिन्द्यास्तपोदानदयान्विताः ॥ बृहस्पतिस्मृति ५/३८

[696] कात्यायनस्मृति, व्यवहारप्रकाश, पृ,१११

[697] गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविश्शूद्रयोनयः । अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये के चिदनापदि ॥
आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः । सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥ मनुस्मृति ८/६२-६३

[698] कुलीना ऋजवः शुद्धा जन्मतः कर्मतोऽर्थतः । त्र्यवराः साक्षिणोऽनिन्द्याः शुचयः स्युः सुबुद्धयः ॥ नारदस्मृति ४/१५३

[699] त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्तक्रियापराः । यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/६९
ब्राह्मणाः क्षत्रिया: वैश्याः शूद्रा ये चाप्यनिन्दिताः । प्रतिवर्णं भवेयुस्ते सर्वे सर्वेषु वा स्मृता: ॥ नारदस्मृति ४/१५४

[700] कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, पृ.३३१

मनु एवं वशिष्ठ के अनुसार स्त्रियों के विवादों में स्त्री को, द्विजों के विवादों में द्विज को, शूद्रों के विवाद में शूद्र को तथा चाण्डालों के विवाद में चाण्डाल को साक्षी बनाना चाहिये ।[701] इसी प्रकार नारद, कौटिल्य एवं कात्यायन ने श्रेणियों में श्रेणी पुरुष, वर्गों में वर्गस्थ पुरुष, बाह्य क्षेत्रों में बाह्य पुरुष और स्त्रियों में स्त्री को साक्षी बनाये जाने का निर्देश किया है ।[702] जैसे- जहां स्त्रियाँ वादी-प्रतिवादी हो वहां उन व्यवहारों में स्त्रियाँ ही साक्षी होती थी ।

गौतम के अनुसार विभिन्न वृत्तियुक्त वर्गों जैसे- कृषक, चरवाह, व्यापारी, ऋणदाता एवं शिल्पकार इत्यादि के विवादों में साक्षी भी उसी वृत्तिवर्ग का होना चाहिए जिस वर्ग से विवाद का संबंध है ।[703] अर्थात् वृत्तियुक्त विवादों में वृत्तियुक्त व्यक्ति ही साक्षी होता था क्योंकि संबंधित वृत्ति के व्यक्ति को उसके गुण और अवगुणों का भलीभांति ज्ञान होने के कारण वह विवाद को सुलझाने में विशेष मध्यस्थता करता था ।

5.5 साक्षी की अयोग्यताएं-

धर्मशास्त्रकारों ने साक्षियों के गुणों का उल्लेख करने के साथ-साथ उन अवगुणों का भी उल्लेख किया जिसके कारण कोई व्यक्ति साक्षी नहीं बन सकता था । इन अयोग्यताओं में कुछ अयोग्यताएं अवगुणों से, कुछ शारीरिक अपंगताओं से, कुछ अवस्थाओं से तथा कुछ अनैतिक आचरणों से संबंधित थी ।

मनु के अनुसार अर्थ से सम्बन्धित, मित्र, सहायक, वैरी, जिसके दोष पहले देखे जा चुके है उसको, रोग से पीडित, दूषित, राजा, शिल्पी, कलाकार, ब्राह्मण, बह्मचारी, सन्यासी, अत्यन्त आधीन, अनुशास्य, दस्यु, निन्दितकर्मकर्ता, वृद्ध, बालक, एकाकी, चाण्डाल, विकलेन्द्रिय, दुखी, मत्त, उन्मत्त, भूख-प्यास से पीडित, श्रमान्त, कामान्त, क्रोधी तथा तस्कर को साक्षी न बनाया जाए ।[704]

याज्ञवल्क्य, कात्यायन एवं विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार स्त्री, अव्यवस्क (बाल), वृद्ध, जुआरी (कितव), मत्त, उन्मत्त, कुख्यात (अभिशस्तक), नट (रङ्ग), पाखण्डि, कूटरचनाकार, विकलेन्द्रिय, मित्र, शत्रु, तस्कर, अपराधकर्ता (साहसी), दृष्टदोषसिद्ध, जाति से बहिष्कृत व्यक्तियों को साक्षी नहीं स्वीकार

---

[701] स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः । शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥ मनुस्मृति ८/६८
स्त्रीणां साक्षिण: स्त्रिय: कुर्याद्धजानां सदृशा द्विजा: शूद्राणां सन्त: शूद्राश्चान्त्यानामन्त्ययोनय: ॥ वशिष्ठ धर्मसूत्र १६/३०
[702] श्रेणीषु श्रेणिपुरुषाः स्वेषु वर्गेषु वर्गिणः । बहिर्वासिषु बाह्याश्च स्त्रियः स्त्रिषु च साक्षिणः ॥ नारदस्मृति ४/१५५
विभाव्यो वादिना यादृक्सदृशैरेव भावयेत् । नोत्कृष्टश्चावकृष्टस्तु साक्षिभिर्भावयेत्सदा ॥ कात्यायनस्मृति ३४८, व्यवहारप्रकाश, पृ.१११-११२
कौटिल्य ३/११
[703] कर्षकवणिक्पशुपालकुसीदिकारव: स्वे स्वे वर्गे । तेभ्यो यथाधिकारमर्थान्प्रत्यवहृत्य धर्मव्यवस्था ॥ गौतम धर्मसूत्र २/२/२१-२२
[704] नार्थसंबन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः । न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥
न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ । न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न सङ्गेभ्यो विनिर्गतः ॥
नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत् । न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः ॥
नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृष्णोपपीडितः । न श्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥ मनुस्मृति ८/६४-६७

करना चाहिए ।[705] बोधायन ने श्रोत्रिय, राजा, सन्यासी, बन्धु-बान्धवहीन को साक्षी के अयोग्य माना है ।[706]

कौटिल्य के अनुसार जिन्हें साक्षी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है वे है- पत्नी के भाई, सहायक, आश्रित, ऋणदाता, ऋणप्राप्तकर्ता, शत्रु, विकलेन्द्रिय, पूर्व व्यवहार में दोषसिद्ध, राजा, श्रोत्रिय, ग्रामसेवक, कुष्टरोगी, पतित/जाति से बहिष्कृत, चाण्डाल, तुच्छ-निन्दित कर्मों में लगा हुआ, अन्धा, बहरा, गूंगा, स्वामंत्रित, स्त्री, राजकार्यो के अतिरिक्त राज्याधिकारी आदि ।[707]

नारद के द्वारा एक विस्तृत सूची दी गयी है कि किन-किन को साक्षी नहीं बनाया जा सकता- दास, छल व्यवहारकारी, श्राद्ध के अयोग्य, वृद्ध, स्त्री, बालक, चक्र के द्वारा जीविका निर्वाह करने वाला अर्थात् तैलिक, मत्त, उन्मत्त, प्रमत्त, आर्त्त (दुखी), शठ, महापथिक (लम्बी यात्रा करने वाला), सामुद्रिक (समुद्र यात्रा करने वाला), वणिक, सन्यासी, रोगी, विकलांग, एकांकी, आचारहीन, क्लीव, नृत्यगीतादि द्वारा जीविका निर्वाह करने वाला, नास्तिक, व्रात्य (उपनयन संस्कार से हीन), पत्नी त्यागी, अग्नित्यागी, एक पाक में भोजनकारी, मित्र का शत्रु (अरिचर), चर, ज्ञाति, सहोदर, जिसका दोष पूर्व से ज्ञात हो (प्राग्दृष्टदोष), विषजीवी (विषविक्रेता), सर्पप्रभृतिजीवों को धरने वाला (तुण्डिका), विषदाता, अग्निदाता (गृहदाही), पशुहिंसाजीवी, शुद्रापुत्र, छोटे पाप करने वाला (उपपातक), थका हुआ व्यक्ति (क्लान्त), चोरी-हत्या करने वाला (साहसिक), श्रान्त, द्यूतादि व्यसनों से निर्धन व्यक्ति, चाण्डाल, अपना वृत्त को छोड़कर दूसरा वृत्त का अनुष्ठान करने वाला, समावृत संस्कार न हुआ हो (असमावृत्त), मुर्ख (जड़), चोर विधा में निपुण, भूतप्रेत के द्वारा आविष्ट, राजद्रोही, वर्षनक्षत्रसूचक, संदेह में रहने वाला, आत्मविक्रेता, अंगों में दोषों से युक्त (हीनांक), पत्नी से अनैतिक कार्य करवाकर जीविका चलाने वाला (भगवृत्ति), कुनखी, मधपानोत्तरूप काला दांत वाला, मित्र द्रोही, शठ, मद्य विक्रय करने वाला, ऐन्द्रजालिक, उग्र, श्रेणी विरोधी, गणविरोधी, वध करने वाला, चर्मकारी, पंगु, पतित, कुटकार, कुहक, संन्यास से लौटने वाला, तस्कर, राजपुरुष, पशु

---

[705] स्त्रीबालवृद्धकितव- मत्तोन्मत्ताभिशस्तकाः । रङ्गावतारिपाखण्डि- कूटकृद्विकलेन्द्रियाः ॥
पतितार्तार्थसंबन्धि- सहायरिपुतस्कराः । साहसी दृष्टदोषश्च निर्धूताद्यास्त्वसाक्षिणः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/७०-७१
अन्येन हि कृतः साक्षी नैवान्यस्तं विवादयेत् । तदभावे नियुक्तो वा बान्धवो वा विवादयेत् ॥
तद्वृत्तिजीविनो ये च तत्सेवाहितकारिणः । तद्बन्धुसुहृदो भृत्या आप्तास्ते तु न साक्षिणः ॥
मातृष्वसृसुताश्चैव सोदर्यासुतमातुलाः । एते सनाभयस्तूक्ताः साक्ष्यं तेषु न योजयेत् ॥
कुल्याः संबन्धिनश्चैव विवाह्यो भगिनीपतिः । पिता बन्धुः पितृव्यश्च श्वशुरो गुरवस्तथा ॥
नगरग्रामदेशेषु नियुक्ता ये पदेषु च । वल्लभाश्च न पृच्छेयुर्भक्तास्ते राजपूरुषाः ॥ कात्यायनस्मृति ३६०-३६४
विष्णुधर्मसूत्र ३/१-४

[706] चत्वारो वर्णा: पुत्रिण: साक्षिणस्स्युरन्यत्र श्रोत्रियराजन्यप्रव्रजितमानुष्यहीनेभ्य ॥ बोधायन धर्मसूत्र १/१०/१९/१६

[707] प्रतिषिद्धाः स्यालसहायान्वर्थिधनिकधारणिकवैरिन्यङ्गधृतदण्डाः, पूर्वे चाव्यवहार्याः ॥ राजश्रोत्रियग्रामभृतककुष्ठिव्रणिनः पतितचण्डालकुत्सितकर्माणोअन्धबधिरमूकाहंवादिनः स्त्रीराजपुरुषाश्च, अन्यत्र स्ववर्गेभ्यः ॥ पारुष्यस्तेयसंग्रहणेषु तु वैरिस्यालसहायवर्जाः ॥ रहस्यव्यवहारेष्वेका स्त्री पुरुष उपश्रोता उपद्रष्टा वा साक्षी स्याद्राजतापसवर्जम् ॥ अर्थशास्त्र ३/११

मांस, मनुष्य मांस, अस्थि, मुध, क्षीर जल और धृत का विक्रेता, ब्याज लेने वाला द्विज, अपना धर्म से च्युत, शिल्पयुक्त प्रधान, स्तुतिकर्ता, हीन लोगों की सेवा करने वाला, पिता के साथ विवाद करने वाला, भेदकर्ता, दास इत्यादि को साक्षी नहीं बनाया जा सकता था।[708]

इस प्रकार नारद की इस अयोग्य साक्षियों की सूची से यह स्पष्ट होता है कि इन व्यक्तियों को किसी विशेष दोष, अवस्था या दुर्गुणों के आधार इन निर्दिष्ट साक्षियों को प्रमाण देने के लिये अयोग्य माना गया था । जैसे- अवगुणों के कारण- विषदाता, उपपातक, चोर विधा में निपुण, विषजीवी, विषदाता, अग्निदाता (गृहदाही), पशुहिंसाजीवी, शुद्रापुत्र, छोटे पाप करने वाला (उपपातक), चोरी-हत्या करने वाला(साहसिक) आदि को; अनैतिक आचरण के कारण- राजद्रोही, आत्मविक्रेता, पत्नी से अनैतिक कार्य करवाकर जीविका चलाने वाला (भगवृत्ति), मधपानोत्तरूप काला दांत वाला, मित्रद्रोही, शठ, मद्य विक्रय करने वाला, ऐन्द्रजालिक, उग्र, श्रेणीविरोधी, गणविरोधी, वध करने वाला आदि को; शारीरिक दोषों के कारण- पंगु, कुनखी, अंगों में दोषों से युक्त (हीनांक), रोगी, विकलांग आदि को; विवाद से संबंध रखने वाले संबंधियों को पूर्वाग्रह से युक्त प्रमाण देने के कारण, व्यक्तिगत आचरण के कारण- तैलिक, मत्त, उन्मत्त, प्रमत्त, आर्त्त (दुखी), शठ, एकांकी, आचारहीन, क्लीव, नृत्यगीतादि द्वारा जीविका निर्वाह करने वाला, नास्तिक आदि को; महापथिक-सामुद्रिक को इसलिए अयोग्य साक्षी माना है क्योंकि ये व्यक्ति प्रमाण को उचित समय पर उपलब्ध कराने में विलम्ब कर सकते हैं, राजा को पद प्रतिष्ठा के कारण, ब्राह्मण एवं सन्यासी को वैदिक अनुष्ठान में बाधा उत्पन्न होने के कारण; इत्यादि । इस प्रकार इन अयोग्य साक्षियों को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है । परन्तु नारद की इस विस्तृत अयोग्य साक्षियों की सूची में से योग्य साक्षी को साक्ष्यार्थ प्रस्तुत करना दुष्कर लगता है । जिसके कारण इसे स्वीकार करना भी व्यवहारिक नहीं लगता है ।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम में भी साक्षी की योग्यता एवं अयोग्यता पर विचार किया गया है और निर्धारित किया गया है कि कौन-कौन प्रमाण से सकता है?- **धारा 118**, सभी व्यक्ति तभी

---

[708] स्त्रीबालवृद्धकितव- मत्तोन्मत्ताभिशस्तकाः । रङ्गावतारिपाखण्डि- कूटकृद्विकलेन्द्रियाः ॥
पतितात्मार्थसंबन्धि- सहायरिपुतस्कराः । साहसी दृष्टदोषश्च निर्धूताद्यास्त्वसाक्षिणः ॥ नारदस्मृति २/७०-७१
दासनैकृतिकाश्रद्ध- वृद्धस्त्रीबालचाक्रिकाः । मत्तोन्मत्तप्रमत्तार्त- कितवग्रामयाजकाः ॥
महापथिकसामुद्र- वणिक्प्रव्रजितातुराः । लुब्धकश्रोत्रियाचार- हीनक्लीबकुशीलवाः ॥
नास्तिकव्रात्यदाराग्नि- त्यागिनोऽयाज्ययाजकाः । एकस्थालीसहायारि- चरज्ञातिसनाभयः ॥
प्राग्दृष्टदोषशैलूष विषजीव्यहितुण्डिकाः । गरदाग्निदकीनाश- शूद्रापुत्रोपपातिकाः ॥
क्लान्तसाहसिकश्रान्त- निर्धनान्त्यावसायिनः । भिन्नवृत्तासमावृत्त- जडतैलिकमूलिकाः ॥
भूताविष्टनृपद्विष्ट वर्षनक्षत्रसूचकाः । अघशंस्यात्मविक्रेतृ- हीनाङ्गभगवृत्तयः ॥
कुनखी श्यावदन् श्वित्रि- मित्रध्रुक्शठशौण्डिकाः । ऐन्द्रजालिकलुब्धोग्र श्रेणीगणविरोधिनः ॥
वधकृच्छ्रित्रकृन्मङ्खः पतितः कूटकारकः । कुहकः प्रत्यवसितस्तस्करो राजपूरुषः ॥
मनुष्यविषशस्त्राम्बु- लवणापूपवीरुधाम् । विक्रेता ब्राह्मणश्चैव द्विजो वार्धुषिकश्च यः ॥
च्युतः स्वधर्मात्कुलिकः स्तावको हीनसेवकः । पित्रा विवदमानश्च भेदकृच्चेत्यसाक्षिणः ॥
असाक्षिणो ये निर्दिष्टा दासनैकृतिकादयः । कार्यगौरवमासाद्य भवेयुस्तेऽपि साक्षिणः ॥ नारदस्मृति ४/१७८-१८८

साक्ष/प्रमाण दे सकते हैं जब तक कि न्यायालय के विचार में कम आयु, अत्यधिक बुढापा, शरीर या मन के रोग या इसी प्रकार के अन्य कारणों से उनसे किये गये प्रश्नों को समझने के लिए अथवा उन प्रश्नों का युक्तियुक्त उत्तर देने के लिए निवारित (असमर्थ) न हों। अर्थात् अत्यंत बालकपन के कारण, अत्यधिक बुढापे के कारण, अथवा शारीरिक या मानसिक रोग के कारण जो लोग उनसे किये गये प्रश्नों को सही ढंग से समझ नहीं पाते हैं अथवा उन प्रश्नों का युक्तियुक्त उत्तर नहीं दे पाते हैं, वे प्रमाण नहीं दे सकेंगे।[709] तथा इसी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि- बालक साक्षी खतरनाक साक्षी होते हैं क्योंकि कम उम्र के होने के कारण वे अपने सपनो को भी सच मान लेते हैं या जो कुछ दूसरों से सुनते हैं वही सच मान लेते हैं। इसलिए बालकों के प्रमाण को सावधानी और सतर्कता से ग्रहण करना चाहिए। ऐसे मामलों में न्यायाधीश का यह कर्तव्य बनता है कि न्यायाधीश इस बात का उल्लेख करे कि बच्चा सत्य बोलने के कर्तव्य को समझता था। अतिवृद्ध साक्षी- अतिवृद्ध साक्षी भी सक्षम साक्षी होता है लेकिन बालक साक्षी की भांति उसके मामले में भी 'वायर-डायर' का नियम अपनाया जाता है। वह बूढ़ा व्यक्ति देख सकता है, सुन सकता है और प्रश्नों का उत्तर दे सकता है। तो मात्र बूढ़ा होने के नाते उसके प्रमाण में कमी नहीं आएगी। पागल साक्षी- धारा 118 के स्पष्टीकरण में बताया गया है कि पागल व्यक्ति भी सक्षम साक्षी है बशर्ते उस समय पागलपन का प्रभाव न रहा हो। ऐसे व्यक्ति जो आत्माओं से बात करते हैं, क्या वे गवाही दे सकते हैं? १९२० में आर. बनाम हिल्स के मामले में यह प्रश्न उठा था। डोनली नामक एक व्यक्ति जो पागलखाने में भर्ती था, उसे यह भ्रान्ति थी कि २०,००० रूहें उससे नित्य बात करती है। परन्तु डॉक्टर ने बताया कि वह प्रश्नों का उत्तर देने के लिए सक्षम है। विपक्षी वकील ने कहा कि उसका प्रमाण न लिया जाये। परन्तु न्यायाधीश ने कहा कि यदि वकील की बात मान भी ली जाये तो मार्टिन लूथर किंग को भी अक्षम घोषित करना पड़ेगा। क्योंकि वह मानता था कि शैतान से उसकी व्यक्तिगत लड़ाई होती थी। सुकरात भी आत्माओं से बात करते थे लेकिन अक्षम नहीं माना जा सकता। शरीर या मन के रोग- शारीरिक या मानसिक रोग के कारण यदि कोई व्यक्ति प्रश्नों को नहीं समझ सकता है और उनका ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे पाता है तो वह सक्षम साक्षी नहीं है।

- **अपवाद-**

दिवानी मामलों (अर्थमूलक विवादों) में साक्षी की योग्यता एवं अयोग्यता पर विचार किया जाता था परन्तु फौजदारी मामलों (हिंसामूलक विवादों) में इस प्रकार की योग्यता एवं अयोग्यता का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि इन फौजदारी मामलों में साक्षी का मिलना ही दुष्कर होता था। इसलिये साहस, स्तेय, संग्रहण, दण्डपारुष्य और वाक्पारुष्य इन पांच व्यवहारों में सभी जन साक्षी हो सकते थे अर्थात् उक्त अपराध में किसी भी वर्ण एवं जाति के व्यक्ति साक्षी हो सकते थे।[710]

---

[709] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा ११८

[710] सर्वः साक्षी संग्रहणे चौर्यपारुष्यसाहसे ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/७२

क्योंकि यह जरूरी नहीं होता था कि इस प्रकार के साहस आदि हिंसक अपराध के समय साक्षित्व के गुणों से संपन्न व्यक्ति वहां उपस्थित हो। अतः ऐसे घटनास्थल पर उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति को साक्षी माना गया था। इसलिए मनु ने पुत्रवान्, गृहस्थ, वैश्य, मूलत: निवासी, शूद्रयोनि के साक्षी को केवल आपात्काल में साक्षी स्वीकार किया है।[711] तथा घर के भीतर या जंगल में घटित या शरीर पर चोट लगने जैसे अपराधों में उचित प्रमाण के न मिलने पर स्त्री, बालक, वृद्ध, शिष्य, दास, संबंधी एवं नौकर को भी साक्षी बनाया जा सकता है।[712] हालांकि मनु ने सामान्य स्थिति में स्त्री को पवित्र होने पर भी अस्थिरचित्तवाली होने के कारण तथा दोषों से युक्त व्यक्ति को साक्षी स्वीकार ही नहीं किया है।[713]

लेकिन नारद इसमें (उक्त साहसादि अपराधों में) भी बालक को अज्ञानता के कारण, स्त्री को मिथ्या भाषणी होने के कारण, कूट व्यक्ति को छलादि व्यवहार के कारण, बान्धुवों को स्नेह से अन्यथा बोलने के कारण, शत्रु को विरोधी भाव के कारण साक्षी के रूप में अयोग्य मानते हैं।[714]

अत: उपर्युक्त विवेचन से यह बात सिद्ध होती है कि धर्मशास्त्रकारों ने विवादों में साक्षी के लिए वर्ण, वर्ग, वृत्ति एवं जाति की समानता पर बल दिया था अर्थात् यदि विवाद किसी वर्ण (ब्राह्मणादि), वर्ग (स्त्री-पुरुष आदि), वृत्ति (व्यापारी आदि) एवं जाति विशेष का होता था तो उसमें साक्षी भी इन्हीं वर्ण, वर्ग, वृत्ति एवं जाति का होना आवश्यक था। इस प्रकार की वर्गादि समानता के पीछे व्यवहारिक तर्क यह था कि उसी विवादस्थ वर्गादि का साक्षी उस वर्ण/वर्ग/वृत्ति/जाति के नियम, शर्त, परम्परा, रीति-रिवाज आदि का भलीभांति ज्ञान रखता है, वह ज्ञान शायद उस विवादस्थ वर्ग से भिन्न वर्ग के व्यक्ति/साक्षी के पास न हो। ऐसे में यह वर्गादि की समानता उस विवाद को सुलझाने में मध्यस्थता का कार्य करती थी। लेकिन यहां पर धर्मशास्त्रकारों ने साक्षी के लिये वर्गादि की समानता को अनिवार्य नहीं माना था। इन प्रतिबन्धों में शिथिलता को धारण करते हुए कहा गया कि साहस, स्तेय, स्त्रीसंग्रहण जैसे विवादों में जहां साक्षी का मिलना ही दुष्कर होता था वहां पर यह वर्गादि की समानता का नियम लागू नहीं होगा। ऐसे विवादों में किसी भी वर्ग, वर्णादि का व्यक्ति साक्षी हो सकता था जिसने उस विवाद को देखा हो।

5.6 प्रमाण देने के सर्वथा अयोग्य साक्षी-

नारद ने प्रमाण देने के लिए सर्वथा अयोग्य ५ साक्षियों का उल्लेख किया है।[715] यथा-

---

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च। पारुष्ययोश्चाप्युभयोर्न परीक्षेत साक्षिणः॥ नारदस्मृति ४/१८९
स्तेयसाहसवाग्दण्डपारुष्यसंग्रहणेषु साक्षिणो न परीक्ष्या॥ विष्णु धर्मसूत्र ८/६
न पीडाकृते निबन्ध॥ गौतम धर्मसूत्र २/४/९

[711] गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविश्शूद्रयोनयः। अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये के चिदनापदि॥ मनुस्मृति ८/६२

[712] स्त्रियाप्यसंभावे कार्यं बालेन स्थविरेण वा। शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा॥ मनुस्मृति ८/७०

[713] स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः॥ मनुस्मृति ८/७७

[714] तेषामपि न बालः स्यान्नैको न स्त्री न कूटकृत्। न बान्धवो न चारातिर्ब्रूयुस्ते साक्ष्यमन्यथा॥ नारदस्मृति ४/१९०

[715] असाक्ष्यपि हि शास्त्रेऽस्मिन् दृष्टः पञ्चविधो बुधैः। वचनादोषतो भेदान् स्वयमुक्तिर्मृतान्नरः॥ नारदस्मृति ४/१५७

१. **वचन-** क्षोत्रिय, तापस, वृद्ध और सन्यासी शास्त्रावचन के कारण साक्षी बनने के अयोग्य थे ।[716] इन्हें अयोग्य मानने का कारण सिर्फ इनके प्रति सम्मान की भावना थी ।

२. **दोष-** चोर, साहसिक, चण्ड (क्रोधी), कितव (जुआरी) वचन दोष के कारण प्रमाण देने के अयोग्य थे, क्योंकि इनका संबंध अपराधिक प्रवृत्तियों से होता था जिसके कारण इनका स्वभाव झूठ बोलना हो जाता था ।[717] यदि इनके द्वारा किसी विवाद में प्रमाण दिये जाते हैं तो उन्हें मिथ्या घोषित कर दिया जाता था । लेकिन यदि ये चोर, कितव आदि व्यक्ति अपराधिक प्रवृत्तियों को त्याग कर सामान्य जीवन जीने लगते, तो इन्हें भी साक्षी के रूप में स्वीकार किया जा सकता था ।

३. **भेद-** वादी के द्वारा निर्दिष्ट विषय से भिन्न अर्थ में कहने वाला साक्षी वचन भेद के कारण प्रमाण देने के अयोग्य होता था ।[718] अर्थात् वह साक्षी जो विवाद में पहले कुछ ओर कहता था और बाद में उसी विवाद के बारे में पूर्व में कथित वचनों को काटते हुए कुछ अन्य कहता था तो उस साक्षी को अपने वचनों में परस्पर भेद प्रकट करने के कारण अयोग्य माना जाता था । क्योंकि उसके द्वारा उपस्थापित साक्ष्यों पर संदेह उपस्थित हो जाता था । भारतीय साक्ष्य अधिनियम में ऐसे साक्षी को पक्षविरोधी साक्षी कहा गया है । **धारा 154**, पक्षद्रोही साक्षी- वह साक्षी है जो सच नहीं बताना चाहता अथवा दूसरे पक्ष के समर्थन में अपनी बात कहता है । (पक्षद्रोही का अर्थ- वह साक्षी है जो अपने पूर्ववर्ती कथन से हट रहा है अथवा न्यायालय को सच बताने का इच्छुक नहीं है ।) यह गवाह की विश्वसनीयता को खंडित करने वाला है । 2006 के संशोधन द्वारा धारा 154 में एक उपखंड जोड़ा गया है जिसके अनुसार- पक्षद्रोही साक्षी के प्रमाण के उतने अंश का प्रयोग किया जा सकता है जितना अंश अभियोजन का समर्थन करता है ।[719]

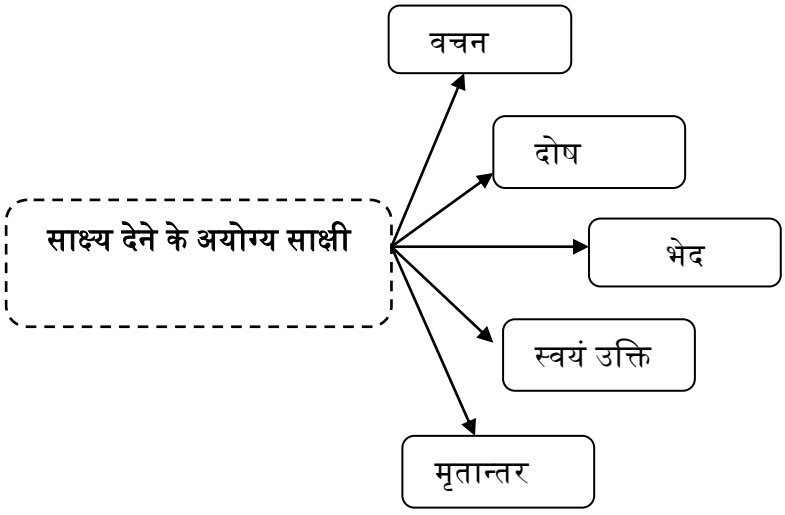

[716] श्रोत्रियास्तापसा वृद्धा ये च प्रव्रजिता नराः । असाक्षिणस्ते वचनान्नात्र हेतुरुदाहृतः ॥ नारदस्मृति ४/१५८

[717] स्तेनाः साहसिकाश्चण्डाः कितवा वधकास्तथा । असाक्षिणस्ते दुष्टत्वात्तेषु सत्यं न विद्यते ॥ नारदस्मृति ४/१५९

[718] राज्ञा परिगृहीतेषु साक्षिष्वेकार्थनिश्चये । वचनं यत्र भिद्यते ते स्युर्भेदादसाक्षिणः ॥ नारदस्मृति ४/१५०

[719] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 154

४. **स्वयं उक्ति-** वादी/प्रतिवादी द्वारा निर्दिष्ट न होने पर स्वयं की इच्छा से प्रमाण देने वाला स्वयमुक्ति साक्षी भी प्रमाण देने के अयोग्य होता था ।[720] क्योंकि स्वयमुक्ति साक्षी बिना किसी पक्ष की सहमति के या बिना आह्वान के स्वयं प्रमाण देने के लिये उपस्थित हो जाता था और वह किसी न किसी पक्ष के भार से युक्त होकर प्रमाण देता था । इसलिये स्वयमुक्ति साक्षी को साक्ष्यार्थ अयोग्य माना गया था ।

५. **मृतान्तर -** व्यवहार प्रक्रिया में जब अर्थी या प्रत्यर्थी का प्रमाण प्रस्तुत करने में इष्ट साक्षी हो, परन्तु यदि अर्थी या प्रत्यर्थी ही मृत्य हो प्राप्त हो जाए तो वह इष्ट साक्षी किस विषय में प्रमाण प्रदान करेगा, का निर्णय न हो पाने के कारण मृतान्तर साक्षी प्रमाण देने के अयोग्य होता था ।[721]

अत: इन व्यक्तियों को वचन, भेद, दोष, स्वयमुक्ति एवं मृतान्तर आदि दोषों के कारण प्रमाण देने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त माना गया था ।

5.7 शपथ-

धर्मशास्त्रकारों ने साक्षी के परीक्षण के उपरान्त उसको साक्ष्यार्थ योग्य मानते हुए शपथ दिलाने का उल्लेख किया हैं । आपस्तम्ब के अनुसार सन्देहास्पद विषयों में राजा द्वारा सत्य का पता साक्षियों को शपथ दिलाकर करवाना चाहिये ।[722] धर्मशास्त्रकारों ने शपथ हेतु प्रात:काल क समय का निर्धारण किया है ।[723] किसी भी साक्षी को शपथ दिलाने से पूर्व सभासद् द्वारा साक्षी को वादी एवं प्रतिवादी के सम्मुख पुराण के कथानकों, धार्मिक उपदेशों के द्वारा सत्य की महत्ता और असत्य बोलने पर होने वाली हानि को बताते हुए सत्य बोलने की प्रेरणा दी जाती थी कि-

सत्यभाषी साक्षी देवताओं का प्रिय एवं स्वर्गलोक को तथा असत्यभाषी साक्षी को नरक लोक को प्राप्त करते हैं ।[724] असत्य बोलने पर साक्षी को स्त्री एवं बालक की मृत्यु करने का पाप लगता हैं,

---

[720] अनिर्दिष्टस्तु साक्षित्वे स्वयमेवैत्य यो वदेत् । सूचीत्युक्तः स शास्त्रेषु न स साक्षित्वमर्हति ॥ नारदस्मृति ४/१६१

[721] योऽर्थः श्रावयितव्यः स्यात्तस्मिन्नसति चार्थिनि । क्व तद्वदतु साक्षित्वमित्यसाक्षी मृतान्तरः ॥ नारदस्मृति ४/१६२

[722] सुविचितं विचित्या देवप्रश्नेभ्यो राजा दण्डाय प्रतिपद्यत ॥ आपस्तब धर्मसूत्र २/५/११/३

[723] साक्षिणश्चाहूयादित्योदये कृतशपथान्पृच्छेत् ॥ विष्णु धर्मसूत्र ८/१९
पुण्याहे प्रातरग्नि...। आपस्तम्ब धर्मसूत्र २/११/२९/७

[724] स्वर्ग: सत्यवचने विपर्यये नरक: । गौतम धर्मसूत्र २/४/७
विष्णु धर्मसूत्र ८/२४-३७, वशिष्ठ धर्मसूत्र १६/३२-३४, बोधायन धर्मसूत्र १०/१९/९-१२, आपस्तम्ब धर्मसूत्र २/११/२९/७१
सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् । इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥
साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम् । विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥
सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते । तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः । मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥
मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः । तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥
द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः । रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥ मनुस्मृति ८/८१-८६

घातक एवं महापातकियों को प्राप्त होने वाले नरकादि लोक प्राप्त होते हैं, जन्म-जन्मान्तरों से संचित पुण्य (कर्मों का फल) नष्ट हो जाते हैं[725] और साक्षी के पुण्य स्थानान्तरण उस वादी या प्रतिवादी का हो जाता हैं जिसे वह असत्य बोलकर जीतना चाहता हैं। इसलिए असत्य से विमुख होकर सत्य का भाषण करना चाहिये। क्योंकि सत्य स्वर्ग का सोपान है जैसे समुद्र को पार करने के लिए नाव है। सत्य के द्वारा ही सूर्य का उदय, वायु का चलना, जल का निम्नदेश को चलता होता है। सत्य लोगों का श्रेष्ठ दान-तप-कर्म हैं। अतः मिथ्या के दोषों को और सत्य के सद्गुणों को जानकर सत्य बोलकर अपनी आत्मा का उद्धार करो, आत्मा को पाप का भागी न बनाओ, आत्मा सत्य है, इस सत्य में सब प्रतिष्ठित है, सत्य बोलकर आत्मा को श्रेय युक्त बनाइए। सत्य से बड़ा धर्म और मिथ्या से बड़ा पाप नहीं है। क्योंकि जिस रात्रि तुम (साक्षी) उत्पन्न हुये हो और जिस रात्रि तुम मरोगे, इन दोनों के बीच के समय में किये गये धर्माचरण से प्राप्त होने वाले पुण्य, असत्य बोलने पर राजा को प्राप्त हो जायेगें।[726] अतः साक्षी को अपने स्वधर्म के अनुसार सत्य बोलना चाहिए।[727]

प्रमाण प्रक्रिया के तहत जो साक्षी बान्धव प्रेम के कारण या लोभ के कारण पक्षपातपूर्ण प्रमाण देता है तो उसके पूर्वज एवं कुलज लोग स्वर्ग के अधिकार से वंचित हो जाते हैं।[728] प्रक्रिया के तहत झूठे प्रमाण देने वाले साक्षी को महापातक एवं निम्न कोटि के पापकर्ताओं के समान लोक प्राप्त होता है और उसके समस्त वंचित पूण्यकर्म नष्ट हो जाते हैं। लेकिन जो प्रक्रिया में सत्य बोलता है वह साक्षी सूर्य की किरणों के समान फैलता है, चन्द्रमा के समान चमकता है, हवा के समान बहता है, पानी के समान बहता है और अग्नि के समान जलता है और इस सत्य से वह देवताओं के समान ही माना जाता है।[729]

मनु के अनुसार प्रमाण प्रक्रिया में सत्य बोलने पर साक्षी को अनिन्द्यलोक, ब्रह्मा द्वारा पूजित वाणी तथा इस संसार में अतिक्रमणीय कीर्ति की प्राप्ति होती है, सत्य से साक्षी पवित्र होता है जिससे उसके धर्म की वृद्धि होती है इसलिए सत्य प्रमाण ही बोलना चाहिए। क्योंकि शुभ-अशुभ कर्मों में आत्मा की प्रेरणा से ही प्रवृत्ति होती है अत: आत्मा ही स्वयं आत्मा की साक्षी होती है, इसलिए मनुष्य को श्रेष्ठ साक्षी आत्मा की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। मिथ्या साक्षी को लगता है कि उसको कोई देख नहीं रहा, पर उसके देव एवं उसकी अन्तरात्मा देख रही है। अंतरिक्ष, भूमि, जल, हृदय्, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, यम, वायु, रात्रि, सन्ध्या और धर्म ये शरीरधारियों के व्यवहार को जानते हैं। इसलिए सत्य का अनुसरण करना चाहिए।[730] तथा जिस साक्षी के द्वारा असत्य प्रमाण दिया जाता

---

[725] साक्षिणः श्रावयेद्वादि- प्रतिवादिसमीपगान्। ये पातककृतां लोका महापातकिनां तथा ॥
अग्निदानां च ये लोका ये च स्त्रीबालघातिनाम्। स तान् सर्वानवाप्नोति यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥
सुकृतं यत्त्वया किंचिज्जन्मान्तरशतैः कृतम्। तत्सर्वं तस्य जानीहि यं पराजयसे मृषा ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/७३-७५

[726] बोधायन धर्मसूत्र १/१०/१९/११-१२

[727] नारदस्मृति ४/२१०-२२६

[728] वशिष्ठ धर्मसूत्र ८/३७

[729] विष्णु धर्मसूत्र ८/२५-३५

[730]सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान्। इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ मनुस्मृति ८/८१,
सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते। तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥

है वह अधोमुख होता हुआ नरक को प्राप्त करता है, स्वर्ग से भी निष्कासित कर दिया जाता है, वरुण के पाशो में भंयकर बन्धकर सौवर्षों तक विवश होता है ।[731] और उस असत्यभाषी साक्षी को बह्महत्या, गौहत्या, बालहत्या, मित्रद्रोही एवं कृतघ्न के समान पाप का भागीदार समझा जाता था ।[732] इसलिये गौतम के अनुसार न्यायाधीशों के द्वारा पूछे जाने पर साक्षी को सत्य बोलना चाहिये, क्योंकि सत्य बोलना सभी धर्मों में श्रेष्ठ धर्म है ।[733] विष्णु के अनुसार सत्य और सौ अश्वमेध यज्ञों के पुण्यों को एक तराजू पर तौला जाये तो सत्य का पलडा ही भारी पडेगा ।[734] बोधायन के अनुसार लोक में प्रशंसा और मान पाने के लिये साक्षी को वैसा ही बोलना चाहिये जैसा उसने देखा या सुना हो ।[735]

5.7.1 शपथ विधि-

सत्यभाषण के लिये प्रेरित करते हुए साक्षी को शपथ दिलायी जाती थी । परन्तु इस शपथ दिलाने की विधि में वैचारिक भिन्नता विद्यमान थी- वशिष्ठ के अनुसार साक्षी को पूर्वाभिमुख करके शपथ दिलानी चाहिये ।[736] मनु ने शपथ वाले दिन के पूर्वार्ध भाग में साक्षी को पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख करके शपथ दिलवाने का निर्देश दिया है ।[737] कात्यायन भी मनु के इस विचार को स्वीकार करते हैं ।[738] परन्तु बृहस्पति ने शपथ के लिये दिशा का निर्देश न करते हुए कहा है कि साक्षी को न्यायालय की मर्यादा का सम्मान करते हुए जूते एवं सिर पर धारित वस्त्र जैसे पगडी को उतारकर, दाहिने हाथ से स्वर्ण, गोबर एवं कुश को स्पर्श करते हुए शपथ दिलाना चाहिये ।[739]

5.7.2 शपथ में प्रमाण-

यह प्रश्न स्वत: मन में उठता है कि शपथ किसके सामने लेनी चाहिये या किसको प्रमाण मानकर शपथ लेना चाहिये । गौतम के अनुसार ब्राह्मणेतर वर्ण के साक्षी को देवताओं के निकट, राजा या ब्राह्मण की सभा में शपथ दिलाना चाहिये ।[740] आपस्तम्ब के अनुसार किसी शुभ दिन प्रात:काल जलती हुई अग्नि के सम्मुख जल से आपूरित कलश के निकट राजा के सम्मुख, दोनों पक्षों की सहमति से उत्तम गुणों की से युक्त साक्षी से प्रश्न करना चाहिये अर्थात् शपथ दिलाना चाहिये

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः । मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥
मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः । तांस्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ॥
द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः । रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥ मनुस्मृति ८/८३-८६

[731] साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि । अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ मनुस्मृति ८/ ७५,९४
साक्ष्येऽनृतं वदन् पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम् । विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥ मनुस्मृति ८/८२

[732] ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः । मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषा ॥ मनुस्मृति ८/८९

[733] सर्वधर्मभ्यो गरीय: प्राड्विवाके सत्यवचनं सत्यवचनम् ॥ गौतम धर्मसूत्र २/४/३१

[734] अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् । अश्वमेधसहस्राद्धिसत्यमेव विशिष्यते ॥ विष्णु धर्मसूत्र ८/३६

[735] लोकसङ्गहणार्थं यथादृष्ट यथाश्रुतं साक्षी ब्रूयात् ॥ बोधायनधर्मसूत्र १/१०/१९/९

[736] वशिष्ठ धर्मसूत्र, धर्मकोश, पृ.२४३

[737] देवब्राह्मणसांनिध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् । उदङ्मुखान् प्राङ्मुखान् वा पूर्वाह्ले वै शुचिः शुचीन् ॥ मनुस्मृति ८/८७

[738] कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, पृ ३३६

[739] विहायोपानदुष्णीषं दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् । हिरण्यं गोशकृद्भर्भान् समादाय ऋतं वदेत् ॥ बृहस्पतिस्मृति ५/४२

[740] तद्देवराजब्राह्मणसंसदि स्यादब्राह्मणानाम् ॥ गौतम धर्मसूत्र २/४/१३

।[741] इस पर कौटिल्य का मत है कि साक्षी को ब्राह्मण, जल से भरे घडे एवं अग्नि के सम्मुख शपथ लेनी चाहिये ।[742] वही कात्यायन ने ब्राह्मण के साथ देव प्रतिमा का भी उल्लेख किया है ।[743]

5.7.3 वर्णानुसार शपथ का स्वरूप-

धर्मशास्त्रकारों ने शपथ में वर्ण व्यवस्था को आधार माना है अर्थात् भिन्न-भिन्न वर्णों के लिए शपथ विधि भी भिन्न-भिन्न होती थी । धर्मशास्त्रकारों में से सिर्फ गौतम[744] ने ब्राह्मण के लिये शपथ को अनिवार्य नहीं माना, बाकि अन्य ने शपथ की विधि को सभी के लिये अनिवार्य तो माना परन्तु इसमें वर्ण के अनुसार भेद प्रकट किया ।

विष्णु एवं मनु के अनुसार शपथ के समय न्यायाधीश ब्राह्मण साक्षी से केवल बोलने (ब्रूहि) के लिए कहें, क्षत्रिय से सत्यबोलने (सत्यं ब्रूहि) के लिये कहें, वैश्य़ से गौ-बीज-स्वर्ण की शपथ लेकर बोलने को कहें तथा शूद्र से सम्पूर्ण पापों की शपथ लेकर बोलने के लिए कहें ।[745] इसी प्रकार कौटिल्य ने न्यायाधीश को निर्देश दिया है कि यदि ब्राह्मण साक्षी हो तो सिर्फ "सत्य बोलने" (सत्यं ब्रूहि) को कहें, यदि क्षत्रिय अथवा वैश्य है तो कहें "असत्यबोलने से तुम्हारे इष्ट की सिद्धि का फल एवं कूप-धर्मशालाओं आदि के निर्माण का फल भी नष्ट हो जायेगा और तुम शत्रु पर विजय प्राप्त करके भी भिक्षु के समान जीवनयापन करोगें" और यदि शूद्र साक्षी है तो कहें "असत्यभाषण से तुम्हारे पवित्र कर्मों का फल जन्म जन्मान्तर तक राजा को मिलेगा और तुम दण्डित होते रहोगे" ।[746] विष्णु के अनुसार यदि विवाद का एक पक्ष शूद्र है और उस विवाद का मूल्य एक "कृष्णल" से कम हो तो शूद्र को दुर्वा हाथ में दिलाकर शपथ दिलाना चाहिये, यदि विवाद का मूल्य दो कृष्णल से भी कम हो तो तिलों को हाथ में दिलाकर, तीन कृष्णल से कम हो तो चांदी को हाथ में दिलाकर, चार कृष्णल से कम हो तो सुवर्ण को हाथ में दिलाकर और पांच कृष्णल से कम मूल्य हो तो विवाद में जूती हुई भूमि की मिट्टी को हाथ में लेकर शपथ दिलाना चाहिये ।[747]

---

[741] पुण्याहे प्रातरग्नाविद्वेऽपामन्ते राजवत्युभयतस्समाख्याय सर्वानुमते मुख्यस्सत्यं प्रश्नं ब्रूयात् ॥ आपस्तम्ब धर्मसूत्र २/११/२९/७

[742] ब्राह्मणोदकुम्भाग्निसकाशे साक्षिणः परिगृह्णीयात् ॥ कौटिल्य ३/११

[743] कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ ३३६

[744] गौतम धर्मसूत्र १३/१२-१३

[745] ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत्सत्यं ब्रूहीति पार्थिवम् । गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ मनुस्मृति ८/८८
सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः । गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ मनुस्मृति ८/११३
ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेत् । सत्यं ब्रूहीति राजन्यम् । गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यम् । सर्वमहापातकैस्तु । शूद्रम् । विष्णुधर्मसूत्र ८/२०-२३

[746] तत्र ब्राह्मणं ब्रूयात्"सत्यं ब्रूहि" इति ॥

राजन्यं वैश्यं वा "मा तवेष्टापूर्तफलम्, कपालहस्तः शत्रुकुलं भिक्षार्थी गच्छेः" इति ॥

शूद्रं "जन्ममरणान्तरे यद्वः पुण्यफलं तद्राजानं गच्छेद्, राज्ञश्च किल्बिषं युष्मानन्यथावादे, दण्डश्चानुबद्धः, पश्चादपि ज्ञायेत यथादृष्टश्रुतम्, एकमन्त्राः सत्यमुपहरत" इति ॥ कौटिल्य ३/११

[747] विष्णुधर्मसूत्र ९/५-९

परन्तु मिताक्षरा ने शपथ में सामाजिक वर्ण व्यवस्था के साथ इन वर्णों के कर्मो को भी आधार माना है और कहा है कि ब्राह्मण साक्षी को असत्यभाषण पर होने वाली उसकी सत्य की हानि का भय दिखाकर, क्षत्रिय को असत्य बोलने पर होने वाले उसके आयुध एवं वाहन आदि के असफल होने का भय दिखाकर, वैश्य को मिथ्याभाषण पर होने वाले अन्न-पशु-स्वर्णादि के विनाश हो जाने का भय दिखाकर तथा शूद्र को असत्यबोलने पर होने वाले समस्त पातकों का भार आ जाने का भय दिखाकर, शपथ दिलानी चाहिये ।[748] इसी प्रकार नारद का मत है कि साक्षियों में ब्राह्मण को सत्य की शपथ, क्षत्रिय को वाहन और आयुध की शपथ, वैश्य को पशु-अन्न-गृह की शपथ, शूद्र को सर्वप्रकार के पातकों से शाप देने की शपथ दिलाई जानी चाहिए ।[749]

परन्तु ब्राह्मणों में से केवल उन्ही ब्राह्मणों को प्रमाण के सन्दर्भ में प्राप्त होने वाली छूट प्राप्त होती थी जो अपने धर्म का शास्त्रोचितढंग से पालन करता थे । मनु के अनुसार वह ब्राह्मण जो स्वधर्म से भिन्न कार्यों जैसे- गोपालनवृत्ति से जीविका चलाना, व्यापार करना, दासकर्म करना, ब्याज पर लेने-देन करना, नृत्य-गान करके जीविका चलाना आदि को करता है तो उस ब्राह्मण के साथ शूद्र के लिये निर्धारित शपथविधि का ही अनुसरण किया जाना चाहिये ।[750]

इस प्रकार शपथ की इस व्यवस्थित प्रक्रिया में यही मूल भावना निहित थी कि साक्षी सत्य का अनुसरण कर सत्य प्रमाण ही सभासदों के सम्मुख रखें । आधुनिक समय की न्यायपालिका में शपथ व्यवस्था को प्राचीन न्यायिक प्रक्रिया से की लिया गया है । इससे प्राचीन न्यायिक प्रक्रिया की उपयोगिता सिद्ध होती है । भारतीय साक्ष्य अधिनियम में भी साक्षी द्वारा प्रमाण दिये जाने से पूर्व शपथ लिये जाने आवश्यक माना गया है- **धारा 138** के अंतर्गत मुख्यपरीक्षा, प्रतिपरीक्षा और पुनःपरीक्षा का क्या क्रम होगा, यह बताया गया है । सबसे पहले मुख्यपरीक्षा उसके पश्चात् प्रतिपरीक्षा और उसके पश्चात् पुनःपरीक्षा होती है । यह तीनो परीक्षाएं, परीक्षा के अंतर्गत आती है । मुख्यपरीक्षा में साक्षी को न्यायालय में पहले शपथ दिलाई जाती है, उसका नाम-पता लिखा जाता है और उस साक्षी से सारवान तथ्यों की जानकारी हासिल की जाती है । प्रतिपरीक्षा विपक्षी का अधिकार है ।[751] परन्तु मृत्यु कालीन घोषणा के लिए किसी शपथ की आवश्यकता नहीं होती है । मृत्यु कालीन कथन के सम्बंध में विधि यह मानती है कि मृत्यु के निकट व्यक्ति की हमेषा सत्य ही बोलता है। यह प्रष्न उत्तर के रूप में लिखे जाते हैं ।[752]

---

[748] मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति २/७३

[749] सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः । गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ नारदस्मृति ४/१९९

[750] गोरक्षकान् वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान् । प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ मनुस्मृति ८/१०२ बृहस्पतिस्मृति ९/३५-३८

[751] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा १३८

[752] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा ३२ (१)

5.8 साक्षी को प्रश्न-प्रतिप्रश्न/परीक्षा करना-

सभा में न्यायाधीश द्वारा वादी एवं प्रतिवादी के समक्ष उपस्थित साक्षियों को सान्त्वना देते हुए प्रश्न किया जाता था- कि इस व्यवहार के विषय में प्रत्यक्ष अथवा एकान्त में जो तुम जानते हो वह सब सत्यरूप में कहो, तुम्हारा प्रमाण ही इस मामले में प्रमाण है, सत्य-असत्य तुम्हारे ही वचनों पर निर्भर है।[753] इस प्रकार कहने से साक्षी प्रोत्साहित होता था। साक्षियों की परीक्षा दो तरह से की जाती थी- १, न्यायाधीश द्वारा साक्षियों से प्रश्न-प्रतिप्रश्न करते हुए साक्षियों द्वारा दिये गये उत्तरों से तथा इन प्रश्नों का उत्तर दिये जाते समय साक्षियों में होने वाले अकस्मात् हावभाव परिवर्तन के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से। २. विपक्ष द्वारा साक्षियों पर लगाये आरोप की जांच पडताल से। अर्थात् न्यायालय में प्रमाण देने के लिये जब साक्षी प्रस्तुत होता था तब विपक्ष द्वारा पक्ष के साक्षी पर अक्षमतावाला दोष लगाया जा सकता था। तदनन्तर विपक्ष के आरोपों के आधार पर पक्ष के साक्षी का परीक्षण किया जाता था। किन्तु समुचित परीक्षण के उपरान्त यदि विपक्ष का यह आरोप मिथ्या साबित होता था तो उसको अर्थदण्ड से दण्डित किया जाता था।[754]

इस परीक्षण के माध्यम से प्रमाण में झूठ बोलने वाले बालक, वृद्ध, रोगी, अस्थिर मनवालों की अस्थिर बातों को न्यायाधीश द्वारा पता लगाये जाने का प्रयास किया जाता था। लेकिन साहस, चोरी, स्त्रीसंग्रहण, वाक्पारुष्य एवं दण्डपारुष्य जैसे व्यवहारों में साक्षियों की परीक्षा नहीं ली जाती थी।[755]

भारतीय साक्ष्य अधिनियम में भी साक्षी की प्रश्न-प्रतिप्रश्न पूछकर परीक्षा किये जाने का विधान किया गया है- **धारा 135** के अनुसार साक्षीगण के पेशकरण और उनकी परीक्षा का क्रम सिविल और दण्ड प्रक्रिया से संबंधित विधि और पद्धति द्वारा तथा ऐसी किसी विधि के अभाव में न्यायालय के विवेक से विनियमित होगा। सामान्यतः सभी दाण्डिक मामलों में अभियोजन (वादी) अपना प्रमाण प्रारंभ करता है और अभियोजन का प्रमाण पूर्ण हो जाने के बाद आवश्यक होने पर अभियुक्त परीक्षण किया जाता है और अभियुक्त यदि प्रतिरक्षा प्रमाण देना प्रकट करता है तब प्रतिरक्षा प्रमाण लिया जाता हैं यह प्रक्रिया सभी प्रकार के दाण्डिक मामले चाहे वे सेशन न्यायालय द्वारा विचारणीय हो या मजिस्टेट के न्यायालय द्वारा वारंट मामलों के रूप में, संमन मामलों के रूप में या संक्षिप्त विचारण प्रक्रिया द्वारा विचारणीय हो में समान रूप से लागू होते हैं। प्रमाण का क्रम- मुख्य परीक्षा, प्रतिपरीक्षा, तथा पुनःपरीक्षा और उनका क्रम। धारा **धारा 137** गवाहों की परीक्षा- गवाहों की परीक्षा तीन प्रकार से होती है, १. मुख्य परीक्षा, २. प्रति परीक्षा एवं ३. पुनः परीक्षा। १. मुख्य परीक्षा- जब किसी साक्षी की परीक्षा उस पक्षकार द्वारा की जाती है जिसने उसे बुलाया है तो ऐसी परीक्षा मुख्य परीक्षा कहलाती है। गवाह से यह पूछा जाता है कि आप इस घटना के बारे

---

[753] सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसंनिधौ। प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनानेन सान्त्वयन्॥
यद्व्योरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिंश्चेष्टितं मिथः। तद्ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता॥ मनुस्मृति ८/७९-८०

[754] कात्यायनस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका, पृ. ८३

[755] बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा। जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा॥
साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च। वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः॥ मनुस्मृति ८/७१-७२

में क्या जानते हैं ? घटना के समय आप ने क्या देखा? आपने क्या सुना? इस तरह के प्रश्न किये जाते हैं। २. प्रतिपरीक्षा- जब किसी गवाह की परीक्षा दूसरे पक्ष द्वारा की जाती है तो प्रतिपरीक्षा कहलाती है। जिसे जिरह करना कहते हैं। इसमें विपक्षी द्वारा ऐसे प्रश्न पूछे जाते हैं जो गवाह की विश्वसनीयता को खंडित करते हैं। यहाँ तक की सूचक प्रश्न भी पूछे जाते हैं। ३. पुनःपरीक्षा- जब किसी गवाह को दुबारा गवाही के लिए बुलाया जाता है तो यह पुनःपरीक्षा है। पुनःपरीक्षा में भी मुख्यपरीक्षा और प्रतिपरीक्षा होगी। पुनःपरीक्षा किसी बात के स्पष्टीकरण के लिए की जाती है। धारा १३८, परीक्षाओं का क्रम- इस धारा के अंतर्गत मुख्यपरीक्षा, प्रतिपरीक्षा और पुनःपरीक्षा का क्या क्रम होगा, यह बताया गया है। सबसे पहले मुख्यपरीक्षा उसके पश्चात् प्रतिपरीक्षा और उसके पश्चात् पुनःपरीक्षा होती है। यह तीनो परीक्षाएं, परीक्षा के अंतर्गत आती है। मुख्यपरीक्षा में साक्षी को न्यायालय में पहले शपथ दिलाई जाती है, उसका नाम-पता लिखा जाता है और उस साक्षी से सारवान तथ्यों की जानकारी हासिल की जाती है। प्रतिपरीक्षा विपक्षी का अधिकार है। जिसे नार्टन ने ''दोधारी तलवार'' बताया है तथा प्रो. विग्मोर ने ''तथ्य की खोज का इंजन'' बताया है। प्रतिपरीक्षा न करने का अपवाद अर्थात निम्न परिस्थितियों में प्रतिपरीक्षा करना अनिवार्य नहीं है- (१.) जब साक्षी को पहले ही सूचना है। (२.) जब कहानी झूठी हो। (३.) जब नम्रता दर्शाया गया हो। (४.) जब अधिवक्ता समय बचाना चाहता हो। (५.) जहाँ कई साक्षी एक ही बिंदु से परीक्षित किये जाते हैं।[756]

परीक्षा और प्रतिपरीक्षा का सुसंगत तथ्यों से संबंधित होना आवश्यक होता है लेकिन पुन: परीक्षा का उन तथ्यों तक सीमित रहना आवश्यक नहीं है जिनका साक्षी ने अपनी मुख्य परीक्षा में प्रमाण दिया है। पुनः परीक्षा उन बातों के स्पष्टीकरण के लिए होती है जो प्रतिपरीक्षण में उत्पन्न हुई और यदि न्यायालय के अनुमति से पुनः परीक्षण में कोई नई बात आती है तो विपक्षी को अतिरिक्त प्रतिपरीक्षण का अधिकार रहता हैं। कभी-कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि प्रतिपरीक्षण के दौरान साक्षी भ्रम में पड़ जाता है तब न्यायालय का यह कर्तव्य है सत्य को सामने लाने के लिए उससे प्रश्न करके स्थिति को स्पष्ट करना चाहिए। तब न्यायालय सत्य को निकालने या प्रकाश में लाने के लिए प्रश्न करती है तो इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। **धारा 165**, सत्य का अन्वेषण करने के लिए जो भी संभावनाएं प्राप्त है, उसका सहारा लेने की न्यायाधीश से सिर्फ आशा ही नहीं की जाती है बल्कि उसका यह कर्तव्य भी है कि उसके उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह साक्षी से ऐसे प्रश्न पूछ सकता है जिन प्रश्नों को पूछे जाने से पक्षकारों के वकीलों ने अनदेखा कर दिया हो या मूलरूप से छोड़ दिया हो।[757]

इस तरह उक्त वैधानिक स्थिति के प्रकाश में विचार करे तो पुनःपरीक्षण का उद्देश्य प्रतिपरीक्षण के दौरान यदि कोई संदेह उत्पन्न हुआ हो तो उसे दूर करना होता है और साक्षी ने प्रतिपरीक्षण के

---

[756] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा १३५-१३८

[757] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा १६५

दौरान जो तथ्य बतलाये है उनके बारे में उसका स्पष्टीकरण लेना होता है ताकि भ्रम की स्थिति न रहे । धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था में न्यायाधीश द्वारा पूछे गये प्रश्नों की प्रकृति पर प्रकाश नहीं डाला गया है जबकि भारतीय साक्ष्य अधिनियम में धारा 141 से 152 तक विस्तार से इन प्रश्नों की प्रकृति पर चर्चा की गई है ।

5.9 कूटसाक्षी-

कूट प्रमाण दिये जाने के पीछे कुछ कारण अवश्य होते थे जिनके चलते साक्षी द्वारा कूट प्रमाण दिये जाते थे । मनु के अनुसार साक्षी लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध तथा अज्ञानतावश बालभाव से कूट प्रमाण देता है ।[758] इसलिए न्यायालय में साक्ष्यार्थ उपस्थित साक्षी के प्रमाण को पूर्ण परीक्षण के उपरान्त ही स्वीकार किया जाता था । यह परीक्षण हावभाव, मनोवैज्ञानिक आदि आधार पर किया जाता था ।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम में इन उपरोक्त आधारों पर अपने प्रमाण में परिवर्तन करने वालों को पक्षविरोधी साक्षी माना है- **धारा 154**, पक्षद्रोही साक्षी वह साक्षी है जो सच नहीं बताना चाहता अथवा दूसरे पक्ष के समर्थन में अपनी बात कहता है । (पक्षद्रोही का अर्थ– वह साक्षी है जो अपने पूर्ववर्ती कथन से हट रहा है अथवा न्यायालय को सच बताने का इच्छुक नहीं है ।) आशीष बाथम बनाम मध्य प्रदेश राज्य (2002) के मामले में यह कहा गया कि पक्षद्रोही साक्षी के प्रमाण को निरस्त नहीं किया जा सकता है । पक्षकार उसके उस बयान का लाभ ले सकते हैं जो मामले के समर्थन के लिए उपयोगी है । लेकिन सावधानी और सतर्कता आवश्यक है । मिथ्या उत्तर होने पर कार्यवाही- (१) जो साक्षी गलत उत्तर देता है उसे अभियोजित किया जा सकता है । (२) यदि गवाह से पूछा जाता है कि क्या किसी अपराध के लिए उसे सजा मिली है और वह इसको मना कर देता है तो उसके पूर्व दोषसिद्धि का प्रमाण दिया जा सकता है । (३) यदि गवाह से यह पूछा जाता है कि जिसके विरुद्ध वह गवाही देने आया है, क्या उसके परिवार से कोई कुल बैर नहीं है ? गवाह उत्तर देता है कि कोई दुश्मनी नहीं है तब इस बात का प्रमाण दिया जा सकेगा कि उसकी दुश्मनी है । यह गवाह की विश्वसनीयता को खंडित करने वाला है । 2006 के संशोधन द्वारा धारा 154 में एक उपखंड जोड़ा गया है जिसके अनुसार पक्षद्रोही साक्षी के प्रमाण के उतने अंश का प्रयोग किया जा सकता है जितना अंश अभियोजन का समर्थन करता है ।

- **कूट साक्षी के हावभाव का परीक्षण-**

साक्षी के द्वारा जब शपथ के उपरान्त प्रमाण दिया जाता था तब प्राड्विवाक का कर्तव्य बनता था कि वह साक्षी के हाव-भाव, आचरण एवं अन्य गतिविधियों को पूर्ण सर्तकता के साथ देखे । इससे यह आभास होता है कि हमारे धर्मशास्त्रकार प्रमाण की स्थिति को लेकर हर स्तर पर सतर्क थे

[758] लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तथैव च । अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥ मनुस्मृति ८/११८

। ऐसे में इनका विचार था कि जब साक्षी के द्वारा असत्य प्रमाण दिया जाता है तब उसके शारीरिक हाव-भाव में असामान्य परिवर्तन दिखाई पडते हैं। जैसे[759]-

१. दोष के बिना भी अस्वस्थ की तरह व्यवहार करना।

२. एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना।

३. बनावटी खांसना।

४. जोर से सांस छोड़ना।

५. पैरों से भूमि को खोदना।

६. बिना कारण बाहु एवं वस्त्र को हिलाना।

७. चेहरे का रंग फीका पड़ जाना।

८. ललाट पर पसीने आ जाना।

९. कण्ठ सूख जाना।

१०. इधर-ऊधर तिर्यक् भाव से देखना।

११. अल्प प्रश्न पर ज्यादा बोलना।

इत्यादि भावभंगिमा से युक्त होकर प्रमाण देने वाले साक्षी को कूट साक्षी कहा जाता था। मनु एवं बृहस्पति का मत है कि प्राड्विवाक को साक्षी के आकार, संकेत, चेष्टा, नेत्र-मुखविकार, बातचीत का ढंग, शरीरांगों की गति आदि के द्वारा उसके भावों को जानना चाहिये।[760]

परन्तु मिताक्षरा ने इन सबके विपरीत इन उपर्युक्त लक्षणों से युक्त व्यक्ति को कूट साक्षी नहीं माना और दो तर्क दिये- प्रथम, यह हो सकता है कि कोई साक्षी जो पहली बार न्यायालय में उपस्थित होकर सबके सामने प्रमाण दे रहा है उसमें घबराहट के कारण ये उपर्युक्त लक्षण प्रकट हो जाये और वह कूट साक्षी के समान व्यवहार करने लगे। पर ऐसे में उसे कूट साक्षी नहीं समझा जाना चाहिये। दूसरा, यह संभव है कि यदि साक्षी पेशे से ही कूट एवं चालाक है तो उसमें उपर्युक्त लक्षण प्रकट ही

---

[759] यस्त्वात्मदोषभिन्नत्वादस्वस्थ इव लक्ष्यते। स्थानात्स्थानान्तरं गच्छेदेकैकं चोपधावति॥
कासत्यनिभृतोऽकस्मादभीक्ष्णं निश्वसत्यपि। भूमिं लिखति पादाभ्यां बाहु वासो धुनोति च॥
भिद्यते मुखवर्णोऽस्य ललाटं स्विद्यते तथा। शोषमागच्छतश्चोष्ठावूर्ध्वं तिर्यक्च वीक्षते॥
त्वरमाण इवाबद्धमपृष्टो बहु भाषते। कूटसाक्षी स विज्ञेयस्तं पापं विनयेन्नृपः॥ नारदस्मृति ४/१९३-१९६
देशाद्देशान्तरं याति सृक्किणी परिलेढि च। ललाटं स्विद्यते चास्य मुखं वैवर्ण्यमेति च॥
परिशुष्यत्स्खलद्वाक्यो विरुद्धं बहु भाषिते। वाक्चक्षुः पूजयति नो तथौष्ठौ निर्भुजत्यपि॥
स्वभावाद्विकृतिं गच्छेन्मनोवाक्कायकर्मभिः। अभियोगेऽथ साक्ष्ये वा दुष्टः स परिकीर्तितः॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/१३-१५
स्वभावविकृतौ मुखवर्णविनाशेऽसम्बद्धप्रलापे च कूटसाक्षिणं विद्यात्॥ विष्णु धर्मसूत्र ८/१८
कात्यायन स्मृति ३८६
शंखलिखितस्मृति, व्यवहारप्रकाश, पृ.१२४

[760] बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम्। स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च॥ मनुस्मृति ८/२५
उपस्थिता: परीक्ष्या: स्यु स्वरवर्णेङ्गितादिभि। बृहस्पतिस्मृति ५/४३

नहीं होगें ।[761] अत: किसी भी साक्षी की कूटता का परीक्षण केवल उसके भावभंगिमा के आधार पर नहीं किया जा सकता था, बल्कि अन्य संबंधित पक्षों को भी देखा जाता था जो उसे कूट साक्षी बनाते थे ।

इन कूट साक्षियों का पता कैसे लगाया जाये? इस पर कौटिल्य का मत है सत्री जैसे गुप्तचर को भेष बदलकर अभियुक्त का रूप धारण करके सन्देहस्पद साक्षी को विभिन्न प्रलोभन देकर असत्यभाषण देने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए । तदनन्तर न्यायालय में असत्य प्रमाण या झूठी गवाही देते समय उसे पकड लिया जाना चाहिये । ऐसे कूट साक्षियों को दण्डस्वरूप देश से निर्वासित कर देना चाहिए ।[762] भारतीय साक्ष्य अधिनियम में भी ऐसे कूट साक्षियों/पक्षविरोधी साक्षियों का पता लगाने पर विचार किया गया है । **धारा 155,** साक्षी की विश्वसनीयता पर अधिक्षेप कौन कर सकता है? (१.) प्रतिपक्षी (२.) वह पक्षकार जिसने ऐसे साक्षी को बुलाया है, न्यायालय की अनुमति से प्रतिपरीक्षा कर सकेगा । तरीका- किस तरह से विश्वसनीयता को खंडित किया जाएगा- (१.) उन गवाहों को पेश करके जो यह कहते हैं कि अपने ज्ञान के आधार पर ऐसे साक्षी को विश्वसनीय नहीं मानते । (२.) यह साबित करके कि गवाह को रिश्वत दिया गया है अथवा रिश्वत की प्रस्थापना को उसने स्वीकार कर लिया है अथवा उसे प्रमाण देने के लिए कोई अन्य कष्ट या उत्प्रेरणा दी गयी है । (३.) उसके प्रमाण के किसी ऐसे भाग से जिसका खण्डन किया जा सकता है, असंगत पिछले कथनों को साबित करने के द्वारा ।[763]

- **कूटसाक्षी को दण्ड**

मनु के अनुसार जिन साक्षियों के द्वारा लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध तथा अज्ञानतावश प्रमाण दिया जाता था उन्हें क्रमश: १००० पण, प्रथम साहस, दोगुना मध्यमसाहस, चारगुना प्रथमसाहस, दसगुना प्रथमसाहस, तीनगुना मध्यमसाहस, २०० पण तथा १०० पण का दण्ड दिया जाना चाहिये ।[764] ऐसे साक्षियों के प्रमाण को स्वीकार नहीं करना चाहिये । साथ ही मनु ने लोभ, मोह, भय, मित्रता आदि के कारण प्रमाण देने वालों के अतिरिक्त उन साक्षियों को भी कूट साक्षी माना जिनके द्वारा प्रमाण दिये जाने के उपरान्त एक सप्ताह के अन्दर उनके साथ कोई घटना घटित हो जाये, जैसे- किसी बिमारी से ग्रसित हो जाना, घर में आगजनी या किसी संबंधी की मृत्यु । ऐसे

---

[761] मिताक्षरा, याज्ञवल्क्यस्मृति २/१५

[762] कृतकाभियुक्तो वा कूटसाक्षिणोअभिज्ञातानर्थवैपुल्येनारभेत ॥ ते चेत्तथा कुर्युः कूटसाक्षिण इति प्रवास्येरन् ॥ कौटिल्य ४/४

[763] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा १५५

[764] एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् । तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥
लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् । भयाद्द्वौ मध्यमौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥
कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् । अज्ञानाद्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥ मनुस्मृति ८/११९-१२१

साक्षी को कूट साक्षी मानते हुए दण्डस्वरूप उनको विवादित धन का दोगुना धन सम्बन्धित पक्ष को देना चाहिये और साथ ही उसे राजा द्वारा भी दण्डित किया जाना चाहिये ।[765] गौतम ने ऐसे साक्षियों को कूटसाक्षी माना है जो जानते हुए भी कुछ नहीं बोलते या अन्यथा बोलते हैं, इन कूट साक्षियों को दण्डस्वरूप राज्य से निर्वासित कर देना चाहिए ।[766] वशिष्ठ के अनुसार कूट साक्षी को नंगा करके उसके सिर के बाल मुडवाकर, भूख एवं प्यास से पीडित करके, अन्धा करके, हाथ में खप्पर देकर उसे अपने ही शत्रु के घर से भोजन मांगने के लिये भेजना चाहिये ।[767] विष्णु ने भी प्रमाण प्रक्रिया में तथ्यों को जानते हुये भी चुप रहने वाले साक्षी को कूट साक्षी मानते हुये झूठी गवाही के निर्धारित दण्ड का भागीदार माना है और उसे वर्णानुसार दण्ड दिये जाने का विधान किया है ।[768] और साथ ही झूठी गवाही देने वाले साक्षी की समस्त सम्पत्ति का हरण दण्डस्वरूप कर लेना चाहिए ।[769]

ऐसे कूटसाक्षियों को नियंत्रित किया जाता था और उनके असत्य कथनों पर विश्वास न कर अनेक प्रश्नों के माध्यम से उनकी परीक्षा ली जाती थी । किसी कारणवश जब साक्षी ज्ञात वस्तु की सत्यता को छिपाता जाता था या वादी धन आदि का लोभ देकर साक्षी रखता था या प्रतिवादी के साक्षियों को कुछ लालच देकर अपने स्वार्थ में करता था तो उस वादी और कूट साक्षी दोनों को पृथक्-पृथक दण्डित करते हुए विवाद का दोगुना दण्ड दिया जाता था । यदि कूट साक्षी ब्राह्मण होता था तो उसे दण्ड न देकर राष्ट्र से निष्कासित कर दिया जाता था ।[770] गौतम ने असत्यभाषी सभी वर्णों के कूट साक्षियों को राज्यनिर्वासन दण्ड के साथ राजा द्वारा दण्डित किये जाने का भी विधान किया है ।[771]

कूट साक्ष्यों से निर्णीत व्यवहारपदों पर पुनर्विचार- जब यह पता चल जाता था कि किसी विवाद की जय या पराजय कूट साक्षियों के साक्ष्यों से हुई है तब ऐसे विवादों पर पुन: न्याय प्रक्रिया दोहराई जाती थी तथा प्राड्विवाकों के द्वारा पुन: वाद-विवाद सुनते हुए पुन: निर्णय लिया जाता था ।[772]

---

[765] यस्य दृश्येत सप्ताहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः । रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः ॥ मनुस्मृति ८/१०८

[766] गौतम धर्मसूत्र २/४/६,२३

[767] वशिष्ठ धर्मसूत्र १६/३३

[768] विष्णु धर्मसूत्र ८/३७

[769] विष्णु धर्मसूत्र ५/७९

[770] न ददाति हि यः साक्ष्यं जानन्नपि नराधमः । स कूटसाक्षिणां पापैस्तुल्यो दण्डेन चैव हि ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/७७
पृथक्पृथग्दण्डनीयाः कूटकृत्साक्षिणस्तथा । विवादाद्द्विगुणं दण्डं विवास्यो ब्राह्मणः स्मृतः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/८१
कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन् वर्णान् धार्मिको नृपः । प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ मनुस्मृति ८/१२३
कौटिल्य ४/४/१

[771] मिथ्यावचने याप्यो दण्डश्च साक्षी । गौतम धर्मसूत्र २/४/२३

[772] यस्मिन् यस्मिन् विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत् । तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥ मनुस्मृति ८/११७
विष्णु धर्मसूत्र ८/४०

5.10 परिस्थितिविशेष में कूट साक्ष्यों को मान्यता-

यहां पर यह कथन स्वयं में विरोधाभासपूर्ण लगता है कि कुछ परिस्थितियों में मिथ्या साक्ष्यों को भी स्वीकार किया गया था। मनु के अनुसार जो व्यक्ति विषय की यथार्थता को जानते हुए भी धर्मवश अन्यथा बोलता है तो उसे दोषी नहीं मानना चाहिए और ऐसे साक्षियों की वाणी को दैव वाणी समझा जाना चाहिए।[773]

परन्तु इन परिस्थितियों में एक शर्त निर्धारित की गई थी कि उन्हीं विवादों में असत्य प्रमाण को स्वीकार किया जायेगा जो किसी की जीवन रक्षा के लिये बोला गया हो। जिस पर गौतम का मत है कि किसी व्यक्ति के जीवन की सुरक्षा हेतु दिये जाने वाले मिथ्या प्रमाण में कोई दोष नहीं है।[774] यह मिथ्या प्रमाण उस सत्य से अधिक श्रेयस्कर है जिससे (सत्य) किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र का वध हो जाये।[775] परन्तु इसके द्वारा किसी दुष्ट व्यक्ति के जीवन की रक्षा नहीं की जानी चाहिए।[776] वशिष्ठ ने पांच ऐसे विषयों का निर्धारण किया है जिसमें असत्यभाषण को दोषकर्म नहीं माना गया है वे पांच विषय- विवाह, रतिसमय, प्राण रक्षा के लिये, अधिक मात्रा में धन की हानि के लिए तथा ब्राह्मण की सुरक्षा के लिए।[777] मनु ने भी इस प्रकार का निर्देश किया है।[778]

परन्तु धर्मशास्त्रकारों ने इस प्रयोग को (अर्थात् मिथ्याप्रमाण देकर किसी के जीवन को बचाना) पाप कर्म माना है और इस पाप के शुद्धीकरण के लिये प्रायश्चित का विधान किया गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण के मिथ्याभाषी साक्षियों के द्वारा देवी सरस्वती को कूष्माण्डमन्त्रों के साथ अग्नि में घी या चावल की आहुति दी जानी चाहिये तथा शूद्र साक्षी के द्वारा एक दिन में दस गायों को चारा खिलाना जाना चाहिये।[779]

---

[773] तद्वदन् धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः। न स्वर्गाद्व्यवते लोकाद्दैवीं वाचं वदन्ति ताम्॥ मनुस्मृति ८/१०३

[774] नानृतवचने दोषो जीवनं चेत्तदधीनम्। गौतम धर्मसूत्र २/४/२४

[775] शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्र तोक्तौ भवेद्वधः। तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते॥ मनुस्मृति ८/१०४
वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्। तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/८३
वशिष्ठ धर्मसूत्र १६/२३
विष्णु धर्मसूत्र ८/१५-१७

[776] न तु पापीयसो जीवनम्। गौतम धर्मसूत्र २/४/२५

[777] वशिष्ठ धर्मसूत्र १६/३६

[778] मनुस्मृति ८/११२

[779] वाग्गैवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम्। अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम्॥
कूष्माण्डैर्वापि जुहुयाद्घृतमग्नौ यथाविधि। उदित्यृचा वा वारुण्या तृचेनाब्दैवतेन वा॥ मनुस्मृति ८/१०५-१०६
वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्। तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/८३
विष्णु ८/१६-१७

5.11 साक्षित्व स्वीकार कर प्रमाण न देना-

धर्मशास्त्रकारों ने न्यायालय में प्रमाण की महत्ता के साथ ही इसकी बारिकीयों पर भी अधिक जोर दिया था और यह नियम निर्मित किया कि यदि कोई व्यक्ति किसी विवाद का साक्षी है तो उसे विवाद के समय होने वाली न्यायिक प्रक्रिया में उपस्थित होना पडेगा । अगर वह बिना किसी विशेष कारण के न्यायालय में उपस्थित नहीं होगा और प्रमाण नहीं देगा तो उसे दण्डित किया जायेगा ।

यह नियम सभी साक्षियों पर लागू होता था चाहे वह कृत साक्षी हो या अकृत साक्षी । अकृत साक्षी के लिये यह कार्य बाध्यता न होकर कर्तव्य होता था । वशिष्ठ धर्मसूत्र[780] के अनुसार न्यायालय के द्वारा आहूत न किये जाने पर भी अकृत साक्षी को प्रमाण के लिये न्यायालय में जाना चाहिये अन्यथा उसे दण्डित किया जायेगा । कात्यायन के मतानुसार साक्षी को बिना किसी कारण के वाक्पारुष्य एवं छल से संबंधित विवादों में साक्षी होते हुये भी प्रमाण देने के लिये उपस्थित न होने पर ३०० पणों से दण्डित किया जायेगा ।[781] कात्यायन के अनुसार विवाद का समस्त जानकर होते हुए भी बिना किसी समर्थ कारण के (जैसे-रोग या विपत्तिग्रस्त हुये बिना) न्यायालय में गवाही नहीं देने वाले को कूट साक्षी मानते हुये विवाद के धन को दण्डस्वरूप तथा उसका दशांश राजा को देना चाहिये ।[782]

इस प्रकार मनु का भी विचार है कि यदि कोई साक्षी ऋणादान में हुये ऋण व्यवहार के बारे में तीन पक्ष के अन्दर प्रमाण नहीं देता है तो उसे सम्बन्धित ऋणव्यवहार के धन के बराबर धन ऋणदाता को और उसका १० वाँ भाग राजा को दण्ड स्वरूप देना चाहिये ।[783] याज्ञवल्क्य भी मनु के इस विचार से सहमत है, ऐसे साक्षी को कूट साक्षी के समान दण्ड का भागी मानते हैं ।[784] साथ ही याज्ञवल्क्य का यह भी मत है विवाद को जानते हुए साक्षित्व स्वीकारने के बाद उचित अवसर या व्यवहार प्रक्रिया में साक्षीत्व न स्वीकारें तो उस साक्षी को पराजित होने वाले वादी या प्रतिवादी के दण्ड का आठ गुना दण्ड दिया जाना चाहिए । यदि वह साक्षी ब्राह्मण हो तो उसे राष्ट्र से निष्कासित कर देना चाहिए ।[785] नारद और बृहस्पति ने ऐसे साक्षियों को कूट साक्षी से भी अधिक कठोर दण्ड देने का निर्देश किया है ।[786]

---

[780] वशिष्ठ धर्मसूत्र, धर्मकोश, पृ.२४४

[781] कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, पृ. ३४२

[782] कात्यायनस्मृति ४०५-४०६

[783] त्रिपक्षादब्रुवन् साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः । तदृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वतः ॥ मनुस्मृति ८/१०७

[784] द्वैधे बहूनां वचनं समेषु गुणिनां तथा । गुणिद्वैधे तु वचनं ग्राह्यं ये गुणवत्तमाः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/७८, १७७

[785] यः साक्ष्यं श्राविताऽन्येभ्यो निह्नुते तत्तमोवृतः । स दाप्योऽष्टगुणं दण्डं ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/८२

[786] नारदस्मृति ४/१८७

बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश, पृ. ३२८

5.12 विवादयुक्त साक्ष्यों में उचित प्रमाण की ग्रहिताः-

प्रमाण में ऐसी स्थिति भी आ सकती है जब दोनों पक्षों के द्वारा प्रस्तुत प्रमाण परस्पर विरोधी होते हो और उनकी बातों में आंशिक यथार्थता एवं आंशिक अयथार्थता होती हो । तब उनमें किस प्रमाण को स्वीकार किया जाये? किस अंश को स्वीकारा जाये? उसकी स्वीकृति का आधार क्या होना चाहिये? इत्यादि विषयों पर धर्मशास्त्रकारों ने गहन अध्ययन किया और उससे सम्बन्धित नियमों का भी निर्माण किया ।

नारद के अनुसार यदि किसी के द्वारा प्रस्तुत प्रमाण में यथार्थता को लेकर संदेह हो जाये या किसी पक्ष/साक्षी के साक्ष्यों में स्थान, समय, आयु, परिमाण आदि के लिये भिन्नता आ जाये तब प्रमाण को मिथ्या मानते हुये अस्वीकार कर देना चाहिए ।[787] क्योंकि साक्ष्यों में हर बार उसके स्थान, काल आदि में परिवर्तन करने से उसमें मिथ्या प्रमाण होने का संदेह उत्पन्न हो जाता था जिससे प्रमाण अविश्वसनीय बन जाता था ।

जहां पर बात हिंसामूलक या अर्थमूलक विवादों की हो तो वहां हिंसामूलक विवादों में आंशिक सत्यता वाले प्रमाण को भी स्वीकार कर लिया जाता था, परन्तु अर्थमूलक विवादों में पूर्ण सत्यता वाले प्रमाण को ही स्वीकार किया जाता था । क्योंकि अर्थमूलक विवादों की प्रकृति स्थिर होती थी ।[788]

परन्तु इन सब दोषों से हीन यह स्थिति उत्पन्न हो जाये कि दोनों पक्षों के द्वारा प्रस्तुत प्रमाण समानरूप से प्रभावशाली हो या दोनों पक्षों के द्वारा एक-दूसरे के साक्ष्यों को मिथ्या घोषित करने का प्रयास किया जाये या किसी प्रमाण के सत्यापन के लिये दोनों पक्षों के द्वारा ही अनेक प्रमाण प्रस्तुत कर दिये जाये, तब इन स्थितियों में क्या किया जाता था? इस पर धर्मशास्त्रकारों के विचार इस प्रकार है-

मनु के अनुसार दोनों पक्षों के द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रमाण में द्वैध होने पर- बहुमत से तथा समान रूप से प्रभावशाली प्रमाण होने पर- साक्षियों के चरित्र/गुण के आधार, गुणियों में विरोध होने पर- ब्राह्मण साक्षी के प्रमाण को अन्ततः स्वीकार किया जायेगा ।[789]

पर नारद ने मनु से भिन्न ब्राह्मण साक्षी के द्वारा प्रस्तुत प्रमाण की अपेक्षा गुणवान् साक्षी के प्रमाण को अधिक महत्त्व दिया और कहा- कि समानरूप से प्रभावशाली साक्ष्यों की प्रस्तुति पर विधि का ज्ञान रखने वाले एवं उच्च स्मरण शक्ति वाले साक्षी के साक्ष्यों को स्वीकार कर विवाद का निर्णय लेना चाहिए ।[790] याज्ञवल्क्य के मतानुसार यदि किसी एक पक्ष के साक्षियों के द्वारा किसी बात को सत्यापित कर दिया जाये तब यदि किसी दूसरे विपरीत पक्ष के साक्षी (जो गुण एवं संख्या में

---

[787] नारदस्मृति ४/२३३

[788] कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, पृ.३४०

[789] तस्माद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये । वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः ॥ मनुस्मृति ८/१७३ विष्णु धर्मसूत्र ८/३९

[790] नारदस्मृति ४/२२९

पूर्वपक्ष से दुगुने है) के द्वारा उस पूर्व पक्ष के द्वारा कथित बात को असत्य घोषित कर दिया जाये तो उस पूर्व पक्ष के साक्षियों को मिथ्या समझते हुये परपक्ष के प्रमाण को स्वीकार किया जाना चाहिये ।[791] कौटिल्य का विचार है कि साक्षियों के द्वारा प्रस्तुत साक्ष्यों में परस्पर विरोध होने पर उनमें से चरित्रवान्, विश्वसनीय एवं सम्मानित साक्षी के साक्ष्यों को स्वीकार किया जाना चाहिये ।[792] बोधायन में भी ऐसी ही व्यवस्था पायी गयी है ।[793]

नारद स्मृति ने विवादित साक्ष्यों में किस प्रमाण को लिया जाए इसकी विवेचना की है-

१. जब दोनों पक्षों का व्यवहार विषय पर विवाद हो जाए अर्थात् दोनों के द्वारा प्रदत्त प्रमाण परस्पर विरोधी हों तब पूर्व पक्ष का ही प्रमाण ग्रहीत किया जाए ।[794]

२. लेकिन जिन विवादों में वादी द्वारा दिया गया प्रमाण दोषयुक्त कारण से हीन हो जाए तब प्रतिवादी के साक्षी से प्रश्न करने चाहिए ।[795]

३. विपक्ष द्वारा नियुक्त किए गए साक्षी से गुप्त वार्तालाप नहीं करना चाहिए, इससे उस पक्ष का प्रमाण हीन हो जाता है ।[796]

४. जिस पर व्यवहार क्रिया (मुकदमा) चल रही हो, जो आत्मीय - सहायक - बैरी हो, जो अन्य व्यवहार में मिथ्या प्रमाण देने से मिथ्यावादी प्रमाणित हो चुका हो आदि के द्वारा प्रदत्त साक्ष्यों को भी व्यवहार में साक्षी के रूप में ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए ।[797]

इस प्रकार धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था में प्रमाण की ग्रहिता पर न्यायाधीश का कोई अधिकार नहीं था जबकि आधुनिक समय की प्रमाण व्यवस्था में इसका निर्धारण न्यायाधीश द्वारा किया जाता है। धारा 136. प्रमाण की ग्राह्यता का निर्णय- कौन सा प्रमाण ग्राह्य होगा या कौन सा प्रमाण ग्राह्य नहीं होगा, इस बात का निर्णय करने का अधिकार केवल न्यायाधीश को है। केवल सुसंगत तथ्य ही ग्राह्य होते हैं लेकिन कौन से तथ्य सुसंगत और ग्राह्य है, यह न्यायाधीश सुनिश्चित करता है। जब कोई तथ्य दूसरे तथ्य पर निर्भर हो तो ऐसी स्थिति में यह अधिकार न्यायालय का है कि वह प्रमाण प्रस्तुत करने का क्रम नियंत्रित करे। मृत्युकालीन कथन- मृत्युकालीन कथन की ग्राह्यता इस बात पर निर्भर करती है कि पहले मृत्यु का प्रमाण दिया जाये। द्वितीयक प्रमाण- द्वितीयक प्रमाण को ग्राह्य

---

[791] उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये यद्यन्ये गुणवत्तमाः । द्विगुणा वान्यथा ब्रूयुः कूटाः स्युः पूर्वसाक्षिणः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/८०

[792] साक्षिभेदे यतो बहवः शुचयोअनुमता वा ततो नियच्छेयुः, मध्यं वा गृह्णीयुः ॥ कौटिल्य ३/११

[793] स्मृतौ प्रधानतः प्रतिपत्तिः । बोधायन धर्मसूत्र १/१०/१९/१७

[794] द्वयोर्विवदतोरर्थे द्वयोः सत्सु च साक्षिषु । पूर्वपक्षो भवेद्यस्य भवेयुस्तस्य साक्षिणः ॥ नारदस्मृति ४/१६३

[795] आधर्यं पूर्वपक्षस्य यस्मिन्नर्थे वशाद्ध्रुवेत् । प्रष्टव्याः साक्षिणस्तत्र विवादे प्रतिवादिनः ॥ नारदस्मृति ४/१६४

[796] न परेण समुद्दिष्टमुपेयात्साक्षिणं रहः । भेदयेत्तं न चान्येन हीयेतैवं समाचरन् ॥ नारदस्मृति ४/१६५

[797] नार्थसंबन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः । न दृष्टदोषाः प्रष्टव्याश्च साक्षीण प्रतिदूषिताः ॥ नारदस्मृति ४/१७७

बनाने के लिए पहले इस बात का प्रमाण आवश्यक है कि यह साबित किया जाये कि मूल दस्तावेज गायब हो गया है, नष्ट हो गया है अथवा धारा 65 की परिस्थितियों का प्रमाण दिया जाये। सुसंगत होते हुए भी ग्राह्य न होना- कुछ ऐसे तथ्य हैं जो तार्किक रूप से सुसंगत होते हैं परन्तु अपवर्जन के अंतर्गत आने के कारण ग्राह्य नहीं होंगे। जैसे- वैवाहिक काल के दौरान की बातें या मुवक्किल द्वारा वकील को बताये गये तथ्य।

निष्कर्षत: साक्षी प्रमाण की धर्मशास्त्रीय न्यायव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका थी। इस बात का ज्ञान साक्षी प्रमाण की सूक्ष्मता के साथ गम्भीरतापूर्ण वर्णन से लगाया जा सकता है जिसमें साक्षी के कृत (वादी एवं प्रतिवादी द्वारा नियुक्त) एवं अकृत (वादी एवं प्रतिवादी द्वारा अनियुक्त) भेदों के साथ साक्षी के गुणों का भी उल्लेख किया गया था। जैसे- शीलवान्, विश्वसनीय, चरित्रवान्, गुणवान्, सत्यभाषित आदि गुणों से साक्षी का युक्त होना। इन गुणों से युक्त साक्षी को ही साक्ष्यार्थ के योग्य माना जाता था। साक्ष्यार्थ के लिये साक्षियों की न्यूनतम एवं अधिकतम संख्या का भी निर्धारण किया गया था। पर इन साक्षियों की संख्या में विवाद की प्रकृति एवं गम्भीरता के अनुसार परिवर्तन भी किया जाता था। अधिक गम्भीर विवादों (जैसे हिंसामूलक) में साक्षी की न्यूनतम संख्या का नियम लागू नहीं होता था वहां पर प्रत्यक्षदृष्टा एक साक्षी को भी स्वीकार किया जाता था। साक्ष्यार्थ के लिये साक्षियों की योग्यताओं एवं अयोग्यताओं पर भी विस्तार से चर्चा की गई थी। ये योग्यताएं एवं अयोग्यताएं साक्षी की स्वाभाविक, मानसिक, शारीरिक एवं आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती थी। यदि विवाद किसी वर्ण, वर्ग, जाति एवं व्यवसाय का होता था तो उनमें उसी वर्ण, वर्ग, जाति एवं व्यवसाय से सम्बन्धित व्यक्ति को ही साक्षी के योग्य माना जाता था। विवादों में साक्षियों पर वर्ण, वर्ग, जाति एवं वृति की समानता का नियम लागू होता था। तथा अयोग्य साक्षियों पर विस्तृत सूची दी गई थी जिसका पूर्णत: पालन करना लगभग असम्भव था परन्तु किञ्चित रूप से स्वीकार किया जाता था। साक्षी को जब साक्ष्यार्थ के योग्य समझा जाता था तब उसे शपथ दिलाया जाता था जिसमें सत्य प्रमाण को देने की प्रेरणा दी जाती थी और सत्य की महत्ता पर प्रकाश भी डाला जाता था। शपथ के उपरान्त यदि साक्षी के द्वारा झूठ बोला जाता था या सत्य को अन्यथा कहा जाता था तो उसे कूट साक्षी मानते हुये दण्डित किया जाता था। इस दण्ड में कठोरता का समावेश किया गया था क्योंकि इन कूट साक्षियों के प्रमाण से किसी निर्दोष पक्ष या विपक्ष को शारीरिक या मानसिक या आर्थिक परेशानियों का सामना करना पडता था जो अन्याय को पैदा करता था। इस अतार्किक अन्याय से न्यायिक व्यवस्था के प्रति अविश्वास पैदा होता था जो कहीं न कहीं राज्य के लिए हानिकारक होता था। अत: इन कूट साक्षियों को कठोर दण्ड देते हुए राज्यनिष्कासन का भी दण्ड दिया जाता था। जब विवाद में दोनों पक्षों के साक्षियों के द्वारा अनेकों प्रभावशाली साक्ष्यों को उपस्थापित किया जाता था तब उनमें गुणों की श्रेष्ठता के आधार पर श्रेष्ठ साक्षियों के प्रमाण को स्वीकार किया जाता था। इस प्रकार साक्षी प्रमाण के सन्दर्भ में विस्तृत विवेचन से धर्मशास्त्रीय न्यायव्यवस्था में साक्षी की महत्वपूर्ण स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है और साथ ही तात्कालिक न्यायव्यवस्था की गम्भीरता को जाना जा सकता है जो उस समय की सुनियोजित न्यायव्यवस्था को उद्द्योषित करता है।

दिव्य प्रमाण

अध्याय - 6

दिव्य प्रमाण

दिव्य प्रमाण को दैविक प्रमाण के अन्तर्गत रखा गया था। जिन विवादों की सिद्धि मानुषी प्रमाण अर्थात् लिखित, भुक्ति एवं साक्षी आदि प्रमाणों से नहीं होती थी, उन विवादों में अंतिम प्रमाण के रूप में जिस प्रमाण को प्रयोग में लाया जाता था उस प्रमाण को दिव्य प्रमाण / शपथ कहा जाता था। जब विवाद का निर्णय मानुषी प्रमाणों के द्वारा संभव नहीं हो पाता था तब ही दिव्य प्रमाण का प्रयोग किया जाता था।[798] अर्थात् ऐसे गांव-नगरादि घटनास्थल जहां व्यक्ति ने अत्यन्त गोपनीयता के साथ साहस जैसे अपराधों को किया हो और यदि वहां पर कोई साक्षी आदि मानुषी प्रमाण उपलब्ध नहीं हो तब उस व्यवहार में दिव्य प्रमाण एवं अलग-अलग शपथ के माध्यम से परीक्षा ली जाती थी।[799]

6.1 दिव्य का आश्रय क्यों-

अन्तिम प्रमाण के रूप में दिव्य का आश्रय लिये जाने के पीछे यह कारण हो सकता है कि- जब अपराधी के द्वारा अपराधिक कार्यों को पूर्ण एवं पूर्व तैयारियों के साथ किया जाता है तब अपराधी द्वारा उसमें हर संभव प्रमाण (साक्ष्य) को भी नष्ट करने का प्रयास किया जाता है। इन साक्ष्यों के अभाव में अपराधी को दण्डित किये बगैर छोडना कहीं-न-कहीं राज्य या न्यायिक व्यवस्था की अक्षमता को प्रस्तुत करना होगा। इसलिए इस विश्वास के साथ अंतिम प्रमाण के रूप में दिव्य प्रमाण का प्रयोग किया जाता था कि यदि कोई अपराधी अपराध करने के बाद भी मानुषी प्रमाणों में छल-कपट करके बच जाता है तो उस अपराधी के अपराध को प्रकट करने में अलौकिक दैवीय शक्तियां अवश्य ही मदद करेगी। इससे जनमानस का विश्वास न्याय/राज्य के प्रति बना रहता था। यह प्रमाण एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी डालता था, क्योंकि मनुष्यों में धार्मिक विश्वास की प्रबलता होने के कारण वह इस प्रमाण के प्रयोग से पहले या मध्य में ही स्वयं के अपराध को स्वीकृति प्रदान कर देता था।

6.2 मानुषी एवं दिव्य प्रमाण दोनों की उपस्थिति में स्वीकृत प्रमाण –

धर्मशास्त्रकारों ने उन परिस्थितियों का भी उल्लेख किया जिनमें मानुषी एवं दिव्य दोनों ही प्रमाणों की उपस्थिति होती थी, ओर साथ ही जिसमें मानुषी प्रमाण विवाद के एकमात्र हिस्से को

---

[798] प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम्। एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/२२

[799] दिवा कृते कार्यविधौ ग्रामेषु नगरेषु वा। संभवे साक्षिणां चैव दिव्या न भवति क्रिया॥ नारदस्मृति २/२९,
यदा साक्षी न विद्येत विवादे वदतां नृणाम्। तदा दिव्यैः परीक्ष्येत शपथैश्च पृथग्विधैः॥ नारदस्मृति ४/२४७
गूढसाहसिकानां तु प्राप्तं दिव्यैः परीक्षणम्॥ कात्यायन २३०

ही प्रमाणित करता था तथा अन्य हिस्सा दिव्य द्वारा प्रमाणित किया जाता था । इन स्थितियों में किस प्रमाण को वरीयता दी जाती थी, इस पर धर्मशास्त्रकारों के विचार निम्नवत् है-

१. जब मानुषी प्रमाण अभियोग के किसी एक अंश को प्रमाणित करता था, तब मानुषी एवं दिव्य प्रमाण में सें मानुषी प्रमाण को प्राथमिकता दी जाती थी ।[800]

२. जहां साक्षी आदि मानुषी प्रमाण उपलब्ध होते थे या संभव होते थे, वहां दिव्य प्रमाण का प्रयोग नहीं किया जाता था ।[801]

३. यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती थी जिसमें मानुषी प्रमाण अभियोग के किसी एक अंश को सिद्ध करता हो और दिव्य प्रमाण सम्पूर्ण निर्णय को ही सिद्ध करता हो, तब राजा द्वारा मानुषी प्रमाण का ही प्रयोग किया जाता था ।[802]

४. यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती थी जिसमें एक पक्ष मानुषी प्रमाण को तथा दूसरा पक्ष दिव्य प्रमाण को स्वीकार करता था, तब राजा द्वारा अन्तिम निर्णय लिया जाता था और मानुष प्रमाण को स्वीकार किया जाता था ।[803]

अत: यह ज्ञात होता है कि धर्मशास्त्रकारों ने दोनों प्रमाणों (मानुषी एवं दिव्य प्रमाण) की उपस्थिति में दिव्य पर मानुषी प्रमाण को वरीयता प्रदान की थी । दिव्य प्रमाण को मानुषी प्रमाण के पूर्ण अभावता में ही स्वीकार किया जाता था । इसका निश्चय अर्थात् विवाद में दिव्य प्रमाण का प्रयोग किये जाने का अन्तिम निर्णय राजा द्वारा ही लिया जाता था ।

6.3 दिव्य प्रमाण-

दिव्य प्रमाण अर्थात् दैवीय शक्तियों की सहायता से सत्य को प्रकट करना । इस प्रमाण का उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में भी देखा जा सकता है । हालांकि वैदिक काल में पूर्ण स्पष्टता के साथ इसका प्रयोग नहीं मिलता है, परन्तु इसका आभास होता है । ऋग्वेद में एक मंत्र है जिसमें उचथ के पुत्र दीर्घतमा ने प्रार्थना की है- कि दस गुनी लकडियों की अग्नि उसे जला न सके (अग्नि दिव्य), वे नदियां जिनमें वह हाथ-पांव बांधकर फेंके जाने पर डूबा न सके (जल दिव्य) ।[804] इस मंत्र में उक्त कथन के आधार पर दिव्य के प्रयोग का संकेत लिया जा सकता है । दिव्य का उल्लेख पंचविश ब्राह्मण में भी

---

800 य़स्मिन् यस्मिन् विवादे तु साक्षिणां नास्तिसम्भव: । साहसेषु विशेषेण तत्र दिव्यानि दापयेत् ॥ पितामहस्मृति, स्मृतिचन्दिका २, पृ. ९५

801 प्रमाणहीनवादे तु निर्देश्या दैविकी क्रिया । बृहस्पति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ. ४१५

802 यद्येकदेशप्राप्तऽपि क्रिया विद्येत मानुषी । सा ग्राह्या न तु पूर्णाऽपि दैविकी वदतां नृणाम् ।। कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.२२९

803 यद्येको मानुषीं ब्रूयादन्यो ब्रूयात्तु दैविकीम् । मानुषीं तत्र गृह्णीयान्न तु दैवीं क्रियां नृप: ॥ कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.२२९

804 मा मामेधो दशतयश्चितो धाक् प्रयद्वां बद्धस्त्मनि खादतिक्षाम् । न मा गरन्नद्यो मातृतमा दासा यदीं सुसमुब्धमवाधु । ऋग्वेद, १/१५८/४-५

मिलता है जहां पर वत्स-मेधातिथि की वार्ता में, मेधातिथि वत्स को शूद्र का पुत्र और अब्राह्मण कहता है, तब वत्स इसका विरोध करता है और कहता है- कि वह ब्राह्मण है । इस कथन को सत्यापित करने के लिए वह अग्नि में कूद जाता है और बिना जले बाहर आता है ।[805] छान्दोग्य उपनिषद् में आरोपित चोरी के अपराध को असत्य सिद्ध करने के लिये तप्त कुल्हाडी पकडने की चर्चा मिलती है ।[806] पी.वी. काणे ने ऋग्वेद में वर्णित दीर्घतमा विवरण को दिव्य नहीं माना तथा पंचविशब्राह्मण एवं छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित कथनों को क्रमश: पहला एवं दूसरा प्राचीनतम दिव्य प्रमाण का उदाहरण माना है ।[807]

धर्मशास्त्रकारों ने दिव्य प्रमाण का व्यवस्थित रूप से वर्णन किया है । गौतम धर्मसूत्र में इसका विस्तृत प्रयोग न करके एक जगह शूद्रों को तप्तफाल देना चाहिये का उल्लेख मिलता है ।[808] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है कि जिन विषयों में संदेह उत्पन्न होता हैं उन विषयों में दैवीय साधनों से परीक्षण करना चाहिये[809] और राजा को साक्षी एवं दिव्य प्रमाणों के माध्यम से सत्य को जानकर ही उचित दण्ड देना चाहिये ।[810] विष्णु धर्मसूत्र ने दिव्य प्रमाण की विस्तृत चर्चा करते हुये इसे (दिव्य प्रमाण को) "समय क्रिया या दैव क्रिया" कहा है ।[811]

6.4 दिव्य प्रमाण के प्रयोग संबंधी नियम-

१. वादी एवं प्रतिवादी की सहमति के उपरान्त ही दिव्य प्रमाण का प्रयोग किया जाता था ।[812] अर्थात् यदि वादी या प्रतिवादी में से कोई भी एक पक्ष दिव्य प्रमाण को अस्वीकृत करता था तो इसका प्रयोग नहीं किया जाता था ।

२. दिव्य प्रमाण की संयुक्त स्वीकृति के उपरान्त एक पक्ष दिव्य को धारण करता था और दूसरा पक्ष उसके निर्णय को अर्थात् दिव्य परीक्षा के बाद सत्यापित हुए निर्णय को मानने पर स्वीकृति प्रदान करता था ।[813]

---

805 वत्सश्च वै मेधातिथिश्च काण्वावास्तातं वत्सं मेधातिथिराक्रोशद् ब्राह्मणेसि शूद्रापुत्र । सोऽब्रवीदृतेनाग्नि व्ययाववतरो....न लोम च नौषत् । पंचविशब्राह्मण, १४/६/६
मनुस्मृति ८/११६

806 पुरुषं सोम्योतहस्तगृहीत मानयन्त्यहार्षीत् स्तेयमकार्षीत् परशुमस्मै तपतेति । स यदि तस्यकर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते । सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनाऽऽत्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णामि । स दह्यतेऽथ हन्यते ॥ छान्दोय उपनिषद्, ६/६/१

807 पी.वी. काणे, भाग २, पृ.७४७

808 शूद्रस्य फालं दातव्यम् । गौतमधर्मसूत्र, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ. ४४३

809 सन्देहे लिङ्गतो दैवेनेति विचित्य । आपस्तम्बधर्मसूत्र २/२९/६

810 सुविचितं विचित्या दैवप्रश्नेभ्यो राजा दण्डाय प्रतिपद्येत । आपस्तम्बधर्मसूत्र २/११/३

811 अथ समय क्रिया । विष्णु धर्मसूत्र ९/१

812 रुच्या वान्यतरः कुर्यादितरो वर्तयेच्छिरः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९६ पहला

813 इच्छया त्वितर: कुर्यादितरो वर्तयेच्छिर: ॥ शुक्रनीति ४/५/२५४

३. वेद निर्देशित होने के कारण दिव्य का प्रयोग प्रतिवादी के साथ किया जाता था, वादी के साथ नहीं। क्योंकि वादी अपने पक्ष की सत्यता के लिए एक निश्चित शारीरिक एवं आर्थिक दण्ड को स्वीकार करने का वचन देता था।[814]

४. दिव्य का धारण उस व्यक्ति को करना पडता था जो स्वयं को निरपराध बतलाने के लिए प्रमाण देता था तथा दूसरा पक्ष शीर्षक बनता था जो दिव्य के परिणाम को मानने की स्वीकृति देता था। शुक्रनीति ने शीर्षक को शिरोवर्ती कहा है जिसके बिना दिव्य नहीं हो सकता था, क्योंकि शीर्षक के अभाव में दिव्य प्रमाण एक पक्षीय हो जाता था।[815] इसलिये नारद ने भी शीर्षक के अभाव में दिव्य विधि का निषेध किया है।[816]

५. कुछ विवादों जैसे- राजद्रोह, महापातक आदि में शीर्षक के अभाव में भी दिव्य प्रमाण का प्रयोग किया जाता था।[817] इसके पीछे कारण यह होता था कि इन उक्त विवादों में राजा एक पक्ष बन जाता था, परन्तु यह जरूरी नहीं होता था कि राजा शीर्षक बनें।

इस प्रकार दिव्य प्रमाण का प्रयोग दोनों पक्षों (वादी एवं प्रतिवादी) की संयुक्त स्वीकृति के उपरान्त ही किया जाता था। जिसमें दो पक्ष बनते थे- एक पक्ष शीर्षक होता था जो दिव्य प्रमाण के परिणाम को स्वीकृति प्रदान करता था तथा दूसरा पक्ष दिव्यधारक होता था जो स्वयं की सत्यता के सत्यापन हेतु दिव्य प्रमाण को ग्रहण करता था।

6.5 दिव्य प्रमाण की विधि-

दिव्य प्रमाण का प्रयोग किये जाने से पूर्व दिव्यधारक व्यक्ति को अहोरात्र उपवास कराने के उपरान्त अगले दिन वस्त्र सहित स्नान कराके आर्द्र वस्त्र में ही दिव्य का ग्रहण कराया जाता था। यह दिव्य प्रयोग प्राड्विवाकों एवं ब्राह्मणों की उपस्थिति में ही किया जाता था।[818]

---

[814] न कश्चिदभियोक्तारं दिव्येषु विनियोजयेत्। अभियुक्ताय दातव्यं दिव्यं दिव्यविशारदै॥ कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.४५७
विष्णु धर्मसूत्र ९/२०-२१
शुक्रनीति ४/५/२५३

[815] शुक्रनीति ४/५/२५२

[816] शिरोवर्ती यदा न स्यात्तदा दिव्यं न दीयते। कारणै: सहितं प्रोक्तं न दिव्यं चार्थिनाऋणाम्॥ नारदस्मृति ४/२५७

[817] महाभियोगेष्वेतानि शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९५
विनापि शीर्षकात्कुर्यान्नृपद्रोहेऽथ पातके॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९६

[818] सचैलं स्नातमाहूय सूर्योदय उपोषितम्। कारयेत्सर्वदिव्यानि देवब्राह्मणसंनिधौ॥ विष्णुधर्मसूत्र ९/३३
सचैल स्नातमाहूय सूर्योदय उपोषितम्। कारयेत्सर्वदिव्यानि नृपब्राह्मणसंनिधौ॥ बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.४६१
याज्ञवल्क्यस्मृति २/९७
नारदस्मृति ४/२६८-२६९

6.6 दिव्य प्रमाण के प्रकार-

धर्मशास्त्रकारों में दिव्य प्रमाण के भेदों को लेकर मतैक्य नहीं हैं। दिव्य के भेदों की संख्या को आधार मानकर कहा जाये तो मनुस्मृति ने दो दिव्य (अग्निविधि एवं जलविधि)[819]; विष्णुधर्मसूत्र,[820] नारदस्मृति[821] एवं याज्ञवल्क्यस्मृति ने पांच दिव्य (घटविधि, अग्निविधि, जलविधि, विषविधि, कोशविधि);[822] मिताक्षराकार ने सात दिव्य (घटविधि, अग्निविधि, जलविधि, विषविधि, कोशविधि, तण्डुलविधि, तप्तमाषविधि);[823] शुक्रनीति ने सात दिव्य (अग्निविधि, विषविधि, घटविधि, जलविधि, धर्म-अधर्मविधि, तण्डुलविधि, शपथ)[824] तथा बृहस्पतिस्मृति ने नौ दिव्य (घटविधि, अग्निविधि, जलविधि, विषविधि, कोशविधि, तण्डुलविधि, तप्तमाषविधि, धर्म-अधर्मविधि, फालविधि)[825] माने हैं।

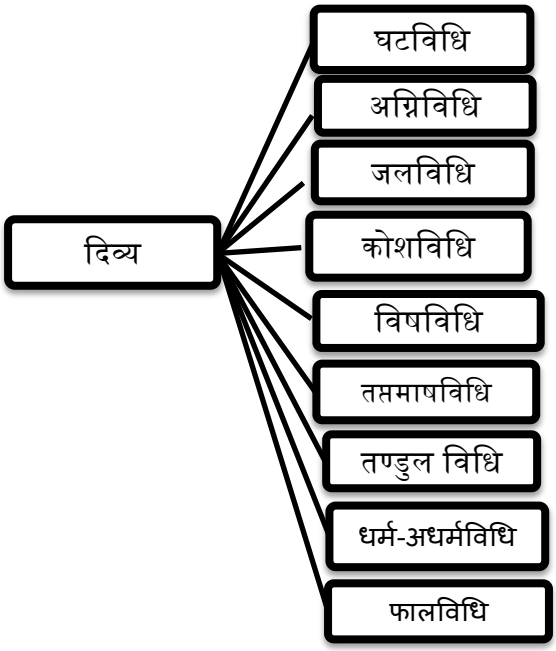

सभी धर्मशास्त्रकारों के मतों में समन्वय से दिव्य के ९ भेद हुये- घटविधि, अग्निविधि, जलविधि, विषविधि, कोशविधि तण्डुलविधि, तप्तमाषविधि, धर्म-अधर्मविधि, एवं फालविधि। शुक्रनीति के अनुसार (अग्निविधि, विषविधि, घटविधि, जलविधि, धर्म-अधर्मविधि, तण्डुलविधि, शपथ) पश्चात् दिव्यों की अपेक्षा पूर्व दिव्यों को अधिक महत्वपूर्ण माना जाना चाहिये और इन दिव्यों का प्रयोग कार्यों के स्वरूप एवं गुरुता को ध्यान में रखते हुये करना चाहिये।[826] अत: यहां पर इन ९ दिव्यों का वर्णन अपेक्षित है जिनका व्यवहार में अंतिम प्रमाण के रूप में प्रयोग किया जाता था। जो कि इस प्रकार है-

---

819 अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत्। पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक्॥ मनुस्मृति ८/११४

820 तत: परं यथार्हं घटाग्न्युदकविषाणामन्यतमम्। विष्णुधर्मसूत्र ९/११

821 घटोऽग्निरुदकं चैव विषं कोशश्च पञ्चम्। नारदस्मृति ४/२५२

822 तुलाग्न्यापो विषं कोशो दिव्यानीह विशुद्धये।। याज्ञवल्क्यस्मृति २/९५ पहला

823 याज्ञवल्क्यस्मृति २/९५ मिताक्षरा

824 शुक्रनीति ४/५/२३९

825 घटोऽग्निरुदकं चैव विषं कोशश्च पञ्चमम्। षष्ठं च तण्डुला: प्रोक्तं सप्तमं तप्तमाषक:॥
अष्टमं फालमित्युक्तं नवमं धर्मजं भवेत। दिव्यान्येतानि सर्वाणि निर्दिष्टानि स्वयंभुवा॥ बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.४५४, ४५५

826 शुक्रनीति ४/५/२४०

१. घटविधि (तुलाविधि)-

घटविधि को तुलाविधि भी कहा जाता था। इस विधि में तुला के माध्यम से वजन करते हुये सत्य का परीक्षण किया जाता था। नारद ने तुला के स्वरूप की चर्चा करते हुये कहा है कि- तुला के लिए छः हाथ लम्बे दो डण्डों को दो-हाथ गहरे खड्डे में स्थापित करना चाहिए,[827] तुला का पलड़ा खादिर या केदु की कोमल लकडी से निर्मित चतुष्कोणीय होना चाहिए और यह खादिर लकडी शुष्क एवं व्रणविहीन होनी चाहिए तथा इसके (खादिर के) अभाव में शाल लकडी से निर्मित तुला होनी चाहिए।[828] इस प्रकार से निर्मित विशिष्ट तुला में तीन स्थान होते थे- जिसमें दो कीलक (पलडे) और एक तुलायन्त्र सम्मिलित होता था। इन पलडों से ही तुलायन्त्र दोलायमान (ऊपर-नीचे) होता था। तुलादण्ड को इस प्रकार स्थापित किया जाता था कि वह निश्चल खड़ा हो सके। उसके बाद स्थापित तुला की पवित्रता एवं मंगलता को दधि, अक्षत, हवि और गन्ध आदि के द्वारा सम्पादित किया जाता था।[829]

तदनन्तर तुला के दोनों पार्श्वों (पलडों) में से उत्तर पार्श्व में दिव्यधारक व्यक्ति को और दक्षिण पार्श्व में शिला को स्थापित किया जाता था (शिलायुक्त पार्श्व को पिटिका कहा जाता था उस पिटिका में लोष्ट, इष्टक या भस्म आदि को स्थापित किया जाता था)। यही मत पितामहस्मृति का भी है।[830] फिर वजन करते या तोलते समय निपुण व्यक्ति के द्वारा दिव्यधारक के वजन का निरूपण किया जाता था। पर वजन के वास्तविक निरूपण हेतु दो पार्श्वों को संतुलित करने वाली अपर तोरण का न्यस्त (स्थिर) होना आवश्यक होता था। वजन करने के बाद तुला से दिव्यधारक व्यक्ति को अवतरित कर लिया जाता था।[831]

फिर कुछ समय बाद उसी तोलित दिव्यधारक व्यक्ति को पुनः तुला पर आरोपित (बैठना) किया जाता था, लेकिन यह ध्यान रखा जाता था कि पुनः तोलते समय न हवा चल रही हो और न ही वर्षा हो।[832] पुनः तोलते समय दिव्यधारक तुला से यह प्रार्थना करता था- कि "हे कल्याणि! तुम सत्य कहो और मुझे संशय से मुक्त करो। अगर मैं पापकर्ता हूं तो मुझे निम्न भाग में ले जाओ और अगर मै निष्पाप / सच्चा हूं तो मुझे ऊपर उठा लो।"[833] तदनन्तर यदि अभियुक्त का भार बढ़ जाता था तो उसे अपराधी माना जाता था, अन्यथा भार घट जाने पर उसे निरपराध घोषित कर दिया जाता था।[834]

---

827 नारदस्मृति ४/२६२

828 नारदस्मृति ४/२६४

829 नारदस्मृति ४/२६३,२६६

830 पितामह, व्यवहारमयूख, पृ.३४

831 नारदस्मृति ४/२७१-२७३,
तुलाधारणविद्वद्भिरभियुक्तस्तुलाश्रितः। प्रतिमानसमीभूतो रेखां कृत्वाऽवतारितः॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/१००

832 नारदस्मृति ४/२७५-२७६

833 विष्णु धर्मसूत्र १०/१-१०

834 त्वं तुले सत्यधामासि पुरा देवैर्विनिर्मिता। तत्सत्यं वद कल्याणि संशयान्मां विमोचय॥

विष्णुधर्मसूत्र ने भी पलडे के ऊपर ऊठ जाने पर अर्थात् दिव्यधारक का वजन घट जाने पर उसे निरपराध समझा है, किन्तु वजन का ज्यों का त्यों बना रहने पर या कुछ बढ जाने पर उसे अपराधी माना है ।[835] पर बृहस्पति का मत है कि यदि तुला बराबर आये तो ऐसी स्थिति में पुन: तौलना चाहिए और पुन: तौलने पर यदि वजन बढ जाता है तो उसे निरपराध जानना चाहिये ।[836] कात्यायन ने भी तुला के दोनों पार्श्वो के बराबर आने पर पुन: तौलने का विधान किया है ।[837] नारद ने तौलते समय तुला के टूट जाने पर दिव्यधारक को निर्दोष माना है ।[838] परन्तु बृहस्पति ने तुला के इस तरह टूटने पर दिव्यधारित को दोषी माना है ।[839] तथा कात्यायन ने इस स्थिति (तुला भंग) में सम्पूर्ण तुला विधि को पुन: दोहराने का विधान किया है ।[840]

इस प्रकार की मत भिन्नता के बाबजूद भी सामान्यत: यह कहा जा सकता है कि तुला विधि में दिव्यधारक युक्त पलडे के ऊपर उठ जाने पर (वजन के घट जाने) उसे निर्दोषी, अन्यथा पलडे के नीचे गिरने पर (वजन बढने पर) उसे दोषी समझा जाता था । वजन का घटना एवं बढना व्यक्ति के रक्त दाब पर निर्भर करता है, क्योंकि रक्त दाब के बढने से दिव्यधारक के वजन में बढोतरी हो जाती थी जिससे उसका दोष सिद्ध हो जाता था । यह नियम वर्तमान के नार्कोटेस्ट के समान है जिसमें व्यक्ति के रक्तदाब का परीक्षण किया जाता है ।

तुलादिव्य का प्रयोग- दिव्यों में से तुला दिव्य अत्यन्त सरल एवं शारीरिक कष्टों से रहित होता था इसलिये इसका प्रयोग स्त्रियों, अव्यवस्कों, वृद्धजनों, अपंग व्यक्तियों, अन्धों, रोगियों तथा ब्राह्मणों आदि के लिये उपयुक्त माना गया था ।[841]

२. अग्निविधि-

दिव्यों में अग्निदिव्य अत्यन्त कष्टकारी दिव्य होता था, क्योंकि इस विधि में तप्त लोहे के गोले को हाथ में लेकर या जलते अंगारों पर चलाकर परीक्षण किया जाता था । शुक्रनीति ने अग्निदिव्य के दो स्वरूप बतलाये है- प्रथम, आग में तपे हुये लोहे के गोले को हाथ में लेकर ९ कदम चलना, द्वितीय, जलते हुये अंगारों पर ७ कदम चलना ।[842]

यद्यस्मि पापकृन्मातस्ततो मां त्वमधो नय । शुद्धश्चेद्ऊमयोर्ध्वं मां तुलामित्यभिमन्त्रयेत् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/१०१-१०२,

नारदस्मृति ४/२८०-२८१,२८३

[835] विष्णधर्मसूत्र १०/१२

[836] घटेऽभियुक्तस्तुलितो हीनश्चेद्धानिपाप्न्यात् । तत्समस्तु पुनतोल्यो वर्धित: विजयी भवेत् ॥ बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश, व्यवहाराकाण्ड, पृ. ४७९

[837] कात्यायन, स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ २५९

[838] नारदस्मृति ४/२८४

[839] कक्षच्छेदे तुलाभङ्गे धटकर्कटयोस्तथा । रज्जुच्छेदेऽक्षभङ्गे वा तथैवाशुद्धिमाप्नुयात् ॥ बृहस्पतिस्मृति ८/५२ (आयंगर सम्पादित)

[840] शिक्यच्छेदेतुलाभङ्गे तथा चापि गुणस्य वा । शुद्धेस्तु संशये चैव परीक्षते पुनर्नरम् ॥ कात्यायनस्मृति ४४०

[841] याज्ञवल्क्यस्मृति २/९८

[842] तत्तायोगोलकं धृत्वा गच्छेन्नव पदं करे। तप्ताङ्गारेषु वा गच्छेत पद्भ्यां सप्त पदानि हि ॥ शुक्रनीति ४/५/२४१

अग्निदिव्यधारक व्यक्ति के द्वारा पहले व्रीहि (धान) को हाथ से मिसलना होता था। फिर घावयुक्त हाथों पर सात अश्वस्थ (पीपल)/उदुम्बर वृक्ष (विष्णु धर्मसूत्र के अनुसार[843]) के पत्तों को रखते हुए उन्हें सात सूत्रों से हाथों सहित बांध दिया जाता था। तदनन्तर दिव्यधारक अग्नि से प्रार्थना करता था कि- "हे अग्नि! तुम साक्षी के समान सभी मनुष्यों के शरीर में विद्यमान हो। तुम सत्य को जानती हो, जो दूसरे जन नहीं जानते। तुम ही संशय को दूर करने में समर्थ हो"। इस प्रकार प्रार्थना किये जाने के उपरान्त दिव्यधारक के हाथों पर आठ अंगुल लम्बे ५० पल भार वाले तप्त लौह पिण्ड को रख दिया जाता था। यह तप्तलोहा पिण्ड लौहार के द्वारा अग्नि में घी की १०८ आहुतियां डालकार तप्त किया जाता था।[844]

इस तप्त पिण्ड को हाथ पर रखकर दिव्यधारक सातमण्डलों (चिन्हों) को पार करता था। पितामह ने ७ मण्डलों की अपेक्षा गोबर से निर्मित ९ वृत्त माने हैं, जिन्हें (एक से नौ वृत) क्रमश: अग्नि, वरुण, वायु, यम, इन्द्र, कुबेर, सोम, सविता और विश्वदेव आदि देवताओं को समर्पित किया है।[845] इन सात मण्डलों में प्रत्येक मण्डल १६ अंगुल का होता था। फलत: दिव्यधारक हाथों में धारित तप्त लोहपिण्ड के साथ २४० अंगुलों से युक्त ७ मण्डल भूमि को पार करता था। (नारद ने मण्डलों की संख्या ८ मानी है और उनके मध्य की दूरी ३२ अंगुल। इस प्रकार नारद ने २५६ अंगुल में भूमि को परिमित किया है।[846])

दिव्यधारक को ये मण्डल को न तो तेज गति से और न ही अत्यन्त मन्द गति से, बल्कि सामान्य गति से धीरे-धीरे पार करने पडते थे। आठवें मण्डल में पहुँचने के बाद तप्त पिण्ड को गिरा दिया जाता था। पितामह ने तप्त लोह पिण्ड को नवे वृत्त में गिराने का निर्देश दिया है। वैसे तो तप्तपिण्ड को मण्डलों के मध्य में नहीं गिरना चाहिए परन्तु अगर वह मण्डलों के मध्य में गिर जाता था तो उसे पुन: उठाकर मण्डल को पार करना पडता था।[847] इसके उपरान्त अग्नि दिव्यधारक व्यक्ति के हाथों से व्रीहि को मसलवाया जाता था अगर हाथ जलता नहीं था या कोई घाव हाथ में दिखाई नहीं देता था तो उस दिव्यधारक को निर्दोषी, अन्यथा जलने पर उसे दोषी माना जाता था।[848]

---

[843] विष्णधर्मसूत्र १०/१२

[844] करौ विमृदितव्रीहेर्लक्षयित्वा ततो न्यसेत्। सप्ताश्वत्थस्य पत्राणि तावत्सूत्रेण वेष्टयेत्॥
त्वमग्ने सर्वभूतानामन्तश्चरसि पावक। साक्षिवत्पुण्यपापेभ्यो ब्रूहि सत्यं कवे मम॥
तस्येत्युक्तवतो लौहं पञ्चाशत्पलिकं समम्। अग्निवर्णं न्यसेत्पिण्डं हस्तयोरुभयोरपि॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/१०३-१०५
नारदस्मृति ४/२८७-२९५
विष्णु धर्मसूत्र ११/५

[845] अग्नेर्विधिं प्रवक्ष्यामि यथावच्छास्त्रचोदितम्। कारयेन्मण्डलान्यष्टौ पुरस्तान्नवमं तथा॥
आग्नेयं मण्डलं त्वाद्यं द्वितीयं वारुणं तथा। तृतीयं वायुदैवत्यं चतुर्थं यमदैवतम्॥
पञ्चमं त्विन्द्रदैवत्यं षष्ठं कौबेर मुच्यते। सप्तमं सोमदेवत्यमष्टमं शर्वदैवतम्॥
पुरस्तान्नवं यत्तु तन्महस्पार्थिवं विदु:। गोमयेन कृतानि स्युदद्धि पर्युक्षितानि च॥ पितामह, व्यवहारप्रकाश, पृ. १९३-१९४

[846] नारदस्मृति ४/२८५-२८६

[847] विष्णधर्मसूत्र ११/१-८
प्रस्खलत्यभियुक्तश्चेत्स्थानादन्यत्र दह्यते। न दग्धं तं विदुर्देवास्तस्य भूर्योऽपि दापयेत्॥ कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहाराकाण्ड, पृ. ४९४

[848] स तमादाय सप्तैव मण्डलानि शनैर्व्रजेत्। षोडशाङ्गुलकं ज्ञेयं मण्डलं तावदन्तरम्॥
मुक्त्वाग्निं मृदितव्रीहिरदग्धः शुद्धिमाप्नुयात्। अन्तरा पतिते पिण्डे संदेहे वा पुनर्हरेत्॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/१०६-१०७

३. जलविधि-

जलविधि में सत्य-असत्य का परीक्षण जल में डूबोकर किया जाता था। जलदिव्य में जल हेतु अत्यन्त अल्पवेग वाली नदी, सागर तथा तालाब के जल का प्रयोग किया जाता था। परन्तु इस जल का मिट्टी, जलीय जीव-जन्तु (मछली, जोंक एवं मांसाहारी जीव जानवरों से) और जलीय पौधे से मुक्त होना आवश्यक होता था।[849] पितामह ने भी जलदिव्य में प्रयुक्त जल की स्थिति को विष्णु के समान है।[850]

जलविधि में न्यायाधीश (प्राड्विवाक) जल के किनारे पहुंचकर अभियुक्त के कानपर्यन्त लम्बा एक तोरण खडा करता था और उस तोरण से १५० फीट/हाथ दूरी पर एक लक्ष्यबिन्दु निर्धारित करता था। तदपर्यन्त ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य में से किसी भी एक वर्ण के पवित्र आचरण रखने वाले व्यक्ति को वृक्षस्तम्भ के साथ नाभिपर्यन्त जल में खडा किया जाता था। यहां यह ध्यान रखा जाता था कि स्तम्भधारक व्यक्ति का अभियुक्त के साथ कोई द्वेष नहीं होना चाहिये। उसके पश्चात् दिव्यधारक नाभिपर्यन्त जल में खड़ा होकर वरुण की उपासना करता था। देवता के आह्वान के उपरान्त दिव्यधारक तोरण से लक्ष्य तक एक बाण छोडता था और फिर जल में स्तम्भधारक व्यक्ति की जांघ पकडकर गोता लगाता था (नारद ने तीन बाणों का प्रक्षेपण करने को कहा है)। तदनन्तर अन्य वेगवान् पुरुष प्रेषित बाण को यथाशक्ति दौडकर उसी स्थान पर लाता था। यदि दिव्यधारक पुरुष तब तक जल में डूबा रहता था तो उसे निरापराधी/शुद्ध समझा जाता था। लेकिन यदि दिव्यधारक का एक भी अंग दर्शित होता या डूबे स्थान से अतिरिक्त स्थान पर चलकर डूबा हुआ मिलता था तो उसे अपराधी समझा जाता था।[851]

जलदिव्य का निषेध- स्त्री, बालक, रोगी, वृद्धजन, उत्साहहीन व्यक्ति और आर्तो को जल में नहीं डूबोना नहीं जाता था, क्योंकि अल्प प्राण वाले होने के कारण ये जन शीघ्र ही मर सकते हैं।[852]

जलविधि को न्यायसंगत नहीं माना जा सकता है, इसके कई तर्क है- १.) यदि दिव्यधारक भलीभांति बाण चलाना नहीं जानता है तो उसके द्वारा प्रक्षेपित बाण का लक्ष्य निकट निर्धारित होगा और यदि दिव्यधारक बाण चलाने में प्रवीण है तो उसके द्वारा प्रक्षेपित बाण का लक्ष्य दूर निर्धारित होगा। ऐसी स्थिति में लक्ष्य के निर्धारण पर संशय उत्पन्न हो जाता है। २.) यदि प्रक्षेपित

नारदस्मृति ४/२९६-२९८,३०३

विष्णधर्मसूत्र ११/९

[849] विष्णधर्मसूत्र १२/१-२

[850] पितामह २/१०८ याज्ञवल्क्यस्मृति पर मिताक्षरा

[851] सत्येन माऽभिरक्ष त्वं वरुणेत्यभिशाप्य कम्। नाभिदघ्नोदकस्थस्य गृहीत्वोरूं जलं वशेत्॥
समकालमिषुं मुक्तमानीयान्यो जवी नरः। गते तस्मिन्निमग्नाङ्गं पश्येच्चेच्छुद्धिमाप्नुयात्॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/१०८-१०९
यावन्नियमितः कालस्तावदप्सु निमज्जयेत। शुक्रनीति ४/५/२४५
नारदस्मृति ४/३०५-३०६,३०८-३१२
विष्णधर्मसूत्र १२/१-८

[852] नारदस्मृति ४/३१३-३१४

बाण को दौडकर लाने वाला व्यक्ति अच्छा धावक है तो वह वास्तविक अपराधी दिव्यधारक को निरपराध घोषित कर देगा और यदि इसके विपरित बाण लाने वाला व्यक्ति अच्छे से दौड नहीं पाता है तो वह निरपराधी को अपराधी बना देगा । ३.) यदि दिव्यधारक स्वयं सांस रोकने में अभ्यस्त है तो वह वास्तव में अपराधी होते हुए भी निरपराध घोषित कर दिया जायेगा । शायद इसलिये धर्मशास्त्रकारों ने जल से जीविका चलाने वाले नाविकों, गोताखोरों एवं तैराकों का इस दिव्य से परीक्षण निषिद्ध माना है ।[853]

४. विषविधि-

विषविधि में विष को पिलाकर दिव्यधारक ली परीक्षा की जाती थी । विषविधि में भग्न (तैलाक्त), चरित्र (तप्त), धूपित (सुगन्ध), मिश्रित, कालकूट, अलावु से निर्मित विष का प्रयोग वर्जित होता था ।[854] विष के लिए केवल हिमालय से उत्पन्न वर्ण, गन्ध और रसयुक्त श्रृंगजात विष का ही प्रयोग किया जाता था ।[855] पितामह ने श्रृंगजातविष के अतिरिक्त वत्सनाभ अथवा हैमवत् विष को भी देने का निर्देश किया है ।[856] नारद के अनुसार ७ यवों (१६० यवो से एक पल बनता है- १६० x १/६ x १/२० x ७/८ = ७ यव) के बराबर (विष का तौल- पल के एक षष्ठांशभाग के विंशतितम भाग में से एक अष्टमांश भाग को हीन कर) श्रृंगजात से निर्मित संखियाविष को घृत में डूबोकर दिव्यधारक को देना चाहिए ।[857] विष्णु भी नारद के इस विचार से सहमत है ।[858] नारद ने विषदिव्य में दी जाने वाली विष की मात्रा के लिए विभिन्न ऋतुओं को आधार बनाया और निर्देश दिया कि- वर्षा ऋतु में ४ यव, ग्रीष्म ऋतु में ५ यव, हेमन्त ऋतु में ७/८ यव तथा शरद ऋतु में अधिकतम ६ यव के बराबर विष देना चाहिए ।[859] साथ ही नारद ने विष के साथ दी जाने वाली घी की मात्रा को भी निर्देशित किया है कि घी की मात्रा विष की मात्रा से २० गुना होनी चाहिए ।[860] कात्यायन ने इस घी की मात्रा को ३० गुना माना है ।[861]

विष को ग्रहण करने से पूर्व दिव्यधारक विष से प्रार्थना करता था- कि "हे ब्रह्मा के पुत्र, मुझे अभिशाप से बचाओं और सत्य के द्वारा तुम मेरे लिए अमृत के समान हो जाओ" ।[862] तदनन्तर विष

---

[853] न श्लेष्मव्याध्यर्दितानां भीरूणां श्वासकासिनामम्बुजीविनां चोदकम् । विष्णुधर्मसूत्र ९/२९

[854] भग्नं च चारितं चैव धूपितं मिश्रितं तथा । कालकूटमलावुं च विषं यत्नेनं वर्जयेत् ॥ नारदस्मृति ४/३२१

[855] नारदस्मृति ४/३२२

[856] श्रृंगिणो वत्सनाभस्य हिमजस्य विषस्य वा ॥ पितामह, याज्ञवल्क्य २/११३ पर मिताक्षरा

[857] नारदस्मृति ४/३२३

[858] विषाणि अदेयानि सर्वाणि ऋते हिमालयेद्भ्वात् शाङ्गीत । तस्य च यव सप्तकं धृतप्लुतमभिशास्तय द्द्यात ॥ विष्णुधर्मसूत्र ८/१४

[859] वर्षे चतुर्यवा मात्रा ग्रीष्मे पञ्चयवा: स्मृता: । हेमन्ते सप्तवाऽष्टौ वा शरद्यत्पास्ततोऽपि हि ॥ नारदस्मृति ४/३२४

[860] नारदस्मृति, व्यवहारप्रकाश, पृ.२०९

[861] कात्यायन, व्यवहारप्रकाश, पृ.२१०

[862] त्वं विष! ब्रह्मणः पुत्रः सत्यधर्मे व्यवस्थितः । त्रायस्वास्मादभिशापात्सत्येन भव मेऽमृतम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/११०

दिव्यधारक को बिना खाये-पीये न्यायाधीशों/राजपुरुषों की सुरक्षा में रहना पडता था । यदि दिव्यधारक के शरीर पर विष का प्रभाव दिखाई नही देता था तो उसे शुद्ध और अगर विष का प्रभाव दिखाई देता था तो उसे अशुद्ध या अपराधी समझा जाता था ।[863]

विष्णु धर्मसूत्र में विषदिव्यधारक को निर्दोष पाये जाने पर संध्याकाल में ही मुक्त करने का विधान किया है । पर पितामहस्मृति में दिव्यधारक को तीन से पांच रात्रि तक अधीनता में रखा गया है ताकि वह छल-कपट न कर सकें, क्योंकि वह विष के प्रभाव को कम करने के लिए मंत्र, दवा, रत्नादि का उपयोग कर सकता है । अत: उसकी जांच करते रहने का विधान किया गया है ।[864] तथा याज्ञवल्क्य एवं नारद ने विषदिव्यधारी के ५०० तालियां बजाने तक विष का प्रभाव न दिखने पर उसे शुद्ध/निरपराधी मानते हुये उसका उपचार करने का निर्देश किया है ।[865] शुक्रनीति ने विष खिलाने के अतिरिक्त दिव्यधारक को बॉबी से काले नाग को हाथ से निकालते समय डंसवाने का भी उल्लेख किया है । जिसमें अगर जहर का असर नहीं दिखाई दें तो उसे निर्दोष समझा जाना चाहिए, अन्यथा दोषी ।[866]

विषदिव्य का प्रयोग– ब्राह्मण को छोडकर शेष तीनों वर्णो को विषदिव्य दिया जाता था ।[867] दिव्यधारक की परीक्षा छांव में खडे करके ली जाती थी ।[868] विषविधि का प्रयोग अपराह्न, संख्या, मध्याह्न, शरदकाल, ग्रीष्म, वसन्त और वर्षा ऋतु में नहीं किया जाता था ।[869] केवल रात्रि के अन्तिम प्रहर में ही इसका प्रयोग किया जाता था । दिव्यों में यह दिव्य अत्यन्त कष्टकारी है क्योंकि इसमें विषदिव्यधारक की मृत्यु होने की संभावना बनी रहती है ।

५. कोशविधि-

कोशविधि में देवताओं की प्रतिमा को अभिषिक्त जल के सेवन से परीक्षण किया जाता था । इस विधि में दिव्यधारक पूर्वाह्ण में उपवास करके स्नान के उपरान्त आर्द्रवस्त्रों को धारण करते हुये यथाविधि आराध्य देवता की अर्चना करता था । उन आराध्य देवताओं को स्नान कराते हुए उस स्नानोदक को अन्य पात्र में लेकर, तीन अञ्जलि ग्रहण करता था । यदि एक सप्ताह या दो सप्ताह के

नारदस्मृति ४/३२५

[863] विष्णुधर्मसूत्र १३/१-७

नारदस्मृति ४/३२६

एवमुक्त्वा विषं शाङ्र्गं भक्षयेद्धिमशैलजम् । यस्य वेगैर्विना जीर्येच्छुद्धिं तस्य विनिर्दिशेत् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/१११

[864] पितामह, व्यवहारप्रकाश, पृ.२१०

[865] पंचतालशतं कालं निर्विकारो तदाभवेत् । तदाभवति सशुद्धं स्तत: कुर्याच्चिकित्सितम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/११३

नारदस्मृति, व्यवहारप्रकाश, पृ.२१२

[866] गरं प्रभक्षयेद्धस्तै: कृष्णसर्प समुद्धरेत् । शुक्रनीति ४/५/२४३

[867] अभिन्नं तत् प्रदातव्यं क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु ॥ नारदस्मृति ४/३२२

[868] छायानिवेशितो रक्ष्यो दिनशेषमभोजन: ॥ नारदस्मृति ४/३२६

बृहस्पतिस्मृति ८/६३

कात्यायनस्मृति ४४६-४५२

[869] नापराह्णे न संध्यायां न मध्याह्ने तु धर्मवित् । शरद्पीष्मवसन्तेषु वर्षासु च दिवर्जयेत् ॥ नारदस्मृति ४/३२०

भीतर दिव्यधारक पर कोई आन्तरिक शारीरिक प्रभाव या दोष दिखाई नहीं पडता था तो उसे पवित्र माना जाता था तथा इसके विपरीत होने पर अर्थात् शरीर पर प्रभाव दिखाई देने पर उसे अपराधी समझा जाता था ।[870] बृहस्पति ने दिव्यधारक के लिए अभिषिक्त जल की जगह, दिव्यधारक के ही इष्टदेवताओं के अस्त्र-शस्त्रों को धोने पर प्राप्त जल के सेवन का विधान किया है ।[871]

कोशदिव्य का निषेध- महापराधों, धर्मरहित स्थल में, कृतघ्न, क्लीब, कुत्सित, नास्तिक, व्रात्य, एवं सैनिकों पर कोशदिव्य का प्रयोग वर्जित था ।[872]

६. तण्डुल विधि-

तण्डुल विधि में सूर्यातप में सूखे चावलों को खिलाकर परीक्षा ली जाती थी । इस विधि का उल्लेख पितामहस्मृति के साथ मिताक्षरा में भी किया गया है ।[873] इसमें मिट्टी के पात्र में तण्डुलों को रखकर धूप में सूखाया जाता था और फिर स्नानोदक से तण्डुलों को मिश्रित करके रात्रिभर रखा जाता था । तदनन्तर प्रभात के समय उपवास युक्त दिव्यधारक को वह चावल तीन बार खिलाया जाता था और पीपल के पत्ते पर दिव्यधारक को थूकने को कहना जाता था । अगर थूकने पर थूक में रक्त दिखाई देता था या दांत में पीडा होती थी या शरीर में कम्पन होता था तो उसे अपराधी समझा जाता था ।[874] पितामह ने दिव्यधारक के शरीर में कम्पन होने पर उसे अपराधी मानने का निर्देश किया है ।[875]

---

[870] पूर्वाह्ने सोपवासस्य स्नातस्यार्द्रपटस्य च । सशूकस्याव्यसनिन: कोशपानं विधीयते ॥
यद्भुक्त: सोऽभियुक्त: स्यात्तद्दैवत्यं तु पाययेत् । अभ्यर्च्य देवतां स्नाप्य जलस्य प्रसतित्रयम् ॥
सप्ताहाभ्यन्तरे यस्य द्विसप्ताहेन वाशुभम् । प्रत्यात्मकं तु दृश्येत सैव तस्य विभावना ॥
ऊर्ध्वं यस्य द्विसप्ताहान्महदप्यशुभं भवेत् । नाभियोज्य: स केनापि कृतकालव्यतिक्रमात् ॥
मद्वापराधे निधर्मे कृतघ्ने क्लीबकुत्सिते । नास्तिकव्रात्यदासेषु । कोशपानं विवर्जयेत् ॥ नारदस्मृति ४/३२८-३३१
देवानुग्रान् समभ्यर्च्य तत्स्नानोदकमाहरेत् । संस्नाव्य पाययेत्तस्माज्जलं तु प्रसृतित्रयम् ॥
अर्वाक्चतुर्दशादह्नो यस्य नो राजदैविकम् । व्यसनं जायते घोरं स शुद्धः स्यान्न संशयः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/११२-११३
विष्णुधर्मसूत्र १४/४-५
स्वेष्टदेवस्पनजमद्यादुदकमुत्तम् । शुक्रनीति ४/५/२४५

[871] यद्भुक्त: सोऽभियुक्त: स्यात्तदेवायुधमण्डलम् । प्रक्षाल्य पाययेत्तस्माज्जलात्तु प्रसृतित्रयम् ॥ बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश, व्यवहाराकाण्ड, पृ. ५१५

[872] महापराधे निधर्मे कृतघ्ने क्लीवकुत्सिते । नास्तिकव्रात्यदासेषु कोशपानं विवर्जयेत् ॥ नारदस्मृति ४/३३२

[873] यथा हू पितामह: - तण्डुलानां प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणचोदितम् । मृन्मये भाजने कृत्वा आदित्यस्याग्रत: शुचि: ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति, मिताक्षरा, पृ.२६९

[874] तण्डुलानां प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणचोदितम् । चौर्थे तु तण्डुला देया नान्यत्रेति विनिश्चय: ॥
तण्डुलान् कारयेतच्छुक्लाञ्छालेर्नान्यस्य कस्यचित् । मृन्मये भाजने कृत्वा भस्करस्याग्रत: शुचि: ॥
स्नानोदकेन संपृक्तान् रात्रौ तत्रैव वासयेत् । प्रभातायां रजन्यां तु त्रि: कृत्वा प्रांमुखाय च ॥
स्नाताय सोपवासाय दद्याद्देवार्चक: स्वयम् । स्वयं कार्यं समुद्दिश्य सत्यासत्यपरिक्षणे ॥
तण्डुलान् भक्षयित्वा तु पत्रे निष्ठीवयेत्तत: । अश्वत्थपत्राभावे तु भूर्जपत्रे तत: स्मृतम् ॥
दृश्यते शोणितं यस्य दन्तजालं च सीदति । गात्रं च कम्पते यस्य तमशुद्धं विनिर्दिशेत् ॥ नारदस्मृति ४/३३७-३४२
बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश, व्यवहाराकाण्ड, पृ. ४७९
कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहाराकाण्ड, पृ. ५१८

[875] पितामह, व्यवहारकाण्ड, पृ.५१८

तण्डुलदिव्य का प्रयोग- इस विधि का प्रयोग चोरी, ऋण एवं धन के अहरण संबंधी विवादों में किया जाता था ।[876]

यह तण्डुलदिव्य न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि किसी भी दिव्य को धारण करने पर दिव्यधारी के मन में अस्थिरता उत्पन्न हो सकती है । जिससे उसके शरीर में भी कम्पन हो सकता है । ऐसे में इस दिव्य में वास्तव में निरपराधी व्यक्ति को भी अपराधी मानकर दण्ड का भागीदार बनाया जा सकता है ।

७. तप्तमाष विधि-

तप्तमाष विधि अग्नि दिव्य का ही एक रूप था । इस विधि में सुवर्ण/लोहे या मिट्टी के पात्र में घृत को रखकर अग्नि से तपाया जाता था । यह पात्र १६ अगुंल व्यासयुक्त एवं चार अंगुल गहरा होता था ।[877] उस घृत से युक्त पात्र में सुवर्ण/तांबे या लोहे से बनी मुद्रा को निक्षेपित (ड़ालना) किया जाता था । लम्बे समय तक घृत को अग्नि में तपाने के पश्चात् दिव्यधारक से उस निक्षेपित मुद्रिका को निकलवाया जाता था । अगर वह उस निक्षेपित मुद्रिका को बिना हाथ जलाये निकाल लेता था तो उसे शुद्ध, अन्यथा हाथ जलने पर उसे अपराधी समझा जाता था ।[878]

८. धर्म-अधर्म विधि-

इस विधि में धर्म एवं अधर्म की मूर्तियों को क्रमश: चांदी एवं लोहे/सीसे की धातुओं से बनावाया जाता था । या इस विधि में प्राड्विवाक् धर्म एवं अधर्म का चित्राकंन भोजपत्र पर क्रमश: श्वेत एवं काले रंग से करता था । इन चित्राकंनों पर पंचगव्य (घृत, दूध,दही, गौमूत्र, गौबर) को छिडकर, श्वेतपुष्पों से धर्म तथा कृष्णपुष्पों से अधर्म की पूजा करते हुये, इन दोनों चित्रों को मिट्टी/गोबर के पिण्ड पर रख दिया जाता था । तत्पश्चात् इन पिण्डों को एक नये बर्तन में रखा जाता था । तदनन्तर दिव्यधारक देवता से प्रार्थना करता था कि "यदि मै निरपराधि हूं तो मेरे हाथ में धर्म की मूर्ति आ जाये" । यदि दिव्यधारक को बर्तन में हाथ डालने पर धर्म की मूर्ति हाथ आती थी तो उसे निर्दोषी अन्यथा अधर्म की मूर्ति मिलने पर उसे दोषी माना जाता था । यह सब आंख पर पट्टी बांध के किया जाता था ।[879]

---

[876] चौर्थे तु तण्डुला देया नान्यत्रेति विनिश्चय: ॥ नारदस्मृति ४/३३७
कर्षमात्रांस्तण्डुलांश्च चर्वयेच्च विशङ्कित: ॥ शुक्रनीति ४/५/२४१

[877] सौवर्णं राजतं वापि ताम्रं वा षोडशाङ्गुलम् । चतुरङ्गुलखातं तु मृन्मयं वाऽथ मण्डलम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति, दिव्यप्रकरण, मिताक्षरा, पृ.२६३

[878] नारदस्मृति ४/२४३-२४८
पितामह, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.५२०
तप्ततैलगतं लौहमाषं हस्तेन निर्हरेत् । सुतप्तलोहपत्रं वा जिह्वया संलिहेदपि ॥ शुक्रनीति ४/५/२४२

[879] याज्ञवल्क्यस्मृति, दिव्यप्रकरण, मिताक्षरा, पृ.२६४
अधर्मधर्ममूर्तीनामदृष्टहरणं तथा । शुक्रनीति ४/५/२४१
बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश, व्यवहाराकाण्ड, पृ. ५२३

धर्म-अधर्म दिव्य का प्रयोग- दण्डपारुष्य (किसी को शारीरिक चोट पहुंचाने वाला), उपनिधि (धरोहर) तथा प्रायश्चित संबंधी विवादों में इस दिव्य का प्रयोग किया जाता था।[880]

९. फाल विधि-

फाल विधि में लोहे के फाल को अग्नि में तपाया जाता था। यह फाल १२ पल वजन का, ८ अंगुल लंबा एवं ४ अंगुल चौडा होता था। इसे तपाकर लाल किया जाता था, तदनन्तर इसे दिव्यधारक को चटाया जाता था।[881] इस फालदिव्य को शुक्रनीति में अग्निदिव्य के संदर्भ में वर्णित किया गया है।[882] फाल दिव्य का प्रयोग- पशु चोरी विवाद में किया जाता था।[883]

इस प्रकार धर्मशास्त्रकारों ने ९ दिव्यों का विस्तृत विवेचन करते हुये इनके लिये कुछ नियमों का भी निर्धारण किया जिसके तहत सभी दिव्यों का प्रयोग सभी जनों के साथ नही किया जाता था। इसमें विवाद की गम्भीरता को आधार बनाया गया था, साथ ही पूर्ण सतर्कता से विवाद को जाने के उपरान्त ही दिव्य का प्रयोग किया जाता था। मनु के अनुसार जिसे अग्नि में जलाये जाने प्रदीप्त अग्नि जलाती नहीं है, जल में डूबोये जाने पर जल जिसे डूबोता नहीं है तथा जो शीघ्र दुखों को प्राप्त नहीं करता है उसे शपथ प्रक्रिया में पवित्र समझा जाता है। जैसे- वत्स नामक ऋषि पर बैमात्र नामक उनके अनुज ने अधर्मज्ञ होने का आरोप लगाया था तब दोषारोपण के मुक्तार्थ उनकी अग्नि परीक्षा ली गयी थी जिसमें अग्निदेव उनका एक रोम भी नहीं जला पाये क्योंकि वत्स पर लगा आरोप असत्य था।[884]

6.7 दिव्य प्रमाण संबंधी नियम-

6.7.1 दिव्य प्रमाण का उपयोग-

दिव्य प्रमाण का प्रयोग सभी विवादों (व्यवहारपदों) में नहीं किया जाता था। धर्मशास्त्राकारों ने उन विशेष विवादों भी का निर्धारण किया जिनमें सत्य-असत्य का परीक्षण दिव्यों द्वारा किया जाता था। हालांकि इस पर धर्मशास्त्रकारों की वैचारिक मत भिन्नता है जो इस प्रकार है-

---

[880] बृहस्पतिस्मृति ८/८२-९१

अधुना संप्रवक्ष्यामि धर्माधर्मपरीक्षणम् । हन्तणां याचमानानां प्रायश्चित्तार्थिनां नृणाम् इति ॥ पितामह, याज्ञवल्क्यस्मृति, दिव्यप्रकरण, मिताक्षरा, पृ.२६४

[881] आयसं द्वादशपलं घटितं फालमुच्यते। अष्टाङ्गुलं भवेद्दीर्घ चतुरङ्गुलविस्तृतम् ॥

अग्निवर्णं तु तच्चोरो चिह्वया लेहयेत्सकृत । न दग्धश्चेच्छुद्धिमियादन्यथा तु स हीयते ॥ बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश, व्यवहाराकाण्ड, पृ. ५२२

[882] तत्तायोगोलकं धृत्वा गच्छेन्नव पदं करे। तप्ताङ्गारेषु वा गच्छेत पद्भ्यां सप्त पदानि हि ॥

तप्ततैलगतं लोहमाषं हस्तेन निर्हरेत। सुतप्तलोहपत्रं वा जिह्वया संल्लिहेदपि ॥ शुक्रनीति ४/५/२४१-२४२

[883] बृहस्पतिस्मृति ८/३१

[884] मनुस्मृति ८/११५-११६

१. जंगल में या रात्रि में या घर के भीतर घटित हुये विवादों में, साहस अर्थात् बलपूर्वक किये गये अपराधों में, स्तेय में, न्यास (धरोहर) के अस्वीकार करने में तथा स्त्री के चरित्र की पवित्रता संबंधी अपराधों में दिव्य प्रमाण को उचित माना गया था।[885]

२. बड़े एवं गम्भीर अपराधों में दिव्य प्रमाण के द्वारा तथा छोटे एवं साधारण अपराधों में शपथ के द्वारा निर्णय लिया जाता था।[886]

३. याज्ञवल्क्य ने राजद्रोह तथा महापातक जैसे महाभियोग दिव्य प्रमाणों का प्रयोग किये जाने का विधान किया है।[887] शुक्रनीति के अनुसार धरोहर को हथियाने एवं महापातक (ब्रह्महत्या) जैसे मामलों में साक्षियों के होते हुये भी दिव्य का प्रयोग करना चाहिये।[888] महाभियोग दो प्रकार का होता था- १.) शंकित महाभियोग- मानुषी प्रमाण के होने पर भी, यदि वादी एवं प्रतिवादी में किसी प्रकार की शंका हो तो निर्णय के निश्चय हेतु दिव्य प्रमाण का प्रयोग जिस अभियोग में किया जाता था उसे शंकित महाभियोग कहा जाता था। २.) सावष्टम्भ महाभियोग- जिस अभियोग में कोई शर्त निहित हो, जैसे- वादी, प्रतिवादी के अपराध पर यह कहें 'कि अगर दिव्य प्रमाण के द्वारा प्रतिवादी निरपराधी सिद्ध हुआ तो इसका जो भी दण्ड है वह मैं भोगूगा' यह सावष्टम्भ अभियोग होता था।

४. कात्यायन के अनुसार आक्रमण, साहस, वाक्पारुष्य तथा दण्डपारुष्य जैसे बलपूर्वक किये गये विवादों में मानुषी एवं दिव्य दोनों में से किसी भी प्रमाण का प्रयोग किया जा सकता है। शर्त- लेकिन तब जब इन अपराधों का कोई मानुषी प्रमाण न हो।[889]

अपवाद- पितामहस्मृति[890] ने अचल सम्पत्ति संबधी विवादों में तथा बृहस्पतिस्मृति[891] ने वाक्पारुष्य के विवाद में दिव्य प्रमाण को वर्जित माना है।

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि दिव्य प्रमाणों का प्रयोग हिंसामूलक विवादों में किया जाता था। क्योंकि इन गम्भीर विवादों के घटनास्थल पर अधिकांशत: मानुषी प्रमाणों का अभाव होता है।

---

[885] अरण्ये निर्जने रात्रावन्तर्वेश्मनि साहसे। न्यासस्यापह्नवे चैव दिव्या संभवति क्रिया॥ नारदस्मृति २/३०, ४/२४१-२४२
साहसेषु विशेषेण तत्र दिव्यानि दापयेत्। पितामहस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ ९५
गूढसिंहसिकानाम् तु प्राप्तम् दिव्य: पृक्षणम्। याज्ञवल्क्यस्मृति २/२२, मिताक्षरा द्वारा उद्धृत् कात्यायन
शुक्रनीति ४/५/२६१-२६२

[886] महापराधे दिव्यानि दापयेत्तु महीपति:। अल्पेषु तु नृपश्रेष्ठ: शपथै: श्रावयेन्नरम्॥ नारदस्मृति ४/२४९

[887] महाभियोगेष्वेतानि शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९५
विनापि शीर्षकात्कुर्यान्नृपद्रोहेऽथ पातके॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९६

[888] महापापाभिशापेषु निक्षेपहरणेषु च। दिव्यै: कार्यपरीक्षेत राजा सत्स्वपि साक्षिषु॥ शुक्रनीति ४/५/२६३

[889] प्रक्रान्ते साहसे वादे पारुष्ये दण्डवाचिके। बलोद्भवेषु कार्येषु साक्षिणो दिव्यमेव वा।
गूढसाहसिकानां तु प्राप्तं दिव्यै: परीक्षणम्॥ कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ. २३१

[890] स्थावरेषु विवादेषु दिव्यानि परिवर्जयेत्॥ पितामहस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.२३२

[891] वाक्पारुष्ये महीवादे निषिद्धा दैविकी क्रिया॥ बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.२२५

अत: विवाद की गम्भीरता को देखते हुये न्यायार्थ अंतिम प्रमाण के रूप में दिव्य प्रमाण का प्रयोग किया जाता था । इससे उन व्यक्तियों को अपराध करने से रोका जाता था जो अपराध करने पर मानुषी प्रमाण के न होने पर बच जाने की सोच रखते थे ।

6.7.2 दिव्य प्रयोग का स्थान-

दिव्य प्रमाण से दिव्यधारक की प्रमाणिकता को परखने हेतु विशेष स्थान की व्यवस्था की गई थी । जिसमें गम्भीर अपराधों के लिए प्रसिद्ध मन्दिरों में, राजद्रोह के लिए राजद्वार पर, वर्णसंकरो के लिए चौराहे पर तथा अन्य अतिरिक्त अपराधों के लिए न्यायालय में दिव्य प्रमाण का प्रयोग किया जाता था ।[892] दिव्यों में से तुला दिव्य का प्रयोग उक्त स्थानों में से सब पर किया जा सकता था अर्थात् तुला को मन्दिरों में, राजद्वार पर, चौराहे पर तथा न्यायालयों में रखा जाता था ।[893]

इस प्रकार दिव्यों से परीक्षण के लिए सार्वजनिक स्थानों का प्रयोग किया जाता था । इसका उद्देश्य सामान्य जनमानस में उस अपराध विशेष के लिए भय को पैदा करना होता था । इससे अन्य सामान्यजन में उस अपराध के लिये निर्धारित की गई दिव्यविधि को देखकर, अपराध के प्रति निवृत्ति की भवना पैदा होती थी, जो समाज में शान्ति बनाये रखे के लिए आवश्यक थी ।

6.7.3 वर्णानुक्रम में दिव्य प्रमाण-

दिव्य प्रमाण के प्रयोग में तात्कालिक समय की सामाजिक वर्णाव्यवस्था को स्वीकार किया जाता था । पृथक्-पृथक् वर्णों के लिए पृथक्-पृथक दिव्यप्रमाणों के प्रयोग किया जाता था । याज्ञवल्क्य[894] एवं बृहस्पति[895] के अनुसार ब्राह्मण का तुला दिव्य से, क्षत्रिय का अग्नि दिव्य से, वैश्य का जल दिव्य से तथा शूद्र का विष दिव्य से परीक्षण करना चाहिए । नारद भी याज्ञवल्क्य के इस मत से सहमत है और साथ ही ब्राह्मण के लिये विष दिव्य और क्षत्रिय के लिए लोह दिव्य को वर्जित मानते हुए, कोश दिव्य को सभी वर्णों के लिए उपयुक्त माना है ।[896]

परन्तु कात्यायन ने दिव्य प्रमाण का वर्णों के अनुसार विभाजन नहीं किया और यह माना कि सभी दिव्यों का प्रयोग सभी वर्णों के लिये किया जा सकता है । लेकिन विष दिव्य का प्रयोग केवल ब्राह्मण पर नहीं किया जा सकता है अर्थात् कात्यायन ने भी परोक्ष रूप से केवल उस ब्राह्मण को ही विष दिव्य से मुक्त रखा है जो अपने वर्णधर्म का न्यायोचितढंग से पालन करता है ।[897]

---

[892] इन्द्रस्थानेऽभिशस्तानां महापातकिनां नृणाम् । नृपद्रोहप्रवृत्तानां राजद्वारे प्रयोजयेत् ।
प्रातिलोम्यप्रसूतानां दिव्यं देयं चतुष्पथे । अतोऽन्येषु तु कार्येषु सभामध्ये विदुर्बुधा: ॥ कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ. ४६०

[893] नारदस्मृति ४/२६५

[894] अग्निर्जलं वा शूद्रस्य यवाः सप्त विषस्य वा ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९८

[895] ब्राह्मणस्य धटो देयः क्षत्रियस्य हुताशनः । वैश्यस्य सलिलं देयं शूद्रस्य विषमेव तु ॥ बृहस्पतिस्मृति, व्यवहारकाण्ड ८.१२

[896] ब्राह्मणस्य घटो देय: क्षत्रियस्याग्निरुच्यते ॥ नारदस्मृति ४/३३४-३३६

[897] राजन्येऽग्निं घटं विप्रे वैश्ये तोयं नियोजयेत् । सर्वेषु सर्वदिव्यं वा विषं वर्ज्यं द्वियोत्तमे ॥ कात्यायन ४२२

क्रम	वर्णानुक्रम में दिव्य प्रमाण	प्रयोग	निषेध
१.	ब्राह्मण के लिए	तुला दिव्य	विष दिव्य
२.	क्षत्रिय के लिए	अग्नि दिव्य	
३.	वैश्य के लिए	जल दिव्य	
४.	शूद्र के लिए	विष दिव्य, तप्तफाल दिव्य[898]	
शूद्र के लिए निर्धारित दिव्य को ही- उच्च जाति के चरवाहों, व्यापारियों, शिल्पकारों, भाटों, नौकरों एवं सूदकखोरों पर प्रयोग करना चाहिए ।[899]			

6.7.4 ऋतु भेद से दिव्य प्रमाण का प्रयोग एवं निषेध-

दिव्य प्रमाण का प्रयोग किये जाते समय धर्मशास्त्रकारों ने ऋतुओं को भी ध्यान में रखा था क्योंकि ऋतुओं की प्रकृति से दिव्य विधि प्रभावित हो सकती थी । जैसे- तुला विधि के लिए शिशिर ऋतु को उपयुक्त माना गया था, क्योंकि इस ऋतु में तेज हवाओं के न चलने और मौसम के शान्त रहने से तुला के दोलन में स्थिरता बनी रहती है । इसलिये धर्मशास्त्रकारों ने ऋतु भेद से दिव्य प्रमाणों के प्रयोग एवं निषेध का निर्धारण किया । नारद ने ऋतु भेद से दिव्य विधि का उल्लेख करते हुए कहा है कि वर्षा ऋतु में अग्निदिव्य से, शिशिर ऋतु में घटदिव्य से तथा शीत ऋतु में विषदिव्य से परीक्षण करना चाहिए ।[900] इसी प्रकार मिताक्षराकार ने सभी स्मृतिकारों के कथनों को सम्मिलित करते हुए कहा है कि- शिशिर-हेमन्त-वर्षा ऋतु में अग्नि दिव्य का, शरद्-ग्रीष्म ऋतु में जल दिव्य का, हेमन्त-शिशिर ऋतु में विष दिव्य का और सभी ऋतुओं में कोश एवं तुला दिव्य का प्रयोग करना चाहिए ।[901]

विष्णु धर्मसूत्र ने विभिन्न ऋतुओं में निषिद्ध दिव्यविधि का निर्देश करते हुए कहा कि वर्षा ऋतु में विषदिव्य का, शिशिर-ग्रीष्म ऋतु में अग्निदिव्य का, शीत-हेमन्त ऋतु में जलदिव्य का, तेज वायु में तुलादिव्य का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिये ।[902] नारद भी विष्णु के इस विचार को स्वीकार करते हैं ।[903]

---

[898] शूद्रस्य फालं दातव्यम् । गौतमधर्मसूत्र, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.४४३

[899] गोरक्षकान् वाणिजकांस्तथा कारुकुशीलवान् । प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव ग्राहयेच्छूद्रवद्विजान् ॥ कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहाराकाण्ड, पृ. ४५९

[900] वर्षासु बह्निरित्युक्त: शिशिरे तु घट: स्मृत: । ग्रीष्मे सलिलमित्युक्तं विषं काले तु शीतले ॥ नारदस्मृति ४/२५४

[901] याज्ञवल्क्यस्मृति २/९७ मिताक्षरा

[902] सा च न वाति वायौ । विष्णुधर्मसूत्र ९/२४
शरद् ग्रीष्मयोश्च । विष्णुधर्मसूत्र ९/२६
प्रावृषि च । विष्णुधर्मसूत्र ९/२८

ऋतु	प्रयोग	निषेध
वर्षा ऋतु में	अग्नि दिव्य	विष दिव्य
शिशिर ऋतु में	घट दिव्य	अग्नि दिव्य
ग्रीष्म ऋतु में	जल दिव्य	अग्नि दिव्य
शीत/हेमन्त ऋतु में	विष दिव्य	जल दिव्य
तेज वायु में	---	तुला दिव्य

इस प्रकार ऋतुओं के अनुसार दिव्यविधि के प्रयोग एवं निषेध के पीछे यह तर्क हो सकता है कि इन ऋतुओं की प्रकृति की समानता दिव्य प्रमाणों की प्रकृति से नही होनी चाहिये। ऋतुओं को दिव्यों से विपरीत प्रकृति (स्वभाव) वाला होने पर ही स्वीकार किया गया था अर्थात् दोनों (ऋतु एवं दिव्यविधि) की प्रकृति में समानता हुई तो वह दिव्य उस ऋतु विशेष में निषिद्ध होता था और यदि दोनों की प्रकृति में असमानता हुई तो वह दिव्य उस ऋतु में उपयुक्त होता था। जैसे- ग्रीष्म ऋतु में जलदिव्य उपयुक्त था और अग्निदिव्य निषिद्ध था, क्योंकि ग्रीष्म ऋतु स्वभाव में उष्ण होती है। अत: इसमें विपरीत स्वभाव वाले दिव्य (जलदिव्य) का प्रयोग किया जाता था और समान स्वभाववाले दिव्य (अग्निदिव्य) निषिद्ध होता था।

6.7.5 परिस्थिति विशेष में दिव्य प्रमाण का निषेध-

धर्मशास्त्रकारों ने दिव्य का प्रयोग किये जाते समय व्यक्तियों की स्थितियों का भी ध्यान रखा था। उन विशेष परिस्थितियों में किस दिव्य का प्रयोग किस व्यक्ति के साथ किया जाना चाहिये के बारे में विस्तार से उल्लेख किया है।

नारद ने आर्तों का जल दिव्य से, पित्त रोगियों का विष दिव्य से, अन्धे-रिवत्री-कुनखों का अग्नि दिव्य से,[904] नास्तिक-दास-कुत्सित-व्रात्य-क्लीब का कोश दिव्य से,[905] तथा बालक-रोगी-स्त्री-वृद्धजन का तुला-अग्नि-विष दिव्य से परीक्षण न करने का निर्देश किया।[906] साथ ही व्रतधारियों, विपत्तिजनों, रोगियों, तपस्वियों तथा स्त्रियों के लिए सभी दिव्यों का प्रयोग निषिद्ध किया।[907]

हेमन्तशिशिरयोश्च। विष्णुधर्मसूत्र ९/३०
न देशे व्याधिमरकोपसृष्टे च। विष्णुधर्मसूत्र ९/३२

[903] न शीते तोयशुद्धि:... न तुलां नृणाम्॥ नारदस्मृति ४/२५९

[904] नार्तानां तोयशुद्धि: स्यान्न विषं पित्तरोगिणाम्। श्वित्र्यन्धकुनखानां च नाग्निशुद्धिर्विधीयते॥ नारदस्मृति ४/२५५

[905] महापराधे निधर्मे कृतघ्ने क्लीवकुत्सिते। नास्तिकव्रात्यदासेषु कोशपानं विवर्जयेत्॥ नारदस्मृति ४/३३२

[906] न मज्जनीयं स्त्रीबालं धर्मशास्त्रविशारदै:। रोगिणश्चापि वृद्धाश्च पुमांसो ये च दुबला:॥
निरित्साहान् रुजा क्लिष्यनार्ताश्च न निभज्जयेत्। सद्यो म्रियन्ते मज्जन्त: स्वल्पप्राणा हि ते स्मृता॥ नारदस्मृति ४/३१३-३१४

[907] सव्रतानां भृशार्तानां व्याधितानां तपस्विनाम्। स्त्रीणां च न भवेद्दिव्य यदि धर्मस्त्ववेक्षते॥ नारदस्मृति ४/२५६

परन्तु मिताक्षराकार ने स्त्रियों एवं अल्पव्यवस्कों का तुला एवं कोश दिव्य से परीक्षण किये जाने का निर्देश किया है ।[908] कात्यायन के अनुसार लौहारों के लिये अग्नि दिव्य का, जल से जीविकापर्जनकर्ताओं (गोताखोर, नाविक) के लिये जलदिव्य का, तान्त्रिक-योगीयों के लिये विष दिव्य का तथा मुख रोगीयों के लिये तण्डुल दिव्य का प्रयोग निषिद्ध है ।[909] पितामह ने कुष्टरोगीयों का अग्निदिव्य से, कफ-अस्थमा-श्वास पीड़ितों का जलदिव्य से, पित्त रोगियों का विष दिव्य से, जुआरी-शराबी-नास्तिकों का कोश दिव्य से परीक्षण न करने का निर्देश दिया ।[910]

परिस्थिति	**निषिद्ध**
कफ, अस्थमा, श्वास पीड़ितों, जल से जीविकापर्जनकर्ता को[911]	जल दिव्य
पित्त रोगियों, तान्त्रिक, योगी, मंत्रप्रयोगकर्ता को[912]	विष दिव्य
अन्धे, रिवत्री, कुनख, कुष्ठरोगीयों, दुर्बलव्यक्ति, लोहाकार को[913]	अग्नि दिव्य
नास्तिक, दास, कुत्सित, व्रात्य, क्लीब को[914]	कोश दिव्य
बालक, रोगी, स्त्री, वृद्धजन, उत्साहहीन, आर्त्त, ब्राह्मण को[915]	तुला दिव्य
व्रतधारियों-विपत्तिजनों-रोगियों-तपस्वियों-स्त्रियों को	सभी दिव्य का प्रयोग निषिद्ध
माता, पिता, द्विज, गुरु, बालक, स्त्री, राजद्रोही, महापातक, नास्तिक (विशेषरूप से) को स्वयं दिव्य ग्रहण नहीं करना चाहिए, बल्कि इनके स्थान पर इनके द्वारा नियुक्त व्यक्ति या संबंधी को ही दिव्य ग्रहण कराना चाहिये ।[916] यदि वह नियुक्त व्यक्ति दिव्य परीक्षा में निर्दोष सिद्ध होता था तो उस नियुक्तकर्ता को शुद्ध माना जाता था अन्यथा दोषी । इसमें नियुक्त व्यक्ति का साधु गुणों से युक्त होना आवश्यक होता था ।	

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि इन परिस्थितियों में निषिद्ध दिव्य के पीछे कोई-न-कोई व्यवहारिक कारण अवश्य है जिसके कारण उस दिव्य विशेष का प्रयोग उस परिस्थिति विशेष में नहीं किया गया था । जैसे-

---

908 याज्ञवल्क्यस्मृति २/९८ मिताक्षरा

909 न लोहशिल्पिनामग्निं सलिलं नाम्बुसेविनाम् । मन्त्रयोगविदां चैव विषं दद्याच्च न क्वचित् ।
तण्डुलैर्न नियुञ्जीत व्रतिनं मुखरोगिणम् ॥ कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.४६०

910 कुष्टिनां वर्जयेदग्निं... ये च नास्तिकवृतय: ॥ पितामह, स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ २४१

911 न श्लेष्मव्याध्यर्दितानां भीरूणां श्वासकासिनामम्बुजीविनां चोदकम् । विष्णुधर्मसूत्र ९/२९

912 न कुष्ठिपैत्तिकब्राह्मणानां विषं देयम् । विष्णुधर्मसूत्र ९/२७

913 न कुष्ठसमर्थलोहकाराणामग्निर्देय: । विष्णुधर्मसूत्र ९/२५

914 न नास्तिकेभ्य: कोशो देय: । विष्णुधर्मसूत्र ९/३१

915 स्त्रीब्राह्मणविकलासमर्थरोगिणां तुला देया । विष्णुधर्मसूत्र ९/२३
तुला स्त्रीबालवृद्धान्धपङ्गुब्राह्मणरोगिणाम् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९८

916 मातापिताद्विजगुरुबालस्त्रीराजघातिनाम् । महापातकयुक्तानां नास्तिकानां विशेषत:॥
एतैरेव नियुक्तानां साधूनां दिव्यमर्हति । नेच्छन्ति साधूनां यत्र तत्र शोध्य: स्वकैर्नर: ॥ कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहाराकाण्ड, पृ. ४५९,४६०

जल दिव्य का प्रयोग जल से जीविका चलाने वाले गोताखोरों, नाविकों के लिये निषिद्ध था क्योंकि इन लोगों को जल के अन्दर बहुत समय तक रहने का अभ्यास होता है और जल दिव्य कफ-अस्थमा-श्वास पीडितों के लिये भी निषिद्ध था क्योंकि ये लोग तो इस दिव्य के प्रयोग के समय ही मर सकते हैं।

विष दिव्य का परीक्षण तान्त्रिकों, योगियो एवं मन्त्रकर्ताओं पर नहीं किया जाता था क्योंकि ये व्यक्ति अपनी अन्तर्निहित मन्त्रणा शक्ति से विष के प्रभाव को कम या खत्म कर सकते हैं।

अग्नि दिव्य का प्रयोग लौहार पर इसलिये नहीं किया जाता था क्योंकि लौहार का कार्य अग्नि से संबंद्ध होने के कारण शायद उस पर अग्नि का विशेष प्रभाव न दिखे और साथ ही कुष्टरोगी पर इसलिये नहीं किया जाता था क्योंकि इन रोगीयों को अग्नि का कष्ट सामान्य व्यक्ति के समान अनुभव नहीं होता है।

कोष दिव्य से जुआरी-शराबी-नास्तिकों को इसलिये मुक्त रखा जाता था क्योंकि इन लोगों का ईश्वर पर न तो विश्वास होता है और न ही इन्हें सामाजिक अपमान का भय होता है।

तण्डुल दिव्य का प्रयोग मुखरोगीयों के लिए इसलिए वर्जित था क्योंकि चावल का रंग मुख रोग (पायरिया) के कारण बदल सकता है।

अत: व्यवहारिकता को ध्यान में रखते हुए एवं उचित न्याय प्रदान करने के लिये धर्मशास्त्रकारों ने दिव्य प्रमाण के प्रयोग में इन बारीकियों को समझा और निर्देश किया।

6.7.6 शपथ-

याज्ञवल्क्य ने दिव्य प्रमाण के अन्तर्गत शपथ को माना है। इसके अन्तर्गत शपथ लेने वाले व्यक्ति को पहले दिन उपवास कराया जाता था तथा उसके अगले दिन सूर्योदय के समय वस्त्र सहित स्नान कराकर न्यायालय में बुलाया जाता था। न्यायालय में उस शपथ ग्रहण करने वाले व्यक्ति की राजा, सभासद एवं ब्राह्मणों के समक्ष अनेक शपथों एवं दिव्यों द्वारा परीक्षा ली जाती थी। यह तभी होता था जब अभियोग का कोई साक्षी नहीं होता था।[917]

6.8 दिव्य प्रमाण का महत्व-

दिव्य प्रमाण में व्यक्ति के अपराधित्व की परीक्षा कठोर विधियों से ली जाती थी। इसलिए अपराधी दिव्य विधि को करने से पूर्व ही भयभीत होकर अपने अपराध को स्वीकार कर लेता था। लेकिन जो अपराधी होते हुए भी अपने को छिपाता था वह दिव्य की कठोर विधियों के परीक्षण में सदा शंकित होते रहने पर विधियों के मध्य ही अपने असामान्य हाव-भाव को प्रकट कर देता था। ये असामान्य हाव-भाव उसके अपराध को प्रमाणित कर देते थे। इसलिए इस विधि का

---

[917] सचैलं स्नातमाहूय सूर्योदय उपोषितम्। कारयेत्सर्वदिव्यानि नृपब्राह्मणसंनिधौ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९७
नारदस्मृति ४/२४७

मनोवैज्ञानिक महत्त्व था। इन नौ दिव्यों के विश्लेषण करने पर यह विचार सामने आता है कि इनमें केवल ३ दिव्य ही प्रमुख थे-अग्नि, जल और विष, बाकि अन्य का संबंध इन्ही तीनों से था।

धर्मसूत्र एवं स्मृतिकाल में दिव्य प्रमाण का संबंध आध्यात्मिक मूल्यों के साथ होता था। जिसके अन्तर्गत दोषी व्यक्ति जब दिव्य को ग्रहण करता था तब विभिन्न दैवीय शक्तियों (जल, विष) को साक्षी मानता था और अपने आप को निर्दोष सिद्ध करने एवं उस वास्तविक सत्य को प्रकट करने के लिए प्रार्थना करता था जिसे अन्य मनुष्य नहीं जानता। जैसे- अभियुक्त द्वारा अग्नि से प्रार्थना की जाती है- "हे अग्नि! तुम साक्षी के समान सभी मनुष्यों के शरीर में विद्यमान हो। तुम सत्य को जानती हो, जो दूसरे जन नहीं जानते। तुम ही संशय को दूर करने में समर्थ हो"। इसलिये तात्कालिक समय में जनमानस पर आध्यात्मिक मूल्यों की प्रबलता के कारण व्यवहारप्रक्रिया में दैविक प्रमाणों का प्रभाव पडना स्वाभाविक था।

वर्तमान समय में यह दिव्य प्रमाण अन्यायोचित एवं अतार्किक लगता है। किन्तु यदि यह सोचा जाये कि वर्तमान न्यायव्यवस्था में कोई विवाद ऐसा उपस्थित हो जाये, जिसमें पीडित के पास स्वयं की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए कोई प्रमाण (साक्ष्य) न हो, तब क्या होगा?

तब वर्तमान न्यायव्यवस्था के अनुसार प्रमाणों के अभाव में असली अपराधी बच जायेगा और वास्तव में निर्दोष व्यक्ति को झूठे आरोप लगाने के कारण सजा का पात्र माना जायेगा और सजा भी दी जायेगी। ऐसी स्थिति में पीडित व्यक्ति ईश्वरीय न्याय के बारे में विस्मरण करता है। इस स्थिति में प्राचीन दैवीय प्रमाण का औचित्य महसूस होगा और इसकी प्रमाणिकता पर भी किञ्चित विश्वास होगा। क्योंकि दिव्य प्रमाण में प्रयोग की जाने विधियां लोगों के धार्मिक विश्वास से जुडी हुई है जिनसे व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। अन्ततः अपने अपराध को स्वीकार भी कर लेता है। इसलिए दिव्य प्रमाण का प्रयोग अंतिम विकल्प के रूप में किया जाता था, जब कोई मानुषी प्रमाण नहीं होता था। अर्थात् जब किसी विवाद में कोई मानुषी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता था तब न्यायार्थ अंतिम विकल्प के रूप में सत्यता को प्रमाणित करने के लिए दिव्य प्रमाण का प्रयोग किया जाता था।

धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था एवं भारतीय साक्ष्य अधिनियम की समीक्षा

अध्याय - 7

धर्मसूत्र-स्मृतियों की प्रमाण व्यवस्था एवं भारतीय साक्ष्य अधिनियम की समीक्षा

धर्मसूत्र-स्मृतियों अर्थात् धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था एवं भारतीय साक्ष्य (प्रमाण) अधिनियम का सम्बन्ध तात्कालिक समय में प्रचलित विधि व्यवस्थाओं से हैं। इसी तात्कालिकता की वजह से इन दोनों प्रमाण व्यवस्थाओं में विषमता का समावेश हो जाता हैं। इन विषमता के बावजूद भी आज यह प्रमाण व्यवस्था विधि का मुख्य आधार है। प्रमाणों के अभाव में विवाद के निर्णय की स्थिति तक पहुंचना धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था के समान आज की आधुनिक विधि में भी दुष्कर कार्य है। (विधि शब्द संस्कृत के वि√धा+ कि अथवा वा√विधि+इन् शब्दों से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है- कार्य करने की रीति, प्रणाली, ढंग, आज्ञा, आचरण, व्यवहार-सृष्टि। इस अर्थ में विधि से तात्पर्य उन न्यायिक आज्ञाओं से है जिसके तहत आचरण या कार्य किया जाता है।[918]) धर्मशास्त्रीय न्यायिक विधि का स्वरूप एक ही था, वह ही मौलिक विधि होने साथ प्रक्रियात्मक विधि भी थी। परन्तु आधुनिक विधि को इन दो स्तरों पर विभजित किया गया है। १. मौलिक विधि (Substantive Law)– मौलिक विधि वह विधि है, जिसके अंतर्गत व्यक्तियों के अधिकार और दायित्व बताये जाते हैं कि किसी व्यक्ति का क्या अधिकार है और क्या दायित्व है। जैसे- संविदा अधिनियम, संपत्ति अंतरण अधिनियम, हिन्दू विधि, मुस्लिम विधि, भारतीय दण्ड संहिता आदि मौलिक विधियाँ हैं। २. प्रक्रिया विधि (Procedural Law)– प्रक्रिया विधि को कार्य विधि भी कहा जाता है। किसी मौलिक विधि को कैसे लागू किया जाये, यह कार्य विधि पर निर्भर करता है। इसके अंतर्गत प्रक्रिया के नियम, अभिवचन के नियम तथा सबूत (प्रमाण) सम्बन्धी नियम होते हैं। सबूत, प्रमाण का परिणाम होता है।

विधि के आधाररूप प्रमाण की उपयोगिता को जानने के लिए आवश्यक है कि आखिर क्यों प्रमाण को विधि में वरीयता ज्यादा दी गई?– क्योंकि प्रमाण के माध्यम से ही किसी भी मुकदमे के पक्षकारों एवं विपक्षकारों को अपना-अपना पक्ष साबित कर सकने में सहायता मिलती है, जिससे न्यायालय को अनावश्यक रूप से भटकना नहीं पडता और कम समय में ही प्रमाण के आधार पर न्यायालय किसी निष्कर्ष पर पहुँच जाता है इसलिए प्रमाण की आवश्यकता पड़ती है। मुख्य रूप से प्रमाण की अवश्यकता दो बातों के लिए पड़ती है –१. किसी विवादित तथ्य को सुनिश्चित करने के लिए, २- साबित करने के लिए।

[918] संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ.१०६२

प्रमाण विधि कैसी विधि है ?- प्रमाण विधि देशकारी विधि (Lex Fori) है अर्थात् जिस देश में मुकदमा चल रहा है, उस देश की विधि लागू होती है। इसके अंतर्गत यह देखा जाता है कि- १- क्या कोई साक्षी है अथवा नहीं, २- क्या कोई विषय साबित किये जाने के लिए आवश्यक है अथवा नहीं।

7.1 धर्मशास्त्रीय प्रमाण (साक्ष्य) व्यवस्था का परिचय-

धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था का प्रारम्भ वेदों से माना जाता है। परन्तु वेदकालीन प्रमाण व्यवस्था सुनिश्चित नहीं थीं केवल जहां-तहां इसका संक्षेप या नाममात्र उल्लेख मिलता है। किन्तु धर्मसूत्रों तक आते हुये अर्थात् वेदांगों में एक अंग कल्प के चतुर्थ भेदों में से एक धर्मसूत्र है जो धर्म एवं व्यवहारिक राज्य संचालन के लिए व्यवहार की बात करता है। धर्मसूत्र का प्रतिपाद्य विषय- आचार, व्यवहार तथा प्रायश्चित है। जिसमें व्यवहार विषय प्रमाण व्यवस्था को उल्लेखित करता हैं। यह प्रमाण व्यवस्था स्मृतिकाल तक ओर भी सुनियोजित एवं व्यवस्थित हो गई, जिसमें न केवल अपराध के प्रमाणों का, बल्कि एक सुव्यवस्थित प्रमाण प्रक्रिया का भी भलीभांति ज्ञान होता हैं। जो वर्तमान की प्रमाण (साक्ष्य) व्यवस्था से कुछ हद तक मेल खाती हैं।

धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था जिसका विकास काल धर्मसूत्रों अर्थात् ६००-२०० ई. पू. से माना जाता हैं। जिसमें अपराध एवं प्रमाण की व्यवस्था बन चुकी थी, क्योंकि गौतम धर्मसूत्र (६००-४००ई.पू.), आपस्तम्ब धर्मसूत्र (६००- ४००ई.पू.), बौधायन धर्मसूत्र (६००- ४००ई.पू.) आदि धर्मसूत्रों में अपराध, दण्ड, साक्षी, व्यभिचार, भ्रूणहत्या, स्तेय, पैतृक सम्पत्ति का विभाजन, नियमों के उल्लंघन पर दण्ड, विवादों का निर्णय आदि विषय विद्यमान थे। पर इनका स्पष्टत: आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित में अध्याय विभाजन नहीं किया गया था।

परन्तु कौटिल्य विरचित अर्थशास्त्र (३०० ई.पू.) में प्रमाण व्यवस्था धारा प्रवाह के समान व्यवस्थित क्रम में उपलब्ध हो गई थीं। अर्थशास्त्र के १५ अधिकरणों में से ३ अधिकरण- धर्मस्थीयाधिकरण एवं ४ अधिकरण- कंटकशोधन में न्याय शासन, विधि नियम, व्यवहार, प्रमाण/प्रमाणों, विभिन्न अपराध एवं उनके दण्डों का निर्धारण किया गया। कौटिल्य के युग तक सामाजिक स्थिति में बड़ा परिवर्तन हो चुका था और राजशक्ति का विकास केन्द्रीय शक्ति के रूप में हो रहा था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजतंत्रात्मक व्यवस्था का समर्थन किया गया हैं। इस व्यवस्था में 'राजा' संविधान की धुरी एवं राजनीतिक जीवन का केन्द्रस्थल होता था। वस्तुतः राजपद में ही संप्रभुता निहित थी। अर्थशास्त्र में सर्वोच्च विधायिनी संस्था सभा का कोई वर्णन नहीं मिलता हैं फलतः आदेश जारी करना और कानून निर्माण करना राजा का ही कर्तव्य होता था जिसका एक मात्र उद्देश्य जनसुरक्षा की स्थापना करना था।

कौटिल्य ने व्यवहारपद के लिए "विवादपद" का प्रयोग किया है।[919] कौटिल्य के अनुसार कानून के चार स्रोत थे- धर्म, व्यवहार, चरित्र और शासन, जिनमें पूर्व की अपेक्षा बाद वाले स्रोतों का उच्च

[919] अर्थशास्त्र ३/१६;४/७

स्थान था ।[920] अर्थशास्त्र में राजाज्ञा को कानून के अन्य स्रोतों में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया हैं। कौटिल्य के अनुसार परम्परा और धर्मशास्त्र दोनों की सहायता से विवादों का निर्णय करना चाहिए किन्तु मतभेद की स्थिति में धर्मशास्त्रों को ही प्रमाण मानना चाहिए ।[921] इसी प्रकार यदि राजा के धर्मानुकूल शासन का धर्मशास्त्र से विरोध हो जाये तो ऐसी स्थिति में राजशासन को ही प्रमाण मानना चाहिए ।[922] अतः स्पष्ट हो जाता हैं कि अर्थशास्त्र की राज्य व्यवस्था में विधायिका के अभाव में 'राजा' को विधि निर्माण संबंधी विस्तृत शक्तियाँ प्राप्त थी ।

राजा न्याय कार्य का संपादन स्वयं तथा न्यायाधीशों की सहायता से करता था । धर्मोपधा रीति से परीक्षित अमात्यों को राजा ही धर्मस्थीय (दीवानी) एवं कंटकशोधन (फौजदारी) न्यायालयों में न्यायाधीश के रूप में नियुक्त करता था ।[923] राजा के नीचे धर्मस्थीय (दीवानी) एवं कंटकशोधन (फौजदारी) न्यायालय होते थे । जिनमें तीन धर्मस्थ एवं तीन अमात्य एक साथ दीवानी संबंधी विवादों का निर्णय करते थे ।[924] इसी प्रकार तीन प्रदेष्टा और तीन आमात्यों द्वारा कंटकशोधन संबंधी विवादों का निपटारा किया जाता था ।[925]

कौटिल्य ने लौकिक न्यायिक विभाग का नाम धर्मस्थीय रखा जिसके कार्यक्षेत्र से स्पष्ट होता हैं कि धर्मशास्त्रों के विधि संबंधी विषय उसमें आते हैं । न्यायालय में धर्मस्थों (न्यायाधीश) के साथ आमात्यों को रखने का प्रयोग जनजीवन एवं न्यायिक प्रशासन के शासकीय रूप दोनों में वास्तविक समन्वय स्थापित करना था । व्यवहारपदों का फैसला धर्मस्थों के द्वारा किया जाता था । इसी प्रकार कंटकशोधन में भी सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक एकात्मकता स्थापित की गई । इसके माध्यम से समाजकंटकों एवं राष्ट्रकंटकों के उन्मूलन का प्रयास किया गया। सामाजिक एवं राष्ट्रीय हित की अवहेलना कर अपने स्वार्थ की पूर्ति करने वालों को 'कंटक' कहा गया, उनसे समाज एवं राष्ट्र की रक्षा करना इस न्यायालय का कार्य होता था, इसीलिए इसे कंटकशोधन कहा गया । कंटकशोधन के अन्तर्गत ही विभिन्न विवादपदों के दण्डों की चर्चा की गई है । कंटकशोधन वाले अभियोग राजा अथवा राजकर्मचारियों द्वारा उपस्थित किये जाते थे और वे राज्य से सम्बन्धित होने के कारण फौजदारी माने जाते थे ।[926]

इसके अतिरिक्त ग्रामसभाओं के माध्यम से भी निर्णय होता था । ग्राम सभाओं में राज्य की ओर से न्यायाधीशों की नियुक्ति नहीं होती थी । गाँव के किसान, गोपालक, वृद्ध एवं अन्य अनुभवी पुरूष एक या एकाधिक निर्णय करते थे ।[927] इन सभाओं के कार्यक्षेत्र में घर, बाग, खेत, सीमाविवाद,

---

[920] अर्थशास्त्र ३/५१

[921] अर्थशास्त्र ३/५६

[922] अर्थशास्त्र ३/५७

[923] अर्थशास्त्र १/१०/२०

[924] अर्थशास्त्र ३/१

[925] अर्थशास्त्र ४/१

[926] अर्थशास्त्र ४/१

[927] अर्थशास्त्र ३/९/१२

तालाब और बाँध सम्बंधी अपराध थे । क्षेत्र की सीमा का विवाद ग्राम वृद्धों की सभा करती थी । यदि उनमें मतभेद हो जाये तो धार्मिक एवं पवित्र व्यक्ति जिन्हें प्रजा स्वीकार करती हो, वे निर्णय कर सकते थे । इनके विकल्प में पंचनिर्णय की व्यवस्था थी ।[928] इनसे निर्णय न होने पर राज्य हस्तक्षेप कर सम्पत्ति अपने अधिकार में ले लेता था । ग्रामों एवं अन्य सभाओं के साथ परिषदें भी न्याय करती थी । इनके कार्यक्षेत्र में जातीय विवाद आते थे।[929] अर्थशास्त्र में देरी से न्याय को अच्छा नहीं कहा गया । यहाँ तक अनुचित दण्ड देने वाले न्यायाधीश भी दण्डित हो सकते थे ।[930] कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में न्यायिक व्यवस्था के संबंध में यथार्थवादी न्यायपालिका के विकास, राजा के न्यायिक उद्देश्य, न्यायालयों के संगठन, विधि के स्रोत, स्थानीय संगठनों के विधि संबंधी अधिकार आदि का विस्तार से वर्णन किया हैं ।

तदनन्तर स्मृतिकाल में अर्थात् १-२ ई. में अपराधों एवं साक्ष्यों को ओर भी व्यवस्थित रूप प्रदान किया गया इन अपराधों को व्यवहारपद अर्थात् विवाद कहा जाने लगा । वे विवाद थे-- ऋणाधान (ऋण वापस प्राप्त करना), उपनिधि (जमानत), सम्भूयसमुत्थान (सहकारिता), दत्ताप्रदानिक (निश्चित करने के उपरान्त मना करना), अभ्युपेत्य-अशुश्रुषा (सेवा अनुबंध को तोड़ना), वेतनस्यानपाकर्म (काम करवाने पर भी वेतन का भुगतान न करना), अस्वामीविक्रय (बिना स्वामित्व के किसी चीज का विक्रय कर देना), विक्रीयासंप्रदान (बेच कर सामान न देना), क्रीतानुशय (खरीदकर भी सामान न लेना), समयस्यानपाकर्म (निगम श्रेणी आदि के नियमों का भंग करना), सीमाविवाद (सीमा का विवाद), स्त्रीपुंसंयोग (वैवाहिक संबंध के नियम), दायभाग (पैतृक संपत्ति पर उत्तराधिकार एवं विभाजन), साहस (बल प्रयोग), वाक्पारुष्य (मानहानि करना), दण्डपारुष्य (शारीरिक क्षति पहुंचाना), प्रकीर्णक (विविध राजकीय अपराध) और परिशिष्ट (चौर्य एवं दिव्य परिणाम का निरूपण) ।[931] इन २० व्यवहारपदों को निश्चित कर प्रमाण के साथ-साथ व्यवहारप्रक्रिया का भी निर्धारण किया गया ताकि निष्पक्षतापूर्ण न्याय हो सके ।

स्मृतिकाल के बाद ११ वी.-१२ वी. शताब्दी में स्मृतियों के आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित विषय को लेकर अनेक स्वतन्त्र निबन्ध ग्रन्थ लिखे गये । जिसमें व्यवहार को लेकर निम्न ग्रन्थ लिखे गये- 'व्यवहारमयूख' नीलकण्ठ रचित, 'दण्डनीति' विद्यापति, 'विवादचन्द्र' मिसरू मिश्र, 'विवादताण्डव' कमलाकरभट्ट, 'विवादचिन्तामणि' वाचस्पति मिश्र, 'विवादभंगार्णव' जगन्नाथ, 'विवादरत्नाकर' चण्डेश्वर, 'विवादसारार्णव' सर्वोरु शर्मा, 'व्यवहारसौख्य' टोडरमल आदि ।[932]

इस आधार पर यह कहा जा सकता हैं कि भारतीय समाज स्मृतिकाल में अर्थात् प्रथम शताब्दी से तृतीय शताब्दी में भी नियमों पर आधारित सुनियोजित समाज था । तब भी आज के समान

---

[928] अर्थशास्त्र ३/९/१७-१८

[929] अर्थशास्त्र ३/९/१९

[930] अर्थशास्त्र ४/९/४२-४७

[931] काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, उत्तर प्रदेशसंस्थान, लखनऊ, १९९२, पृ,सं. ५५

[932] पाण्डेय, राजेन्द्र प्रसाद, धर्मशास्त्र का इतिहास धर्मद्रुम, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९२, पृ,सं. ६३-१०७

अपराधियों के अपराध का निर्धारण प्रमाण के आधार पर किया जाता था। लेकिन काल परिवर्तन के साथ इन प्रमाण नियमों के स्वरूप में परिवर्तन आया। मुस्लिम शासनकाल में मौखिक और दस्तावेजी प्रमाण देने कि मान्यता थी। गवाहों के हाव-भाव पर विचार किया जाता था तथा परिस्थितिजन्य प्रमाण को भी मान्यता दी गयी थी। मध्यकाल में इस्लाम शासकों के द्वारा धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था में परिवर्तन कर नयी प्रमाण व्यवस्था को लागू किया गया। इस्लाम शासकों के बाद आधुनिक काल में व्यापार उद्देश्य से आने वाले विदेशी व्यापारियों में बिट्रेन द्वारा भारत पर आधिपत्य जमा लेने के बाद बिट्रिश कानूनों को भारत में लागू किया और साथ ही नवीन कानून एवं प्रमाण का निर्माण भी किया जिसमें धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था को आंशिक रूप में स्वीकारा गया।

7.2 भारतीय साक्ष्य अधिनियम का परिचय-

अंग्रेजों के शासनकाल में 1872 तक कलकत्ता, बॉम्बे और मद्रास के न्यायालयों में अंग्रेजी विधि के नियम लागू होते थे और अन्य न्यायालयों में रुढियों के आधार पर गवाही होती थी। एकसमान प्रमाण विधि के सम्बन्ध में अंग्रेजों द्वारा प्रयास किये गये और सर हेनरी मेन महोदय ने भारतीय प्रमाण विधि के सम्बन्ध में ड्राफ्ट तैयार किया जिसे 1871 में जेम्स स्टीफेन महोदय ने पूरा किया जो संसद द्वारा पारित होने के पश्चात् 1 सितम्बर 1872 से भारतीय साक्ष्य अधिनियम के रूप में पूरे भारत में लागू हुआ यह अधिनियम प्रमाण विधि के मूलभूत सिद्धांतों को लागू करते हुए प्रभावी है। प्रमाण विधि के मूलभूत सिद्धांत –

१. सभी मामलों में सर्वोत्तम प्रमाण दिया जाना चाहिए। २. जो भी प्रमाण दिया जाए वह प्रमाण विवादित विषय से सम्बंधित होना चाहिए अर्थात सुसंगत होना चाहिए। ३. अनुश्रुत प्रमाण कोई प्रमाण नहीं है। यद्यपि कुछ आपवादिक परिस्थितियों में अनुश्रुत प्रमाण भी ग्राह्य होता है, जैसे – मृत्युकालिक कथन। ४. प्रमाण विधि लेक्स फोरी विधि है। जिसे देशकालिक विधि कहा जाता है अर्थात जिस देश में सुनवाई हो रही है, वहां की प्रमाण विधि लागू होगी।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम- भारतीय साक्ष्य अधिनियम (Indian Evidence Act) को मूलरूप से 1 सितम्बर 1872 में ब्रिटिश संसद द्वारा पारित किया गया था। भारतीय साक्ष्य अधिनियम में 11 अध्याय और 167 धाराएं हैं। इस अधिनियम ने बनने के बाद से वर्तमान तक की समयावधि में समय-समय पर कुछ संशोधन को छोड़कर अपने मूलरूप को बनाये रखा है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम स्थान की दृष्टि से जम्मू-कश्मीर को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में लागू होता है। वर्तमान समय में भी जम्मू-कश्मीर को प्राप्त विशेष दर्जा होने के कारण यह अधिनियम वहां लागू नहीं है। यदि वहाँ की विधायिका इसके प्रावधानों को लागू करती है, तो लागू होगा अन्यथा नहीं।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम सम्पूर्ण न्यायिक कार्यवाहियों में लागू होता है परन्तु न्यायिक कार्यवाहियों से भिन्न कार्यवाहियों में प्रमाण विधि के नियम लागू नहीं होते है। न्यायिक कार्यवाही जैसाकि धारा 1 में लिखा गया है ऐसी कार्यवाही जिसमें पक्षकारों के अधिकारों और दायित्वों का निर्धारण पीठासीन अधिकारी (जिसे विवेकीय अधिकार भी प्राप्त होते हैं) द्वारा किया जाता है। यह प्रमाणविधि शपथपत्रों पर एवं विभिन्न सेना अधिनियमों के अंतर्गत होने वाली कार्यवाहियों पर लागू नहीं होती है। परन्तु सिविल प्रक्रिया संहिता और आपराधिक प्रक्रिया संहिता के अंतर्गत दिए गये नियमों के अनुसार शपथपत्र प्रमाण के रूप में ग्राह्य होते हैं।[933]

क्या यह अधिनियम एक पूर्ण संहिता है? भारतीय साक्ष्य अधिनियम यद्यपि प्रमाण के नियमों को स्पष्ट रूप से साबित करती है परन्तु पूर्ण संहिता नहीं है। अन्य विधियां इसकी पूर्ति करती है, जैसे- संविदा विधि, अपकृत्य विधि, पारिवारिक विधि, संपत्ति अंतरण अधिनियम या अन्य विधियाँ सहायक के रूप में प्रयोग होती है।

इस प्रकार भारत में प्रारंभ में हिन्दू विधि लागू होती थी। मुगल शासनकाल के बाद मुस्लिम अपराध कानून लागू हुआ लेकिन हिन्दूओं पर हिन्दू विधि और मुस्लिमों पर मुस्लिम विधि व्यवहार प्रकरणो में लागू होती थी। अंग्रेजी शासन काल में, भारत में इग्लैण्ड की तरह सामान्य विधि (कामन लॉ) लागू होती थी। 1935 में भारत सरकार अधिनियम पारित हुआ। जिसमें दिल्ली में संघ न्यायालय फेडरल कोर्ट की स्थापना की गई। जो भारतीय उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनता था। यह सवैधानिक न्यायालय था। जिसके निर्णय के विरुद्ध प्रिवीकोंसिल इग्लेण्ड में अपील होती थी। 1950 में इसे समाप्त कर उच्चतम न्यायालय के रूप में इसकी स्थापना की गई। इनके आधार पर भारतीय विधि का संचालन किया जाता है। इन विधियों में समयानुसार परिवर्तन हुए, लेकिन विधि एवं प्रमाण से संबंधित अनेक धर्मशास्त्रीय नियम आज भी भारतीय विधि में मिलते हैं। कुछ नियमों का तो यथावत् प्रयोग किया जा रहा है, उन समस्त साक्ष्य (प्रमाण) प्रावधानों को आधुनिक प्रमाण या प्रमाण व्यवस्था के माध्यम से प्रकट करना मेरे शोध का मुख्य विषय है।

7.3 धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था एवं भारतीय साक्ष्य अधिनियम का तुलनात्मक अध्ययन-

1. सबूत का भार-

धर्मशास्त्रकारों ने सबूत के भार का निर्धारण प्रतिवादी के उत्तर के आधार पर किया था। यदि प्रतिवादी अस्वीकार/मिथ्या प्रकार का उत्तर देता था तो सबूत का भार वादी पर होता था जिसमें वादी को अपना मत राजा एवं ब्राह्मण के सम्मुख तीन साक्षियों के साथ प्रस्तुत करना पडता था, यदि प्रतिवादी प्राङ्न्याय का उत्तर देता था तो सबूत का भार प्रतिवादी पर होता था और यदि

[933] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 1

प्रतिवादी स्वीकार का उत्तर देता था तो सबूत का भार किसी पर नहीं होता था।[934] याज्ञवल्क्य के अनुसार स्वीकारात्मक उत्तर में सबूत का भार प्रतिवादी पर होता है जो उसको प्रख्यात (स्वीकार) करता है।[935]

भारतीय साक्ष्य अधिनियम की **धारा** 101, 102, 103 के अनुसार की सबूत का भार उस पक्षकार पर होता है जो कोई वाद लेकर आता है। उसका यह वाद आरम्भ से अंत तक बना रहता है। जब कोई व्यक्ति न्यायालय से यह चाहता है कि न्यायालय उसके किसी विधिक अधिकार या दायित्व के बारे में निर्णय कर दे जो उन तथ्यों के अस्तित्व पर निर्भर है जिन्हें वह प्राख्यात करता है अर्थात स्वीकार करता है। उसे यह साबित करना होगा कि उन तथ्यों का अस्तित्व है।[936] उदाहरण के लिए –(१) यदि a यह चाहता है कि न्यायालय b को इस अपराध के लिए दण्डित करें जो अपराध b ने किया है, तो a को यह साबित करना होगा कि b ने वह अपराध किया है। भारतीय साक्ष्य अधिनयम की धारा 105 में यह बताया गया है कि यह साबित करने का भार कि अभियुक्त का मामला अपवादों के अन्तर्गत आता है, उस व्यक्ति पर होता है जो ऐसी परिस्थितियों या अपवादों का लाभ उठाना चाहता है। जैसे- हत्या का आरोपी सुनील यह अभिकथित करता है कि पागलपन के कारण वह उस कार्य की प्रकृति को नहीं जानता था। वह पागलपन के अपवाद का लाभ न्यायालय से प्राप्त करना चाहता है तो ऐसी दशा में सबूत का ये भार उस पर ही होगा की घटना के समय वह पागलपन के अधीन था तथा वह उस कार्य (हत्या) की प्रकृति को नहीं जानता था। इसी तरह मोहन जो की हत्या का आरोपी है वह यह कहता है कि वह गंभीर और अचानक आत्म नियंत्रण की शक्ति से वंचित हो गया था तो यह सिध्द करने का भार मोहन पर ही होगा कि वो गम्भीर और अचानक आत्म नियंत्रण की शक्ति से वंचित हो गया था। यदि वह इन परिस्थितियों को सिद्ध नहीं कर सका तो न्यायालय उसे दंडित कर सकती है।

2. प्रमाण का वर्गीकरण-

धर्मशास्त्रकारों ने समस्त प्रमाणों को दो श्रेणियों में विभाजित किया था- मानुषी एवं दैविकी प्रमाण। मानुषी प्रमाण के अन्तर्गत- लिखित, भुक्ति, साक्षी, हेतु, तर्क एवं अनुमान को रखा गया था और दैविकी प्रमाण में जलादि ९ दिव्यों को स्थान दिया गया था।[937]

भारतीय साक्ष्य अधिनियम में प्रमाण प्रमुख रूप से दो प्रकार का है - (१) मौखिक प्रमाण (२) दस्तावेजी प्रमाण। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाण/साक्ष्य है, जैसे- (१) प्रत्यक्ष प्रमाण (२) परिस्थिति

---

[934] पृष्टोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा। त्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसंनिधौ॥ मनुस्मृति८/६०
२/७ याज्ञवल्क्य पर हारीत

[935] उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये यद्यन्ये गुणवत्तमाः। द्विगुणा वान्यथा ब्रूयुः कूटाः स्युः पूर्वसाक्षिणः॥ २/८० याज्ञवल्क्यस्मृति पर मिताक्षरा
पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-३, पृ. ३०४

[936] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 101

[937] क्रियापि द्विविधा प्रोक्ता मानुषी दैविकी तथा। मानुषी लेख्यसाक्षिभ्यां धटादिर्दैविकी स्मृता॥ नारदस्मृति २/२८

जन्य प्रमाण (३) यथार्थ प्रमाण (४) अनुश्रुत प्रमाण (५) प्राथमिक प्रमाण (६) द्वितियक प्रमाण (७) मौखिक प्रमाण (८) दस्तावेजी प्रमाण ।[938]

3. अनुमान (परिस्थितिजन्य प्रमाण)-

3.1 - अनुमान से तात्पर्य प्रत्यक्ष के अभाव में हेतुओं के माध्यम से परिस्थिति विशेष का ज्ञान प्राप्त करना । इस अनुमान को हेतु भी कहा जाता था ।[939] किन्तु यह निम्न कोटि का प्रमाण होता था । इसलिये इसका प्रयोग विशेष परिस्थितियों में ही किया जाता था ।

भा.सा.अधि. की धारा 5 यह बताती है कि न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत प्रमाण या तो विवाद तथ्य के सम्बंध में प्रस्तुत होंगे या विवाद तथ्यों से सुसंगत तथ्यों को प्रकट करेंगे । उदाहरण- मोहन की मृत्यु करने के आशय से उसे लाठी मारकर उसकी हत्या करने के लिये सोहन का विचार किया जाना । तब सोहन के विचार में निम्नलिखित तथ्य विवादयत है- सोहन का मोहन को लाठी मारना, सोहन की ऐसी मार द्वारा मोहन की मृत्यु होना, मोहन की मृत्यु कारित करने का सोहन का आशय होना यह सभी विवाद तथ्य होंगे तथा इन सभी तथ्यों पर प्रमाण दिया जा सकता है ।[940]

3.2 - अनुमान प्रमाण में वस्तुओं के साहचर्य सम्बन्ध को आधार बनाया जाता था । जैस- अग्निस्थल पर उल्का लिये व्यक्ति को आग लगाने वाला, घटनास्थल पर मृतक के समीप शस्त्रधारी को हत्यारा, जलाशय के समीप पावडे से युक्त व्यक्ति को बांध तोडने वाला, कटे पेड के समीप कुल्हाडी से युक्त व्यक्ति को वृक्ष काटने वाला, रक्तरंजित तलवार से युक्त व्यक्ति को आक्रान्ता समझा जाता था ।[941] अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित, घायल या चोरी के समान के साथ पकडे गये व्यक्ति को साहचर्य संबंध से चोर समझा जाता था ।[942]

भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 7 में कहा गया है कि वे तथ्य जो विवाद तथ्यों के प्रसंग हेतुक या परिणाम है अर्थात् वे तथ्य जो सुसंगत तथ्यों के या विवाद तथ्यों के निकटवर्ती या अन्य रीति पर अवसर कारण या परिणाम है या जो उस वस्तु स्थिति को गठित करते हैं जिनके अन्तर्गत वे घटित हुए या जिनसे उनके घटने का संव्यवहार का अवसर दिया । यह धारा खासकर घटना के कारण तथा परिणाम को सुसंगत तथ्य मानते हुए उनसे संबंधित सारे तथ्यों को न्यायालय में प्रस्तुत करने की अनुज्ञा देती है । जैसे- कारण- वे परिस्थितियां जिसने उस घटना को घटित करने का कारण उत्पन्न किया सुसंगत है क्योंकि किसी भी घटना के घटित होने के पीछे कोई ना कोई कारण

---

[938] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, अध्याय 2, धारा 3

[939] व्यास, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ. ९५

[940] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 5

[941] उल्काहस्तोऽग्निदो ज्ञेयः शस्त्रपाणिस्तु घातकः । केशाकेशिगृहीतश्च युगपत्पारदारिकः ॥
कुद्दालपाणिर्विज्ञेयः सेतुभेत्ता समीपगः । तथा कुठारपाणिश्च वनछेत्ता प्रकीर्तितः ॥
अभ्यग्रचिह्नो विज्ञेयो दण्डपारुष्यकृन्नरः । असाक्षिप्रत्यया ह्येते पारुष्ये तु परीक्षणम् ॥ नारद १/१५५-१५७,९ व्यवहारप्रकाश १६७-१६८

[942] वशिष्ठ धर्मसूत्र १९/३९

आवश्यक होता है। जैसे- राम ने मोहन को लूटा, इस मामले में यह तथ्य की लूट के थोड़ी देर पहले राम के पास धन था और उसने और लोगो को उसे दिखाया था यह तथ्य सुसंगत होंगे क्योंकि वे लूट का कारण उत्पन्न करते हैं।

4. अनुश्रुत प्रमाण

4.1 - नारद एवं मनु के अनुसार विवाद में देखने वाले एव सुनने वाले दोनों ही साक्षी होते हैं, पर देखने वालों को वरीयता दी जानी चाहिए।[943]

यह नियम भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 60 में भी मिलता है। धारा 60 के अंतर्गत यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मौखिक प्रमाण प्रत्यक्ष होना चाहिए अर्थात सुनी-सुनाई बात या अनुश्रुत प्रमाण ग्राह्य नहीं होगा बल्कि जिसने खुद घटना को देखा हो, सुना हो, अन्य इन्द्रियों द्वारा जाना हो, वह मौखिक प्रमाण दे सकता है।

4.2 – अनुश्रुत साक्ष्य में व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के कथनों को सुनकर न्यायालय में प्रमाण देता था। इसलिये इस प्रमाण को हीन कोटि का प्रमाण मानते हुए स्वन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। इसकी प्रमाणिकता तब होती थी जब कोई पक्ष चला जाए या किसी दूसरे देश चला जाए, तब मरने से या विदेश जाने से पूर्व उस पक्ष विशेष के वचनों को जिसने सुना हो वह साक्षी रूप में प्रमाणित होता था।[944]

भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 59 के अनुसार दस्तावेजों की अंतर्वस्तु के सिवाए सभी तथ्य मौखिक प्रमाण द्वारा साबित किये जा सकेंगे अर्थात् जहां कोई लिखित दस्तावेज के रूप में होता है वहां उसे दस्तावेज के रूप में साबित किया जाता है लेकिन कुछ परिस्थितियों में जहां दस्तावेज उपलब्ध नहीं है, मौखिक प्रमाण आवश्यक हो जाता है।

5. लिखित प्रमाण द्वारा मौखिक प्रमाण का अपवर्जन-

लिखित प्रमाण के विरुद्ध मौखिक प्रमाण को स्वीकार नहीं किया गया था।[945]

इसी प्रकार का उपबन्ध **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की धारा 91 एवं 92 में दस्तावेज के सन्दर्भ में किया गया है। किन मामलों में मौखिक प्रमाण को दस्तावेजी प्रमाण द्वारा अपवर्जित किया जाता

---

[943] समर्थदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्ध्यति ॥ मनुस्मृति ८/७४

नारदस्मृति ४/१६७

[944] तच्छ्रोतारः प्रमाणं स्युः प्रमाणं ह्युत्तरक्रिया ॥ नारदस्मृति ४/१६६-१६८, १४५

यत्र साक्षी दिशं गच्छेन्मुमूर्षुर्वा यथाक्रमम्। अन्यं संश्रावयेत्तं तु विद्यादुत्तरसाक्षिणम् ॥ बृहस्पतिस्मृति ५/१३

[945] नारदस्मृति ४/१४५

कात्यायनस्मृति ३०६-३०७

है, उससे सम्बन्धित धाराएँ है- 91, 92 एवं धारा 64, 65 एवं धारा 144 ।

6. लिखित प्रमाण-

6.1 - विषय की प्रमाणिकता के लिए उस विषय का लिखित विवरण ही लिखित प्रमाण माना जाता था । लिखित प्रमाण को अन्य भुक्ति, साक्षी आदि मानुषी प्रमाणों से अधिक श्रेष्ठ माना गया था, क्योंकि साक्षी प्रमाण की प्रामाणिकता साक्षी के जीवित रहने तक ही बनी रहती थी और भुक्ति प्रमाण के लिए अधिक समय तक का भोग होना आवश्यक होता था ।[946]

भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 59 में दस्तावेजी प्रमाण को सर्वाधिक प्रमाणिक मानते हुए कहा गया है कि- दस्तावेजों की अंतर्वस्तु के सिवाए सभी तथ्य मौखिक प्रमाण द्वारा साबित किये जा सकेंगे । प्रमाण विधि का यह महत्वपूर्ण सिद्धांत है कि प्रत्येक मामले में सर्वोत्तम प्रमाण दिया जाये और दस्तावेज सर्वोत्तम प्रमाण माने जाते हैं अर्थात जहां कोई लिखित दस्तावेज के रूप में होता है वहां उसे दस्तावेज के रूप में साबित किया जाता है लेकिन कुछ परिस्थितियों में जहां दस्तावेज उपलब्ध नहीं है, मौखिक प्रमाण आवश्यक हो जाता है ।[947]

6.2- लिखित प्रमाण के दो भेद माने गये थे- शासन और चीरक (जानपद)[948]

इन राजकीय एवं लौकिक लेखों को ही वर्तमान भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा ७४ एवं ७५ में क्रमश: लोक दस्तावेज एवं प्राइवेट दस्तावेज कहा गया है ।[949]

7. राजकीय (शासन) लेख-

जिस लेख पर राजा का हस्ताक्षर हो या राजमुद्रा अंकित हो या राजा के आदेशानुसार मंत्रियों की मोहर लगी हो उसे राजकीय लेख कहा जाता है ।[950] कौटिल्य के मतानुसार राजा द्वारा पत्र आदि पर लिखित आज्ञा या प्रतिज्ञा को शासन कहा जाता है, क्योंकि राजा शासन (लिखित बात) पर ही विश्वास करते हैं न कि मौखिक बातों पर ।[951]

भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा ७४ में राजकीय लेख को ही लोक दस्तावेज मानते हुए कहा गया है कि लोक दस्तावेज वे दस्तावेज होते हैं जो लोक पदाधिकारियों द्वारा अपने पदीय कर्तव्यों के अधीन या तो तैयार किये जाते हैं या तैयार कराये जाते हैं और अपनी अभिरक्षा में रखते हैं ।

---

946 विद्यमानेऽपि लिखिते जीवत्स्वपि हि साक्षिषु । विशेषतः स्थावराणां यन्न भुक्तं न तत्स्थिरम् ॥ नारदस्मृति ४/७५

947 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 59

948 तत्र लेख्यं द्विविधं शासनं जानपदं चेति । शासनं निरूपितम् । याज्ञवल्क्यस्मृति २/८४, मिताक्षरा

949 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 74, 75

950 राज्ञा स्वहस्तसंयुक्तं स्वमुद्राचिन्हितं तथा । राजकीयं स्मृतं लेख्यं प्रकृतिभिश्च मुद्रितम् ॥ शुक्रनीति ४/५/१७७

951 शासने शासनमित्याचक्षते । शासनप्रधाना हि राजानः । कौटिल्य २/प्रकरण २६/ अध्याय १०/ शासनाधिकार

8. जानपद लेख-

जानपद लेख अर्थात् निजी तौर से लिखा गया प्रमाणपत्र होता था अर्थात् वह प्रमाणपत्र होता था जिसे पुश्तैनी लिपिक द्वारा लिखा जाता था इन पुश्तैनी लिपिकों के पास दोनों पक्षों के लोग साक्षियों, पिताओं आदि के हस्ताक्षर के साथ पहुंचते थे ।[952]

भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 75 में जानपद लेख को ही "प्राइवेट दस्तावेज" मानते हुए कहा गया है अन्य सभी दस्तावेज प्राइवेट दस्तावेज हैं अर्थात् जो दस्तावेज लोक दस्तावेज नहीं है वे प्राइवेट दस्तावेज है । जैसे- किसी व्यक्ति की जन्म कुंडली, व्यक्तिगत चिट्ठियाँ, पारिवारिक बंटवारे के लिखित, परिवार के फोटोग्राफ, पंडों के बही-खाते, सेठों के बही-खाते, व्यक्तिगत प्रतियां आदि प्राइवेट दस्तावेज है ।[953]

9. परिस्थिति विशेष में लिखित प्रमाण संबंधी नियम-

9.1 - परिस्थितिजन्य लेख से तात्पर्य उन लेखों से होता था जो या तो नष्ट हो गये हो या खो गये हो या लेख में किसी तरह का संदेह उपस्थित हो गया हो या किसी अन्य प्रकार से लेख को हानि हो गई हो तो इन सभी परिस्थितियों के उपस्थित होने पर जिन-जिन लेख्य नियमों का पालन किया जाता था उन्हें परिस्थितिजन्य लेखनियम कहा जाता था ।

इस परिस्थितिजन्य प्रमाण को ही भारतीय साक्ष्य अधिनियम में "द्वितीयक साक्ष्य" कहा गया है, धारा 63 द्वितीयक साक्ष्य वे प्रमाण है जो प्राथमिक से तैयार किये गये है । जैसे- दस्तावेजों की प्रमाणित प्रतियाँ, मूल से यांत्रिक तरीके द्वारा बनाई गयी प्रतियां, मूल से बनायीं गयी या तुलना की गयी प्रतियां, दस्तावेजों की प्रतिलिपियाँ, देखने वाले द्वारा दस्तावेज का मौखिक वृत्तांत, किसी व्यक्ति के फोटोग्राफ आदि द्वितीयक प्रमाण होते हैं ।[954]

9.2 - अगर लेख्य पत्र किसी दूरवर्ती देश में छूट जाये या पढ़ने योग्य न रहा हो या नष्ट हो जाए या खो जाये या चुरा लिया गया हो या पुराने होने पर उसके टुकडे- टुकडे हो गये हो या जल गया हो या कट जाये तब ऋणदाता एवं ऋणी की सहमति पर दूसरा लेख्य पत्र बनवा जा सकता था ।[955]

---

[952] चिरकं नाम लिखितं पुराणै: पौरलेखकै: । अर्थिप्रत्यर्थिनिर्दिष्टै: यथासंभवसंस्तुतै: ॥
स्वकीयै: पितृनामाद्यैरर्थिप्रत्यर्थिसाक्षिणाम् । प्रतिनामभिराक्रान्तमर्थिसाक्षिस्वहस्तवत् । स्पष्टावगमसंयुक्तं यथास्मृत्युक्तलक्षणम् । स्मृतिचन्द्रिका २ पृ.५९

[953] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 75

[954] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 63

[955] छिन्नभिन्नहृतोन्मृष्ट- नष्टदुर्लिखितेषु च । कर्तव्यमन्यल्लेख्यं स्यादेष लेख्यविधिः स्मृतः ॥ नारदस्मृति ४/१४६
देशान्तरस्थे दुर्लेख्ये नष्टोन्मृष्टे हृते तथा । भिन्ने दग्धेऽथवा छिन्ने लेख्यमन्यत्तु कारयेत् ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९१

यह नियम **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की धारा 65 के समान है ।[956] धारा 65, वे अवस्थाएं जिनमें दस्तावेजों के सम्बन्ध में द्वितीयक प्रमाण दिया जा सकेगा- जब विपक्षी ने लिखित रूप से स्वीकार कर लिया हो, जब मूल दस्तावेज नष्ट हो गया हो या खो गया हो या मिल नहीं सकता है, जहाँ मूल दस्तावेज आसानी से स्थानांतरित नहीं किया जा सकता है, जहाँ मूल की प्रमाणित प्रति उपलब्ध हो तब उसका द्वितीयक प्रमाण दिया जायेगा । इन उपरोक्त परिस्थितियों में द्वितीयक प्रमाण दिया जा सकता है ।

9.3 - यदि लेख्य पर हस्ताक्षरितकर्ता की मृत्यु हो जाए तदनन्तर लेख्य पर संदेह उपस्थित हो जाये तब हस्ताक्षरकर्ता के हस्ताक्षर को उसी के अन्य हस्ताक्षर से मिलाकर सन्देह को दूर किया जाता था ।[957]

यह नियम **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की धारा 67 के समान है ।[958] धारा 67, हस्ताक्षर को कैसे साबित किया जाता है– जब किसी व्यक्ति का हस्ताक्षर साबित करना होता है तो जिस व्यक्ति ने लिखा है- (१) उसे बुलाकर, (२) जिस व्यक्ति की उपस्थिति में लिखा गया है, उसे बुलाकर, (३) हस्तलेख विशेषज्ञ को बुलाकार, (४) उस व्यक्ति को बुलाकर जो परिचित है, (५) स्वीकृत हस्ताक्षर या लिखावट की तुलना करके अथवा इस बात का सबूत देकर कि जिसने लिखा है, उसने लिखना स्वीकार कर लिया हो, (६) पेशकार, क्लर्क या मुनीम को बुलाकार, (७) अन्य परिस्थितियों का प्रमाण देकर, आदि से हस्ताक्षर का प्रमाण दिया जा सकता है ।

9.4 - यदि लेख्य पत्र के ऋणी, साक्षी एवं लेखक की भी मृत्यु हो जाए तब उसके द्वारा लिखे गये अन्य लेख प्रमाणों से मिलाकर प्रमाणिकता की पुष्टि की जानी चाहिए ।[959]

यह नियम **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की धारा 69 के समान है ।[960] धारा 69, जब अनुप्रमाणक साक्षी न मिले, जैसे- जब वे मर गये हों या सक्षम न रह गये हो तो केवल दो बाते शामिल करना होती है- (१) निष्पादन उसी व्यक्ति के हस्तलेख में है, जिसके द्वारा निष्पादित करना कहा जाता है, तथा (२) अनुप्रमाणक साक्षी के हस्तलेख का सबूत देकर, अथवा (३) किसी विशेषज्ञ को बुलाकर ।

---

[956] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 65

[957] वर्णैश्च तत्कृतैश्चिन्हैः पत्रैरेव व युक्तिभिः । संदिग्धं साधयेल्लेख्यं तद्युक्तिप्रतिरूपितैः ॥ विष्णुधर्मसूत्र ७/१२

[958] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 67

[959] यत्रर्णी धनिको वापि साक्षी वा लेखकोऽपि वा । म्रियते तत्र त्ल्लेख्यं तद्युक्तिप्रतिरुपकै : ॥ विष्णुधर्मसूत्र ७/१३

[960] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 67

9.5 - राजमुद्रा के द्वारा चिन्हित लेख, जिस पर वादी, प्रतिवादी, साक्षी तथा लेखक के हस्ताक्षर हो तो इन हस्ताक्षरकर्ता में से किसी की मृत्यु के बाद भी लेख को प्रमाणिक माना जाता था।[961]

यह नियम **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की धारा 79, 81 के समान है।[962] धारा 79 में प्रमाणित प्रतियों की असली होने की उपधारणा है। इस धारा के अंतर्गत इस बात की विधिक उपधारणा की गयी है कि यदि कोई प्रमाणित प्रति या अन्य दस्तावेज, जिसका किसी विशिष्ट तथ्य के प्रमाण के रूप में ग्राह्य होना विधि द्वारा अपेक्षित है और जो केंद्रीय सरकार या राज्य सरकार के किसी ऑफिसर द्वारा अथवा जम्मू-कश्मीर राज्य के किसी ऑफिसर द्वारा प्रमाणित है और जिसे सम्यक रूप में प्रमाणित करने का अधिकार प्राप्त है, तब न्यायालय ऐसे दस्तावेज का असली होना उपधारित करेगा। लेकिन इसके लिए यह आवश्यक होगा कि वह दस्तावेज उसी रूप में निष्पादित हो जैसा विधि द्वारा विनिर्दिष्ट है। धारा 81, राजपत्र, समाचारपत्र तथा प्राइवेट अधिनियमों के बारे में, उसके असली होने की उपधारणा की जाएगी।

9.6 - लेख्य पत्र में संदेह हो जाने पर दूसरे स्वहस्तलिखित पत्र से मिलाकर, देशकालादि में प्राप्ति से, साक्षी के द्वारा, लेखक के लिपिचिन्हों के द्वारा, आगम के द्वारा, लेख्य की प्राप्ति कैसे हुई आदि हेतुओं द्वारा संशय को दूर किया जाता था।[963]

यह नियम **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की धारा 73 के समान है।[964] धारा 73 हस्तलेख या सील की तुलना- जब यह निश्चित करना हो कि क्या कोई हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा उस व्यक्ति की है, जिसके द्वारा लिखा जाना तात्पर्यित है, तब ऐसे किसी हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा को किसी स्वीकृत और साबित हस्ताक्षर, लेख या मुद्रा से तुलना की जा सकेगी। इस सम्बन्ध में न्यायालय को यह अधिकार है कि किसी व्यक्ति को शब्दों व अंकों को लिखने का निर्देश दे सके। यही नियम अंगुली चिन्हों पर भी लागू होता है। धारा 73 न्यायालय को इस बात का अधिकार देती है- यह जानने के

---

961 समुद्रे तु यदा लेख्ये मृता: सर्वेऽपि तत्स्थिता:। लिखितं तत्प्रमाणं तु मृतेष्वपि हि तेषु वै॥ कात्यायनस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.३७१

962 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 79

963 संदिग्धलेख्यशुद्धिः स्यात्स्वहस्तलिखितादिभिः। युक्तिप्राप्तिक्रियाचिह्नसंबन्धागमहेतुभिः॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/९२
यत्र स्यात्संशयो लेख्ये भूताभूतकृते क्वचित्। तत्स्वहस्तक्रियाचिह्न प्राप्तियुक्तिभिरुद्धरेत्॥
लेख्यं यच्चान्यनामाङ्कं हेत्वन्तरकृतं भवेत्। विप्रत्यये परीक्ष्यं तत्संबन्धागमहेतुभिः॥ नारदस्मृति ४/१४३-१४४
दूषितो गर्हित: साक्षी यत्रैकोऽपि निवेशित:। कूटलेख्यं तु तत्प्राहुर्लेखको वाऽपि तद्विध:॥
यदुज्वलं चिरकृतं मलिनं चाल्पकालिकम्। भग्नोन्मृष्टाक्षरयुतं लेख्यं कूटत्वमाप्नुयात्॥
लेख्यदोषास्तु ये केचित्साक्षिणां चैव ये स्मृता:। वादकाले तु वक्तव्या: पश्चादुक्तान्न दूषयेत॥ बृहस्पतिस्मृति, धर्मकोश, व्यवहारकाण्ड, पृ.३६६

964 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 73

लिए कि कोई लिखत उसी व्यक्ति का है, जिसका कहा जाता है, उसकी लिखावट से तुलना कर सकती है या लिखने का निर्देश दे सकती है।

10. जाली लेख

जाली लेखक एवं जाली साक्षी दोनों ही होते थे अत: राजा को भलीभांति परीक्षण उपरान्त ही दण्डस्वरूप इनका अंग विच्छेद कर देना चाहिए।[965]

तात्कालिक जाली लेख के न्यायप्रक्रिया में प्रचलन पर निर्धारित दण्ड के समान वर्तमान **भारतीय दण्ड संहिता 1860 एवं भारतीय साक्ष्य अधिनियम** में भी इस तरह के कूट प्रमाण (साक्ष्य) को दण्डनीय माना गया है।[966] धारा 79 में प्रमाणित प्रतियों की असली होने की उपधारणा की गयी है कि यदि कोई प्रमाणित प्रति या अन्य दस्तावेज, जिसका किसी विशिष्ट तथ्य के प्रमाण के रूप में ग्राह्य होना विधि द्वारा अपेक्षित है।

11. **साक्षी प्रमाण-**

11.1 - साक्षी वह व्यक्ति होता था जो किसी उपस्थित विवाद में वादी या प्रतिवादी के सम्पर्क में आने से पूर्व, उस विवाद को जैसा देखता या सुनता था उसको उसी रूप में कहने वाला होता था।[967]

यह नियम **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की धारा 60 के अनुरूप है। धारा 60 के अंतर्गत यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मौखिक प्रमाण प्रत्यक्ष होना चाहिए अर्थात् सुनी-सुनाई बात या अनुश्रुत प्रमाण ग्राह्य नहीं होगा, बल्कि जिसने खुद घटना को देखा हो या सुना हो या अन्य इन्द्रियों द्वारा जाना हो, वह मौखिक प्रमाण दे सकता है।[968] यह मौखिक प्रमाण साक्षी के द्वारा ही दिया जाता है।

11.2 – धर्मशास्त्रकार विवादों में न्यूनतम तीन साक्षियों की उपस्थिति को अनिवार्य मानते हैं।[969] दोनों पक्षों के द्वारा स्वीकार्य होने पर एक साक्षी को भी प्रमाण देने के लिए स्वीकार किया जा

---

[965] कात्यायनस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका ३, पृ. १५०

[966] भारतीय दण्ड संहिता 1860, धारा 193
भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 79

[967] शुक्रनीति ४/५/१८३

[968] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 60

[969] गौतम २/३,
नारद ४/१५३
विष्णुधर्मसूत्र ८/५
त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसंनिधौ ॥ मनुस्मृति ८/६०,
त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्तक्रियापराः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/७२

सकता था । परन्तु वह एक साक्षी धर्मनिष्ठ, अनुभवशील एवं सत्यनिष्ठ आदि गुणों से युक्त होना आवश्यक होता था ।[970]

यह विधान **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की धारा 134 में मिलता है कि साक्षियों की संख्या महत्वपूर्ण नहीं है, उनका प्रमाण महत्वपूर्ण है ।[971]

11.3 - लिखित साक्षी या तो स्वयं से सम्बन्धित जानकारी नाम-पतादि स्वयं ही लिख सकता था या वह निरक्षर होने पर किसी अन्य से भी लिखवा सकता था । यदि वह लिखित साक्षी निरक्षर होता था तो वह किसी लेखक के द्वारा लेखपत्र पर लिखित स्वयं के बारे में जानकारी को किसी अन्य साक्षर व्यक्ति से जांच करवा सकता था और उस साक्षर व्यक्ति को स्वयं की ओर से हस्ताक्षर करने के लिये कह सकता था, अन्यथा स्वयं अंगूठे का निशान प्रमाणिकता के लिये लगा सकता था ।[972] दीर्घकालिक विवाद में लिखित साक्षी प्रमाणिक होता था ।[973]

भारतीय साक्ष्य अधिनियम में लिखित साक्षी को अनुप्रमाणक साक्षी माना गया है जिसका लेखन लेखक के द्वारा किया जाता है ।[974] धारा 71, जब अनुप्रमाणक साक्षी निष्पादन से इन्कार करें अथवा उसे निष्पादन का स्मरण न हो तो उस दस्तावेज का निष्पादन अन्य प्रमाण द्वारा साबित किया जा सकता है । चन्दन बनाम लोंगा बाई के मामले में एक साक्षी ने सत्यापन से इन्कार किया लेकिन लेखक ने यह प्रमाण दिया कि वसीयत उसके द्वारा लिखी गयी थी तथा दो गवाहों द्वारा प्रमाणित थी । लेखक का कथन ग्राह्य माना गया ।

11.4 - राजा को किसी विवाद के बारे जानकारी हो या उसके बारे में किसी पक्ष से सुना हो तब राजा साक्षी बन सकता था ।[975]

यदि राजा जिसे तात्कालिक समय में विधि का रक्षक माना जाता था को वर्तमान में न्यायाधीश के समतुल्य माना जाये तो **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की धारा 121 भी न्यायाधीश को एक विशेषीकृत साक्षी के रूप में नियमबद्ध करती है । धारा 121 न्यायाधीश और मजिस्ट्रेट- ये विशेषाधिकृत साक्षी हैं । जब किसी न्यायाधीश या मजिस्ट्रेट को ऐसे पद पर कार्य करते समय किसी तथ्य का ज्ञान होता है तो उस तथ्य का प्रमाण देने के लिए उसे विवश नहीं किया जायेगा

---

970 उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित् । सर्वः साक्षी संग्रहणे चौर्यपारुष्यसाहसे ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/७२
नारद ४/१९२
विष्णुधर्मसूत्र ८/९
शुक्रनीति ४/५/१८६

971 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 134

972 आत्मनैव लिखेज्ज्ञानन्नज्ञस्त्वन्येन लेखयेत् । हारीत, धर्मकोश, पृ. ३४३

973 सुदीर्घेणापि कालेन लिखितं सिद्धिमाप्नुयात् । जानता चात्मना लेख्यमजानानस्तु लेखयेत् ॥ नारदस्मृति ४/१६७

974 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 71

975 अर्थिप्रत्यर्थिनोर्वाक्यं यच्छ्रुतं भूभृता स्वयम् । स एव तत्र साक्षी स्याद्विसंवादे द्वयोरपि ॥ बृहस्पतिस्मृति ५/१६

परन्तु वरिष्ठ न्यायालय के आदेश से उसे प्रश्नों का उत्तर देना होता है लेकिन वरिष्ठ न्यायालय में ही ।[976]

11.5 – धर्मशास्त्रकारों ने उन व्यक्तियों की भी विस्तृत सूची दी है जिन्हें विवाद में साक्षी नहीं बनाया जा सकता था- दास, छल व्यवहारकारी, श्राद्ध के अयोग्य, वृद्ध, स्त्री, बालक, चक्र के द्वारा जीविका निर्वाह करने वाला अर्थात् तैलिक, मत्त, उन्मत्त, प्रमत्त, आर्त्त (दुखी), शठ, महापथिक (लम्बी यात्रा करने वाला), सामुद्रिक (समुद्र यात्रा करने वाला), वणिक, सन्यासी, रोगी, विकलांग, एकांकी, आचारहीन.. भेदकर्ता, दास इत्यादि साक्षी नहीं हो सकते थे ।[977]

भारतीय साक्ष्य अधिनियम में भी साक्षी की योग्यता एवं अयोग्यता पर विचार किया गया है और निर्धारित किया गया है कि कौन-कौन प्रमाण से सकता है?- धारा 118, सभी व्यक्ति तभी प्रमाण दे सकते हैं जब वे न्यायालय के विचार में कम आयु, अत्यधिक बुढापा, शरीर या मन के रोग या इसी प्रकार के अन्य कारणों से उनसे किये गये प्रश्नों को समझने के लिए अथवा उन प्रश्नों का युक्तियुक्त उत्तर देने के लिए निवारित (असमर्थ) न हों । अर्थात् अत्यंत बालकपन के कारण, अत्यधिक बुढापे के कारण अथवा शारीरिक या मानसिक रोग के कारण जो लोग उनसे किये गये प्रश्नों को सही ढंग से समझ नहीं पाते हैं अथवा उन प्रश्नों का युक्तियुक्त उत्तर नहीं दे पाते हैं, वे प्रमाण नहीं दे सकेंगे ।[978]

12 प्रमाण देने के सर्वथा अयोग्य साक्षी-

12.1 - भेद- वादी के द्वारा निर्दिष्ट विषय से भिन्न अर्थ में कहने वाला साक्षी वचन भेद के कारण प्रमाण देने के अयोग्य होता था ।[979] अर्थात् वह साक्षी जो विवाद में पहले कुछ ओर कहता था और

---

[976] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 121

[977] स्त्रीबालवृद्धकितव- मत्तोन्मत्ताभिशस्तकाः । रङ्गावतारिपाखण्डि- कूटकृद्विकलेन्द्रियाः ॥
पतितात्तार्थसंबन्धि- सहायरिपुतस्कराः । साहसी दृष्टदोषश्च निर्धूताद्यास्त्वसाक्षिणः ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/७०-७१
दासनैकृतिकाश्रद्ध- वृद्धस्त्रीबालचाक्रिकाः । मत्तोन्मत्तप्रमत्तार्त- कितवग्रामयाजकाः ॥
महापथिकसामुद्र- वणिक्प्रव्रजितातुराः । लुब्धकश्रोत्रियाचार- हीनक्लीबकुशीलवाः ॥
नास्तिकव्रात्यदाराग्नि- त्यागिनोऽयाज्ययाजकाः । एकस्थालीसहायारि- चरज्ञातिसनाभयः ॥
प्राग्दृष्टदोषशैलूष विषजीव्यहितुण्डिकाः । गरदाग्निदकीनाश- शूद्रापुत्रोपपातिकाः ॥
क्लान्तसाहसिकश्रान्त- निर्धनान्त्यावसायिनः । भिन्नवृत्तासमावृत्त- जडतैलिकमूलिकाः ॥
भूताविष्टनृपद्विष्ट वर्षनक्षत्रसूचकाः । अघशंस्यात्मविक्रेतृ- हीनाङ्गभगवृत्तयः ॥
कुनखी श्यावदन् श्वित्रि- मित्रध्रुक्शठशौण्डिकाः । ऐन्द्रजालिकलुब्धोग्र श्रेणीगणविरोधिनः ॥
वधकृच्छ्रित्रकृन्मङ्खः पतितः कूटकारकः । कुहकः प्रत्यवसितस्तस्करो राजपूरुषः ॥
मनुष्यविषशस्त्राम्बु- लवणापूपवीरुधाम् । विक्रेता ब्राह्मणश्चैव द्विजो वार्धुषिकश्च यः ॥
च्युतः स्वधर्मात्कुलिकः स्तावको हीनसेवकः । पित्रा विवदमानश्च भेदकृच्चेत्यसाक्षिणः ॥
असाक्षिणो ये निर्दिष्टा दासनैकृतिकादयः । कार्यगौरवमासाद्य भवेयुस्तेऽपि साक्षिणः ॥ नारदस्मृति ४/१७८-१८८

[978] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 118

[979] राज्ञा परिगृहीतेषु साक्षिष्वेकार्थनिश्चये । वचनं यत्र भिद्यते ते स्युर्भेदादसाक्षिणः ॥ नारदस्मृति ४/१५०

बाद में उसी विवाद के बारे में पूर्व में कथित वचनों को काटते हुए कुछ अन्य कहता था तो उस साक्षी को अपने वचनों में परस्पर भेद प्रकट करने के कारण अयोग्य माना जाता था। क्योंकि उसके द्वारा उपस्थापित साक्ष्यों पर संदेह उपस्थित हो जाता था।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम में ऐसे साक्षी को पक्षविरोधी साक्षी कहा गया है, धारा 154. पक्षद्रोही साक्षी- पक्षद्रोही साक्षी वह साक्षी है जो सच नहीं बताना चाहता अथवा दूसरे पक्ष के समर्थन में अपनी बात कहता है। (पक्षद्रोही का अर्थ- वह साक्षी है जो अपने पूर्ववर्ती कथन से हट रहा है अथवा न्यायालय को सच बताने का इच्छुक नहीं है।) यह गवाह की विश्वसनीयता को खंडित करने वाला है। 2006 के संशोधन द्वारा धारा 154 में एक उपखंड जोड़ा गया है जिसके अनुसार- पक्षद्रोही साक्षी के प्रमाण के उतने अंश का प्रयोग किया जा सकता है जितना अंश अभियोजन का समर्थन करता है।

12.2 - कूट साक्षियों का पता कैसे लगाया जाये? इस पर कौटिल्य का मत है सत्री जैसे गुप्तचर को भेष बदलकर अभियुक्त का रूप धारण करके सन्देहस्पद साक्षी को विभिन्न प्रलोभन देकर असत्यभाषण देने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए। तदनन्तर न्यायालय में असत्य प्रमाण या झूठी गवाही देते समय उसे पकड लिया जाना चाहिये। ऐसे कूट साक्षियों को देश से निर्वासित कर देना चाहिए।[980]

भारतीय साक्ष्य अधिनियम में भी ऐसे कूट साक्षियों/पक्षविरोधी साक्षियों का पता लगाने पर विचार किया गया है। धारा 155, साक्षी की विश्वसनीयता पर अधिक्षेप कौन कर सकता है? (१) प्रतिपक्षी (२) वह पक्षकार जिसने ऐसे साक्षी को बुलाया है, न्यायालय की अनुमति से प्रतिपरीक्षा कर सकेगा। तरीका– किस तरह से विश्वसनीयता को खंडित किया जाएगा- (१) उन गवाहों को पेश करके जो यह कहते हैं कि अपने ज्ञान के आधार पर ऐसे साक्षी को विश्वसनीय नहीं मानते। (२) यह साबित करके कि गवाह को रिश्वत दिया गया है अथवा रिश्वत की प्रस्थापना को उसने स्वीकार कर लिया है अथवा उसे प्रमाण देने के लिए कोई अन्य कष्ट या उत्प्रेरणा दी गयी है। (३) उसके प्रमाण के किसी ऐसे भाग से जिसका खण्डन किया जा सकता है, असंगत पिछले कथनों को साबित करने के द्वारा।

13 साक्षी को प्रश्न-प्रतिप्रश्न/परीक्षा करना

सभा में न्यायाधीश द्वारा वादी एवं प्रतिवादी के समक्ष उपस्थित साक्षियों को सान्त्वना देते हुए प्रश्न किया जाता था– कि इस व्यवहार के विषय में प्रत्यक्ष अथवा एकान्त में जो तुम जानते हो वह सब सत्यरूप में कहो, तुम्हारा प्रमाण ही इस मामले में प्रमाण है, सत्य-असत्य तुम्हारे ही वचनों पर

---

[980] कृतकाभियुक्तो वा कूटसाक्षिणोअभिज्ञातानर्थवैपुल्येनारभेत ॥ ते चेत्तथा कुर्युः कूटसाक्षिण इति प्रवास्येरन् ॥ कौटिल्य ४/४

निर्भर है ।[981] साक्षियों की परीक्षा दो तरह से की जाती थी- १, न्यायाधीश द्वारा साक्षियों से प्रश्न-प्रतिप्रश्न करते हुए साक्षियों द्वारा दिये गये उत्तरों से तथा इन प्रश्नों का उत्तर दिये जाते समय साक्षियों में होने वाले अकस्मात् हावभाव परिवर्तन के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से । २. विपक्ष द्वारा साक्षियों पर लगाये आरोप की जांच पडताल से ।[982]

प्रमाण का क्रम- मुख्य परीक्षा, प्रतिपरीक्षा, तथा पुनः परीक्षा और उनका क्रम । **भारतीय साक्ष्य अधिनियम** की धारा 137 के अनुसार किसी साक्षी की उस पक्षकार द्वारा परीक्षा, जो उसे प्रमाण में बुलाता है, मुख्य परीक्षा कहलाती है । किसी साक्षी की विपक्षी द्वारा की गई परीक्षा उसकी प्रतिपरीक्षा कहलाती हैं । किसी साक्षी की प्रतिपरीक्षा के पश्चात उस पक्षकार द्वारा जिसने उसे बुलवाया है, परीक्षा उसकी पुनःपरीक्षा कहलाती हैं । धारा 138 के अनुसार किसी भी साक्षी की सबसे पहले मुख्य परीक्षा होती है उसके पश्चात यदि विपक्षी चाहे तो उसकी प्रतिपरीक्षा होती है और उसके पश्चात यदि उसे बुलाने वाला पक्षकार चाहे तो उसकी पुनःपरीक्षा होती हैं ।[983]

14 शपथ-

कौटिल्य का मत है कि साक्षी को ब्राह्मण, जल से भरे घडे एवं अग्नि के सम्मुख शपथ लेनी चाहिये ।[984] वही कात्यायन ने ब्राह्मण के साथ देव प्रतिमा का भी उल्लेख किया है ।[985]

धारा 138 के अंतर्गत मुख्यपरीक्षा, प्रतिपरीक्षा और पुनःपरीक्षा का क्या क्रम होगा, यह बताया गया है | सबसे पहले मुख्यपरीक्षा उसके पश्चात् प्रतिपरीक्षा और उसके पश्चात् पुनःपरीक्षा होती है । मुख्यपरीक्षा में साक्षी को न्यायालय में पहले शपथ दिलाई जाती है, उसका नाम-पता लिखा जाता है और उस साक्षी से सारवान तथ्यों की जानकारी हासिल की जाती है । प्रतिपरीक्षा विपक्षी का अधिकार है ।[986]

15 विवादयुक्त साक्ष्यों में उचित प्रमाण की ग्रहिता

जब दोनों पक्षों का व्यवहार विषय पर विवाद हो जाए अर्थात् दोनों के द्वारा प्रदत्त प्रमाण परस्पर विरोधी हों तब पूर्व पक्ष का ही प्रमाण ग्रहीत होता था ।[987] लेकिन जिन विवादों में वादी द्वारा दिया गया प्रमाण दोषयुक्त कारण से हीन हो जाता था तब प्रतिवादी के साक्षी से प्रश्न किये जाते थे

---

[981] सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसंनिधौ । प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनानेन सान्त्वयन् ॥
यद्व्योरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिंश्चेष्टितं मिथः । तद्ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥ मनुस्मृति ८/७९-८०

[982] कात्यायनस्मृति, स्मृतिचन्द्रिका, पृ. ८३

[983] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 135-138

[984] ब्राह्मणोदकुम्भाग्निसकाशे साक्षिणः परिगृह्णीयात् ॥ कौटिल्य ३/११

[985] कात्यायन, धर्मकोश, पृ ३३६

[986] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 138

[987] द्वयोर्विवदतोरर्थे द्वयोः सत्सु च साक्षिषु । पूर्वपक्षो भवेद्यस्य भवेयुस्तस्य साक्षिणः ॥ नारदस्मृति ४/१६३

।[988] विपक्ष द्वारा नियुक्त किए गए साक्षी से गुप्त वार्तालाप नहीं करना होता था क्योंकि इससे उस पक्ष का प्रमाण हीन हो जाता था ।[989] जिस पर व्यवहार क्रिया (मुकदमा) चल रही हो, जो आत्मीय-सहायक-बैरी हो, जो अन्य व्यवहार में मिथ्या प्रमाण देने से मिथ्यावादी प्रमाणित हो चुका हो आदि के द्वारा प्रदत्त साक्ष्यों को भी व्यवहार में साक्षी के रूप में ग्रहण नहीं किया जाता था ।[990]

इस प्रकार धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था में प्रमाण की ग्रहिता पर न्यायाधीश का कोई अधिकार नहीं था जबकि आधुनिक समय की प्रमाण व्यवस्था में इसका निर्धारण न्यायाधीश द्वारा किया जाता है। धारा 136. प्रमाण की ग्राह्यता का निर्णय- कौन सा प्रमाण ग्राह्य होगा या कौन सा प्रमाण ग्राह्य नहीं होगा, इस बात का निर्णय करने का अधिकार केवल न्यायाधीश को है। केवल सुसंगत तथ्य ही ग्राह्य होते हैं लेकिन कौन से तथ्य सुसंगत और ग्राह्य है, यह न्यायाधीश सुनिश्चित करता है। जब कोई तथ्य दूसरे तथ्य पर निर्भर हो तो ऐसी स्थिति में यह अधिकार न्यायालय का है कि वह प्रमाण प्रस्तुत करने का क्रम नियंत्रित करे। मृत्युकालीन कथन- मृत्युकालीन कथन की ग्राह्यता इस बात पर निर्भर करती है कि पहले मृत्यु का प्रमाण दिया जाये। द्वितीयक प्रमाण- द्वितीयक प्रमाण को ग्राह्य बनाने के लिए पहले इस बात का प्रमाण आवश्यक है कि यह साबित किया जाये कि मूल दस्तावेज गायब हो गया है, नष्ट हो गया है अथवा धारा 65 की परिस्थितियों का प्रमाण दिया जाये। सुसंगत होते हुए भी ग्राह्य न होना- कुछ ऐसे तथ्य हैं जो तार्किक रूप से सुसंगत होते हैं परन्तु अपवर्जन के अंतर्गत आने के कारण ग्राह्य नहीं होंगे। जैसे- वैवाहिक काल के दौरान की बातें या मुवक्किल द्वारा वकील को बताये गये तथ्य।

7.4 भारतीय साक्ष्य अधिनियम एवं धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था में साम्य एवं वैषम्य-

धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था एवं आधुनिक भारतीय साक्ष्य अधिनियम में किंचित् समानता तो काफी विषमता भी है। यह विषमता दोनों के मध्य समय की व्यापक दूरी, अपराध की बहुलता, विविध अपराधिक प्रवृतियों तथा सामाजिक मूल्यों एवं नैतिकता आदि में परिवर्तन के कारण उत्पन्न हुई है।

स्मृतियों में लिखित प्रमाण के तीन भेद हैं, जैसे- राजकीय, स्वहस्तलिखित एवं परहस्तलिखित। वही आधुनिक भारतीय साक्ष्य अधिनियम में प्रमाण के दो रूप हैं- लोक दस्तावेज एवं निजी दस्तावेज। लोक दस्तावेज वे हैं जो विभिन्न विधायी लोक अधिकारियों के कार्यों के लिखित रूप में है और सामान्य जनता के संरक्षित रिकार्ड है। अन्य किसी भी प्रकार के दस्तावेज निजी दस्तावेज हैं।

---

[988] आधर्यं पूर्वपक्षस्य यस्मिन्नर्थे वशाद्ब्रूवेत्। प्रष्टव्याः साक्षिणस्तत्र विवादे प्रतिवादिनः॥ नारदस्मृति ४/१६४

[989] न परेण समुद्दिष्टमुपेयात्साक्षिणं रहः। भेदयेत्तं न चान्येन हीयेतैवं समाचरन्॥ नारदस्मृति ४/१६५

[990] नार्थसंबन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः। न दृष्टदोषाः प्रष्टव्याश्च साक्षीण प्रतिदूषिताः॥ नारदस्मृति ४/१७७

यहां पर हम आंशिकत: लोक दस्तावेज को स्मृतियों के राजशासित लेख के समान रख सकते हैं, प्राइवेट दस्तावेज को स्मृतियों के जानपद लेख के समरूप रखा जा सकता है । साक्षीयुक्त लेख (परहस्तलिखित) के सन्दर्भ में भारतीय साक्ष्य अधिनियम में भी दस्तावेजों की प्रमाणिकता सिद्ध करने के लिए साक्षी की अपेक्षा की गई है ।[991]

लेखों का स्वरूप- लेख का स्वरूप अर्थात लेख किस वस्तु पर लिखा हो । इस विषय पर स्मृतियों में ताम्रपत्र और पट्टवस्त्र आदि को मान्यता दी गई है ।[992] भारतीय साक्ष्य अधिनियम में दस्तावेजों का अर्थ लेख नहीं है । मुद्रित, शिलामुद्रित, फोटोचित्रित, धातुपट्ट, मानचित्र आदि सभी दस्तावेजों के रूप में मान्य है ।[993]

कूट लेख्य की परीक्षा- किसी कूट की परीक्षा अर्थात सत्य अथवा असत्य होने वाले आधारों का वर्णन धर्मशास्त्र में प्राप्त होता है और इसमें हस्तलेख से मिलान करने की पद्धति का भी उल्लेख मिलता है । इन पद्धतियों में पूर्व में ही कूट लेख्य की परीक्षा करके, इनको प्रमाण के लिए अयोग्य सिद्ध कर दिया जाता था । जिससे न्यायिक प्रक्रिया सरल हो जाती थी जो धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था के वैशिष्ट्य को प्रकट करता है । भारतीय साक्ष्य अधिनियम में प्रमाण की पूर्व परीक्षा का उल्लेख तो नहीं मिलता है किन्तु विवादों के मध्य में यदि न्यायालयों को महसूस हो कि अमुक दस्तावेज किसी कूटव्यक्ति द्वारा लिखित अथवा हस्ताक्षरित की गई है तो उस व्यक्ति के हस्ताक्षर/हस्तलेख से मिलान करके उस दस्तावेज की प्रमाणिकता सिद्ध की जा सकती है ।[994]

द्वितीयक/मूल प्रति प्रमाण- बृहस्पति मूल लेख की प्रति को प्रमाणिक नहीं मानते हैं जबकि याज्ञवल्क्य ने माना है कि जो लेख देशान्तर में हो, जो अपठनीय हो, खो गया हो, जल गया हो तथा जीर्ण हो गया हो तो दूसरा लेख बना लेना चाहिए । इसी प्रकार भारतीय साक्ष्य अधिनियम में मूल प्रति प्रमाण प्रस्तुत करने की अवस्थाएं निर्दिष्ट की गई है- मूल किसी ऐसे व्यक्ति के अधीन हो जिसके विरूद्ध उन्हें सिद्ध किया जाना है, मूल नष्ट हो गया हो अथवा खो गया हो।[995] इन अवस्थाओं के अतिरिक्त गौण दस्तावेजी प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये जा सकेगे । गौण दस्तावेज को प्रस्तुत करने से पूर्व यह साबित करना होगा की दस्तावेज उपलब्ध नहीं हो सकते ।

भुक्ति प्रमाण- भारतीय साक्ष्य अधिनियम में भुक्ति को प्रमाण के रूप में नहीं माना गया है तदपि स्वामित्व के लिए भोग प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है । भोग का दोगुना महत्त्व है- प्रथम, यह स्वामित्त्व का प्रमाण है एवं द्वितीय, भोग करने के अधिकार की स्थापना करता है । धर्मशास्त्र में चल एवं अचल सम्पत्ति आदि पर स्वामित्व के लिए आगम सहित भुक्ति को उत्तम प्रमाण माना गया है । इस तरह भारतीय साक्ष्य अधिनियम में भुक्ति के लिए प्रमाण को प्रस्तुत करने का स्पष्टत:

---

[991] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 34, धारा 68

[992] याज्ञवल्क्यस्मृति १/३१९

[993] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 3

[994] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 47

[995] भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, धारा 65

उल्लेख नहीं है किन्तु धारा ९० के दृष्टान्त में भूमि आदि पर अधिकार साबित करने के लिए उपभोग के साथ-साथ प्रमाणपत्र आदि सबूत प्रस्तुत करने होगें।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम एवं धर्मशास्त्र प्रमाण व्यवस्था में बहुत अन्तर है। जैसे- लिखित प्रमाण-लेखों के अप्रमाणित होने की विभिन्न दशाये जैसे बलपूर्वक लिखवाया गया, किसी व्यक्ति के मरते समय लिखित कोई लेख, भय या क्लेशित अवस्था में लिखित लेख, बालक द्वारा लिखित आदि लेख हैं। वही भारतीय साक्ष्य अधिनियम में मृत्यु के समय लिखित कथन सुसंगत तथ्य कहा गया है और यही कथन सर्वोत्तम प्रमाण (साक्ष्य) माना जाता है।

7.5 भारतीय साक्ष्य अधिनियम के लिए सुझाव

स्मृतियों के जिन कुछ नियमों को भारतीय साक्ष्य अधिनियम में समावेश किया जा सकता है वे हैं-

प्रमाण न्याय प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग है। प्रमाण साक्षी के वचनों पर आधारित होता है। धर्मशास्त्र में शिक्षा, योग्यता एवं नैतिकता को महत्त्व देते हुए प्रमाण देने के योग्य व्यक्ति का निर्धारण किया गया है। वर्तमान में ऐसी व्यवस्था का उल्लेख नहीं मिलता है और परिणाम यह है कि आजकल एक व्यक्ति अमुक विवाद में जिस के पक्ष में प्रमाण देता है वही व्यक्ति अगली बार उसी विवाद में उसी के विरूद्ध प्रमाण देता है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम में साक्षी संबंधी विशिष्ट छानबीन नहीं की जाती है। केवल समानता एवं निष्पक्षता को ध्यान में रखते हुए ऐसे नियम बनाये है जिसमें सभी व्यक्ति प्रमाण देने योग्य है। परन्तु इसमें साक्षी पद की गरिमा समाप्त हो गई है। अत: प्रमाण देने के लिए योग्यता संबंधी नियमों की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त स्मृतियों में दिव्य प्रमाण का उल्लेख मिलता है। जिसमें लौकिक प्रमाणों के अभाव में दैवीय प्रमाण आश्रय लिया जाता है। जिसमें हारने वाले पक्ष को अपना सत्य स्थापित करने का एक और आधार मिलता है। वर्तमान में वह पक्ष जिस पर प्रमाणित करने का दायित्व होता है प्रमाण नहीं देने पर पराजित माना जाता है और यही अंतिम निर्णय भी होता है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम में इस विधान को गम्भीर्यता से समझते हुये बिना अन्धविश्वास के और सतर्कता के साथ नवीन रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

वादी एवं प्रतिवादी से निर्णय में शीघ्रता के लिये यह उपेक्षा की जाती थी कि वह अपना अपना मत निर्धारित समय के अन्दर प्रस्तुत करें, अन्यथा उन्हें अपराधी माना जाता था। यह शीघ्रातिशीघ्र निर्णय लेने की व्यवस्था तात्कालिक न्यायिक व्यवस्था का विशेष गुण थी। क्योंकि निर्णय में विलम्ब होने से या विवाद के निर्णय की अवधि लम्बी होने से आवेदित पक्ष को बहुत परेशानी झेलनी पडती है जिससे उसको न्याय व्यवस्था के प्रति विश्वास खत्म होने लगता है। वर्तमान न्याय व्यवस्था में विवादों के निर्णयार्थ निश्चित समयावधि का निर्धारण करना चाहिए।

धारा 165 भारतीय साक्ष्य अधिनियम में न्यायाधीश को प्रश्न करने की असीमित शक्ति दी गई है जिसका अत्यंत सावधानी से प्रयोग करना चाहिए। धारा 280 दं.प्र.सं. 1973 के तहत परीक्षण के समय साक्षी भाव भंगी के बारे में यदि कोई टिप्पणी तात्विक हो तो उसे न्यायाधीश या मजिस्ट्रेट

को अभिलिखित करना होता है यह प्रमाण के मूल्यांकन में अत्यंत सहायक होता है इसी प्रकार के प्रावधान आदेश 18 नियम 12 सी.पी.सी. में भी है।

कभी-कभी साक्षी प्रश्नों के उत्तर काफी सोचकर देता है या बार-बार अपना उत्तर बदलता है ऐसे समय में आवश्यक टिप्पणी कथनों में लगाई जा सकती है। इत्यादि अनेक प्रावधान है जो काफी हद तक धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था से प्रभावित है । ऐसे अनेक प्रावधानों में धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था के प्रभाव को स्पष्ट करते हुए इसकी वर्तमान में प्रासंगिकता को प्रकट किया जा सकता है।

निष्कर्षत: धर्मसूत्रों-स्मृतियों की प्रमाण व्यवस्था में राजा का कर्तव्य है कि शासन व्यवस्था के विधि-नियमों का सुचारू रूप से पालन कराये तथा जनता को त्वरित तथा सत्य-न्याय उपलब्ध कराये। प्राचीन धर्म से सम्बन्धित ग्रन्थों से उस युग की विधि तथा न्याय-व्यवस्था के संगठन का विशद परिचय मिलता है । प्राचीन धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के अनुसार विवादों का निर्णय जिन विशेष नियमों के एवं कानूनों के आधार पर होता था, उनको निम्न भागों में विभक्त किया जा सकता है –१.) वेदादि धर्मशास्त्रों के निर्देश, २.) देश, जाति एवं कुल की रीतियाँ, ३.) विभिन्न वर्गों के अपने रीति-रिवाज, ४.) तर्क, ५.) त्रैविध वृद्धों की सम्मतियाँ (न्यायाधीश, नियुक्त एवं अनियुक्त सदस्य)।

प्राचीन न्याय व्यवस्था में प्रमाण एवं साक्षी का बहुत महत्व होता था। प्रमाणों के चार प्रकार माने गये हैं जिन्हें मानुषी एवं दैविक प्रमाणों के अन्तर्गत विभाजित गया है-[996] मानुषी- लिखित, भुक्ति एवं साक्षी। दैविक- दिव्य। लिखित, भुक्ति, साक्षी और दिव्य प्रमाण में क्रमश: पूर्ववर्ती प्रमाण अपने से परवर्ती से अधिक प्रामाणिक माना जाता है।[997]

विधि सम्बन्धी ग्रन्थों में साक्षी के गुणों का विशद वर्णन किया गया है । प्राचीन धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में विधि-निर्माताओं तथा न्यायाधिकारियों के गुणों एवं विशेषताओं, न्यायालयों के अन्य कर्मचारियों एवं न्यायालयों की कार्य पद्धतियों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इन धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में कहीं-कहीं न्यायालयों में पक्षपात एवं भ्रष्टाचार का भी किसी सीमा तक संकेत मिलता है। दण्ड निर्धारणकर्ता को प्रलोभन से दूर रखा जाता था । इसी निष्पक्षता हेतु धर्मशास्त्रीयविधि व्यवस्था में प्राड्विवाकों पर पर्याप्त नियन्त्रण रखा जाता था और उन्हें एकान्त में अर्थी एवं प्रत्यर्थी से मिलना भी निषिद्ध होता था। अगर वो ऐसा करते हुये पकडे जाते थे तो उनका सर्वस्वापहरण कर राज्य से निष्कासित कर दिया जाता था। साथ ही यदि लोभ के वशीभूत गलत निर्णय किया जाता है तो इन्हें अपराध के दण्ड का दोगुना दण्ड दिया जाता था।[998]

---

[996] तत्र मानुषं त्रिविधं, लिखितं भुक्ति: साक्षिणश्चेति। याज्ञवल्क्यस्मृति २/२२ मिताक्षरा,
क्रियापि द्विविधा प्रोक्ता मानुषी दैविकी तथा। मानुषी लेख्यसाक्षिभ्यां घटादिर्दैविकी स्मृता॥ नारदस्मृति २/२८

[997] त्रिविधस्यास्य दृष्टस्य प्रमाणस्य यथाक्रमम्। पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं भुक्तिरेभ्यो गरीयसी॥ नारदस्मृति ४/७६

[998] रागाल्लोभाद्भयाद्वापि स्मृत्यपेतादिकारिणः। सभ्याः पृथक्पृथग्दण्ड्या विवादाद्द्विगुणं दमम्॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/४

प्राचीन समय की दंड प्रणाली कठोर थी, तथापि यह सुधारात्मक भी थी, कठोरता इसलिए भी थी कि सामान्य जन को इससे शिक्षा मिल सके। क्योंकि दण्ड से पदभ्रष्ट व्यक्ति को सन्मार्ग पर लाया जाता है और उसके चरित्र में सुधार किया जाता है। जैसे- वाक् और धिक्दण्ड के माध्यम से व्यक्ति के अपराध की निन्दाकर उसे पुनः वह अपराध न करने एवं प्रायश्चित करने का दण्ड विधान किया जाता था ताकि उसकी आत्मशुद्धि हो सके और उसके चरित्र में सुधार लाया जा सके। दण्ड से स्वधर्म से स्खलित व्यक्ति को उचित मार्ग पर लाया जाता है।[999] संस्कृत शास्त्रों के आधार पर प्राचीन समय में विधि-निर्माण की प्रक्रिया का बोध होता है और भारतीय न्याय-व्यवस्था का व्यवहारिक रूप भी उपलब्ध होता है। इसका पर्यालोचन करके उसके गुणों को समझा जा सकता है तथा वर्तमान न्याय व्यवस्था में इसका लाभ उठाया जा सकता है।

प्राचीन न्यायव्यवस्था में न्याय एक प्रकार से प्राकृतिक तथा स्वाभाविक था, वादी तथा प्रतिवादी स्वयं ही अपने पक्ष को प्रस्तुत करते थे। इससे वस्तुस्थिति का आकलन अधिक सही होता था और न्याय का निर्णय भी त्वरित होता था तथा व्यय भी कम होता था। इस प्रक्रिया में बिचौलियों (वकील आदि) यथासम्भव नहीं रहते थे, भ्रष्टाचार की सम्भावना न्यूनतम थी, मुकद्दमों का व्यय भी बहुत कम होता था, वादों का निर्णय बहुत कुछ स्वाभाविक होता था।

वर्तमान समय में कानूनों के बहुत जटिल होने, सामान्यजन की समझ से बाहर होने और बिचौलियों के मध्य से होने के कारण मुकद्दमों के निर्णयों में बहुत विलम्ब होता है। इससे भ्रष्टाचार की सम्भावना में भी वृद्धि होती है। अनेक बार तो मुकद्दमा इतना लम्बा खिंच जाता है कि न्यायार्थी का अपना जीवन पूरा हो जाता है और वह न्याय को प्राप्त नहीं कर पाता। वर्तमान समय के विधि कानूनों के अत्यधिक जटिल और पेचीदा होने से, न्याय की प्रणाली के अत्यधिक व्ययसाध्य और विलम्बकारी होने के कारण सीधा सच्चा व्यक्ति अपनी सत्य बात को कहने के लिए भी न्यायालय में जाने का साहस नहीं जुटा पाता है।

धर्मशास्त्र में राजा एवं प्राड्विवाक के न्यायालय के अतिरिक्त अनेक स्थानीय न्यायालय भी थे। जिन्हें व्यवहार प्रक्रिया का अंग माना जाता था और उनके द्वारा व्यवहारपदों या विवादों का निर्णय लिया जाता था। ये स्थानीय न्यायालय तीन थे- कुल, श्रेणी एवं गण।[1000] इस व्यवस्था में मुकद्दमों की तुरंत सुनवाई के साथ निर्णय होने की सुविधा से जन-सामान्य का अमूल्य-समय बचता था, जन-धन की बर्बादी भी नहीं होती थी, वादी-प्रतिवादी को सरल एवं शीघ्र न्याय मिलने की सम्भावना रहती थी। इसलिए यह आवश्यक है कि प्राचीन विधि एवं प्रमाण-व्यवस्था का वास्तविक रूप लोक के समक्ष प्रस्तुत किया जाये, जिसको जान कर पश्चिमी विद्या में पारंगत न्यायाधिकारी और

---

[999] कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणान् जानपदानपि। स्वधर्माच्चलितान् राजा विनीय स्थापयेत्पथि॥ याज्ञवल्क्यस्मृति १/३६१

[1000] कुलानि श्रेणयश्चैव गणाश्चाधिकृतो नृपः। प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेभ्यस्तूत्तरोत्तरम्॥ नारदस्मृति १/७
नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च। पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम्॥ याज्ञवल्क्यस्मृति २/३०

शासनाधिकारी भी जनहित में ठीक-ठीक निर्णय कर सकें। किसी भी न्यायालय का मुख्य कार्य उसके समक्ष उपस्थित पक्षकारों में उत्पन्न विवादों का न्यायपूर्ण निराकरण करना होता है, निर्णय न्यायालय का अंतिम उत्पाद होता है जो प्रमाण पर आधारित होता है। अतः किसी भी मामले में प्रमाण को लेखबद्ध करने का कार्य जितनी कुशलता से किया जायेगा उतना ही निर्णय अच्छे होने की संभावना बनी रहेगी। अतः प्रमाण को लेखबद्ध करना न्यायालय का सबसे महत्वपूर्ण कार्य होता है जिसे अत्यंत सावधानी से करना चाहिए।

उपसंहार

establish
information
degrees
foundation
prove
admissible
demonstrate
confirmation
law
jury
judge
defense
law
facts
burden
legal
EVIDENCE
document
proof
case
truth
likely
important
degree
testimony
subject
attestation
gather
proven
affirm
deciding
argument
court
raise doubt
motive
verification

उपसंहार

समाज के परिवर्तनशील गुण के कारण आज का समाज में पूर्व की अपेक्षया अनेक परिवर्तन हो चुके हैं। यथा- आज राजनीतिक प्रणाली एवं न्याय-व्यवस्था बदल चुकी है, शिक्षा का स्वरूप तथा संस्थाएँ भी वैसी नहीं रही जो प्राचीनयुग में हुआ करती थीं, सामाजिक तथा नैतिक मूल्य भी पूर्वापेक्षया परिवर्तित हुए है, दायाद तथा सम्पत्ति-विभाजन आदि के लिए आज राजनीतिक क़ानून ही सर्वमान्य हैं, इत्यादि। ऐसे समय में इन धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों की परिमित प्रासंगिकता ही मानी जा सकती है। परन्तु आज भी ये प्रासंगिक है।

१००० ईस्वी पूर्व तक वैदिक साहित्य रचा गया और तदनुसार विधियों का प्रचलन रहा। तब तक भारत में गणतांत्रिक व्यवस्था मौजूद थी। इस बीच एक स्तर तक खेती का विकास हो चुका था और वह पशुपालन के स्थान पर अर्थव्यवस्था की धुरी बनने को आतुर थी। गणतंत्रों की व्यवस्था खेती के विकास में अवरोध बन रही थी। क्योंकि अब खेती योग्य भूमि पर अधिकार, कृषि के कारण बढ़ रही संपत्ति की सुरक्षा, कृषि संबंधी अपराधों की रोकथाम एवं अपराधियों को दंड, कृषिकर्म पर कराधान की नई व्यवस्था तथा उत्तराधिकार की सुस्पष्ट विधियों की आवश्यकता हो रही थी। इस कारण गणतंत्र कमजोर हो कर विच्छिन्न हो रहे थे। अब एक अधिक मजबूत राज्य की आवश्यकता थी। बुद्ध के जीवनकाल के उपरांत इस आवश्यकता के अधीन राज्य उदय हुए और साम्राज्य भी। इस बीच विधि के विकास की भूमिका धर्मसूत्रों और स्मृतियों ने अदा की।

धर्मसूत्र कहे जाने वाले ग्रंथों की रचना ८०० ई. पू. से ३०० ई. पू. के काल में हुई। इनमें गौतम धर्मसूत्र, बोधायन धर्मसूत्र, आपस्तंभ धर्मसूत्र, वशिष्ट धर्मसूत्र, विष्णु धर्मसूत्र, हारीत धर्मसूत्र, हिरण्यकेशि धर्मसूत्र और शंख धर्मसूत्र उल्लेखनीय हैं। लेकिन विधि/न्याय के लिए इनमें से गौतम धर्मसूत्र, बोधायन धर्मसूत्र, आपस्तंभ धर्मसूत्र, वशिष्ट धर्मसूत्र, विष्णु धर्मसूत्र ही प्रधान रहे है। धर्मसूत्रों में धार्मिक, सामाजिक व्यवहार और विधिक निषेधों की व्याख्या छोटे-छोटे सूत्रों या वाक्यों के द्वारा की गई है। ये सामाजिक परंपराओं, रूढ़ियों और उन पर आधारित दीवानी दंड विधि का निर्देश करते हैं। पहली बार धर्मसूत्रों में ही एक सुस्पष्ट विधि व्यवस्था के संकेत प्राप्त होते हैं। इन धर्मसूत्रों में विवाह, पुत्रत्व,दत्तक ग्रहण, उत्तराधिकार, राजा के कर्त्तव्यों, संपत्ति विभाजन, स्त्री-धन, ऋण, साहस, चोरी, हत्या, बलात्संग,व्यभिचार, यौन अपराध, प्रायश्चित और प्रमाण (साक्ष्य) आदि के संबंध में विवेचन प्राप्त होता है।

विधि (न्याय) एवं प्रमाण के विकास में स्मृतियों का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। ये स्मृतियां मूलतः हिन्दू विधि का प्रत्यक्ष स्रोत रही हैं। इन ग्रंथों में सर्वप्रथम विधि नियमों की सुस्पष्ट और क्रमबद्ध विवेचना की गई है। इसी कारण से स्मृतिकाल को "हिन्दू विधि का स्वर्ण काल" कहा

जाता है। स्मृतियों में मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति, कात्यायन की स्मृतियाँ मुख्य हैं। स्मृतियों का रचना काल ३०० ई.पू. से १०० ई. तक का है।

मनुष्य की प्रेरणाओं का मनु ने समुचित विश्लेषण करते हुये कहा है कि प्रत्येक चेष्टा के पीछे प्रेरक शक्ति काम करती है। मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह भावनात्मक आनंद को प्राप्त करे, इसके लिए उसको भौतिक संपत्ति (अर्थ) को प्राप्त करना आवश्यक होता है क्योंकि बिना अर्थ के कोई भी भौतिक कामना पूर्ण नहीं हो सकती। मनुष्य की ये अनुचित इच्छाएं ही मनुष्य को कुत्सित कर्म करने में प्रवृत्त करती है, जिसके कारण मनुष्य विविध प्रकार के अनुचित कर्म करता है। मनुष्य की ये अनुचित इच्छाएं अन्य भावनाओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर) को उपन्न करती है। इस प्रकार अनुचित कार्यों (अपराधों) के लिए मनुष्यों को प्रेरित करने वाले छ: तत्व हैं- काम, क्रोध, लोभ ,मोह, मद और मत्सर। मनुष्य के इन स्वाभाविक शत्रुओं को "रिपुषडवर्ग" कहा गया हैं। धर्मशास्त्रकारों के अनुसार इन छ: शत्रुओं को जीतकर धर्म की स्थापना करनी चाहिए। दूसरे शब्दों में यही न्याय है।

प्राचीन धर्म से सम्बन्धित ग्रन्थों से उस युग की विधि तथा न्याय-व्यवस्था के संगठन का विशद परिचय मिलता है। बृहस्पति, कौटिल्य, शुक्र, मनु, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, नारद, गौतम, वशिष्ठ आदि धर्मशास्त्रकारों ने विस्तार से विधि एवं न्याय-व्यवस्था के संगठन की विशद विवेचना की है। इन ग्रन्थों के अनन्तर निबन्ध ग्रन्थों 'वीरमित्रोदय', 'कृत्यकल्पतरु', 'व्यवहार-निर्णय', 'विवाद-तांडव' आदि में भी न्याय व्यवस्था का विस्तृत रूप से वर्णन प्राप्त होता है।

प्राचीन धर्मशास्त्रकारों ने विवादों के निर्णयों में वेदादि धर्मशास्त्रों के निर्देशों, जाति एवं कुल की रीतियों, विभिन्न वर्गों के अपने रीति-रिवाजों तथा तर्कों को स्थान दिया। पर इन निर्णयों तक पहुचने के लिए एक पूर्ण व्यवहार प्रक्रिया का पालन किया जाता था। यह व्यवहार धर्म पर आधारित होता था। व्यवहार के लिए "विवाद" शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रचलित न्यायव्यवस्था में सत्य का निर्णय पूर्ण निष्पक्षता के साथ किया जाता था और इस निर्णय का अधिकार राजा को प्राप्त होता था। राजा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी होता था। उसके द्वारा ही विवाद का अन्तिम निर्णय लिया जाता था, परन्तु वह निर्णय कार्य को स्वयं संपन्न नहीं करता था बल्कि इसके लिए उसको (राजा) न्यायाधीशों एवं सभासदों से परामर्श लेना पड़ता था, जो राजा की स्वेच्छारिता पर रोक लगाता था। न्यायाधीश की नियुक्ति राजा के द्वारा की जाती थी, क्योंकि राजा के लिए राजकार्यों में अतिव्यस्तता के कारण व्यवहारदर्शन को कर पाना दुष्कर होता था। तात्कालिक समय में न्यायालय में उत्कोच (रिश्वत) प्रचलित था और ऐसे उत्कोच लेने वाले भ्रष्ट न्यायाधीशों को दण्डित भी किया जाता था। यह व्यवस्था जिसमें न्यायालय के भ्रष्ट न्यायाधीशों को दण्डित किया जाता था, विधि की सर्वोच्चता को स्थापित करती है। राजा के प्रधान न्यायालय के अतिरिक्त अन्य स्थानीय न्यायालय भी होते थे। इन स्थानीय न्यायालयों के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि उस समय में न्यायिक व्यवस्था में बहुस्तरीय विकेन्द्रीयकरण था। जिसके कारण

विवादों को उनके स्तर पर ही सुलझाने का प्रयास किया जाता था और यदि इन विवादों का निस्तारण उस स्तर पर नहीं हो पाता था तो उस विवाद को अग्रिम न्यायालय में स्थानान्तरित कर दिया जाता था। यह क्रम तब तक चलता रहता था जब तक विवाद न्यायपूर्ण निर्णय की स्थिति में नहीं पहुंच जाता था अर्थात् कुल, श्रेणी एवं पूग में से कुल न्यायालय में विवादित विषय का निर्णय न होने पर विचारार्थ श्रेणी न्यायालय में भेजा जाता था, श्रेणी न्यायालय में भी निर्णय न होने पर पूग न्यायालय में प्रेषित, पूग न्यायालय के अनिर्णीत विवादित विषय को सभ्यों से युक्त अंतिम न्यायालय राजा के पास भेजा जाता था।

व्यवहारपदों (अपराधों) के निष्पक्षतापूर्ण न्याय सम्पादन के लिए एक व्यवहार प्रक्रिया होती थी। इस व्यवहार प्रक्रिया के चार चरण होते थे जिन्हें 'पाद' कहा गया जाता था। प्रथम चरण, भाषापाद के अंतर्गत वादी द्वारा प्रतिवादी पर लगाए गए अभियोग के भाषण को प्राड्विवाक और प्रतिवादी के सम्मुख लिखित रूप दिया जाता था। भाषापाद को प्रतिज्ञा या आवेदन भी कहा जाता था। द्वितीय चरण, उत्तरपाद के अंतर्गत प्रतिवादी द्वारा स्वयं पर आरोपित विवाद से मुक्त्यर्थ प्रत्युत्तर दिया जाता था। तृतीय चरण, क्रियापाद में विवाद के संबंध में प्रमाणों को उपस्थित किया जाता था तथा उपस्थित प्रमाणों पर सभ्यों द्वारा विचार विमर्श किया जाता था। अंतिम चरण, निर्णयपाद के अंतर्गत उपस्थित प्रमाणों के द्वारा विवाद का निर्णय लिया जाता था। धर्मशास्त्रकार विवादों में शीघ्रातिशीघ्र निर्णय लिये जाने के पक्षधर थे ही साथ ही वे प्रतिवादी की स्थिति के अनुसार विशेष परिस्थितियों में समय दिये जाने के भी समर्थक थे। ताकि प्रतिवादी भी अपने पक्ष को प्रस्तुत कर सके। यह शीघ्रातिशीघ्र निर्णय लेने की व्यवस्था तात्कालिक न्यायिक व्यवस्था का विशेष गुण थी। क्योंकि निर्णय में विलम्ब होने से या विवाद के निर्णय की अवधि लम्बी होने से आवेदित पक्ष को बहुत परेशानी झेलनी पडती है जिससे उसको न्याय व्यवस्था के प्रति विश्वास खत्म होने लगता है।

किसी विवाद का उत्तरपाद से क्रियापाद या बिना क्रियापाद के सीधे निर्णयपाद में प्रवेश करने का आधार उत्तरपाद होता था क्रियापाद में वादी एवं प्रतिवादी स्वयं की निर्दोषता सिद्ध करने के लिये प्रमाण को उपस्थित करते थे। किसी भी विवाद में चाहे वह व्यवहार दिवानी (अर्थमूलक) हो या अपराधी (हिंसामूलक), न्यायाधीश द्वारा विवाद में प्रस्तुत प्रमाणों का समुचित परीक्षण के उपरान्त ही निष्कर्ष/निर्णय तक पहुंचा जाता था। इस निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए विवाद के संबंधित पक्षों (वादी एवं प्रतिवादी) को स्वयं की निर्दोषता के समर्थन में समुचित प्रमाणों को प्रस्तुत करने का अवसर दिया जाता था। प्रमाण के दो भेदों में से प्रथम मानुषी प्रमाण के तीन भेद किये गये- लिखित, साक्षी एवं अनुमान तथा द्वितीय दैविकी प्रमाण के भेद ९ भेद किये गये- अग्नि, जल, विष, कोश, तन्डुल, तप्तमाष, फाल एवं धर्मज्ञ।

विवाद के निराकरण के लिए उपस्थित प्रत्येक प्रमाण का औचित्य होता था। परन्तु प्रमाणों में लिखित प्रमाण का औचित्य अन्य प्रमाणों से अधिक था, क्योंकि मौखिक रूप से सुनी या देखी घटनाओं में दीर्घता से विस्मरण, भ्रान्ति एवं विभिन्नताएं प्रविष्ट कर जाती है। जिससे परस्पर

कथनों में विसंगतियों के उपस्थित होने से उन कथनों की महत्ता कम या बिलकुल नहीं के बराबर हो जाती है । अत: इन विसंगतियों से बचने के लिए लिखित प्रमाण को श्रेष्ट माना गया था क्योंकि उचित रूप में लिखा गया लिखित प्रमाण सभी भ्रान्तियों एवं विसंगतियों से परे होता है । क्रियापाद के अन्तर्गत दूसरा प्रमाण भुक्ति होता था जिसे साक्षी से अधिक प्रमाणिक माना जाता था । भुक्ति से तात्पर्य उपभोग से होता था अर्थात् किसी व्यक्ति के द्वारा किसी अन्य की वस्तु को अल्पकालिक या दीर्घकालिक समय के लिए अपने अधिकार में रखना भुक्ति कहलाता था । भुक्ति प्रमाण लिखित एवं साक्षी प्रमाण से अधिक बलवान होता था क्योंकि लिखित प्रमाण के होने एवं साक्षियों के जीवित होने पर भी अचल सम्पत्ति पर स्वत्व का अधिकार बिना भोग के संभव नहीं होता था । केवल मात्र भुक्ति को स्वामित्व का आधारभूत कारण नहीं माना जा सकता था । क्योंकि भोक्ता भले ही व्यवहारिक दृष्टि से सम्पत्ति का स्वामी हो, परन्तु कानूनी दृष्टि से केवल भोग को स्वत्व का आधार नहीं माना जा सकता था । इसके लिए विशुद्ध आगम का भी होना आवश्यक होता था । लिखित एवं भुक्ति प्रमाण के बाद तीसरा प्रमाण साक्षी को माना गया था जिसे दोनों (लिखित एवं भुक्ति प्रमाण) के अभाव में प्रस्तुत किया जाता था । साक्षी न्यायप्रक्रिया में विवाद को समाधान कराने में एक कड़ी के समान कार्य करता था । क्योंकि साक्षी द्वारा वादी-प्रतिवादी के मध्य में कार्य विशेष को लेकर उत्पन्न हुए संदेह से संबंधित वे प्रकृत तथ्य प्रकाश में लाये जाते थे, जो साक्षी द्वारा उस कार्य में देखा, सुना या अनुभव किया गया था । धर्मशास्त्रकारों ने विवादों में साक्षी के लिए वर्ण, वर्ग, वृत्ति एवं जाति की समानता पर बल दिया था अर्थात् यदि विवाद किसी वर्ण (ब्राह्मणादि), वर्ग (स्त्री-पुरुष आदि), वृत्ति (व्यापारी आदि) एवं जाति विशेष का होता था तो उसमें साक्षी भी इन्हीं वर्ण, वर्ग, वृत्ति एवं जाति का होना आवश्यक था । साक्षी के परीक्षण के उपरान्त उसको साक्ष्यार्थ योग्य मानते हुए शपथ दिलाया जाता था । किसी कारणवश जब साक्षी द्वारा ज्ञात वस्तु की सत्यता को छिपाता जाता था या वादी धनादि का लोभ देकर साक्षी रखता था या प्रतिवादी के साक्षियों को कुछ लालच देकर अपने स्वार्थ में करता था तो उस वादी और कूट साक्षी दोनों को पृथक्-पृथक दण्डित करते हुए विवाद का दोगुना दण्ड दिया जाता था । जिस विवाद की सिद्धि मानुषी प्रमाण अर्थात् लिखित, भुक्ति एवं साक्षी आदि प्रमाणों से न होती थी, तब अन्त में जिस प्रमाण को प्रयोग में लाया जाता था वह दिव्य प्रमाण / शपथ होता था । दिव्य प्रमाण का प्रयोग तभी ही किया जाता था जब मानुषी प्रमाणों के द्वारा विवाद का निर्णय संभव न हो पाता था । दिव्य प्रमाण से तातपर्य दैवीय शक्तियों की सहायता से सत्य को प्रकट करना होता था । दिव्य प्रमाण नौ माने गये थे- घटविधि, अग्निविधि, जलविधि, विषविधि, कोशविधि, तण्डुलविधि, तप्तमाषविधि, धर्म-अधर्मविधि, फालविधि । दिव्य प्रमाण में व्यक्ति के अपराधित्व की परीक्षा कठोर विधियों से की जाती है इसलिए अपराधी दिव्य विधि को करने से पूर्व ही भयभीत होकर अपने अपराध को स्वीकार कर लेता है । लेकिन जो अपराधी होते हुए भी अपने को छिपाता है वह दिव्य की कठोर विधियों के परीक्षण में सदा शंकित होते रहने पर विधियों के मध्य ही अपने असामान्य हाव-भाव को प्रकट कर देता था जो उसके अपराध को प्रमाणित कर देते थे । इसलिए इस विधि का मनोवैज्ञानिक महत्त्व था ।

इस प्रकार विस्तार से प्रमाण के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि तात्कालिक समय में भी एक निष्पक्ष न्यायव्यवस्था प्रचलित थी जो काफी सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित थी । यदि धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था की तुलना वर्तमान न्याय व्यवस्था में प्रचलित भारतीय साक्ष्य अधिनियम से की जाये तो इसके औचित्य को स्थापित किया जा सकता है । परन्तु धर्मशास्त्रीय एवं आधुनिक प्रमाण व्यवस्था का सम्बन्ध तात्कालिक समय की प्रचलित विधि व्यवस्थाओं से हैं और इसी तात्कालिकता की वजह से इन दोनों प्रमाण व्यवस्थाओं में विषमता का समावेश हो जाता हैं । इन विषमता के बावजूद आज भी प्रमाण व्यवस्था विधि का मुख्य आधार है । प्रमाणों के अभाव में विवाद के निर्णय की स्थिति तक पहुंचना धर्मशास्त्रीय प्रमाण व्यवस्था के समान आधुनिक विधि में भी दुष्कर कार्य है । सम्पूर्ण प्रकार से तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात सम्मिलित रूप से प्रमाण के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यह प्रमाण क्या है? प्रमाण को क्यों एकत्रित किया जाता है? प्रमाण के कृत्य क्या हैं? प्रमाण से संबंधित वस्तु? न्यायालय में प्रमाण का उपयोग किया जाना? अपराध अनुसंधान में प्रमाण का महत्व? इत्यादि । इनका विश्लेषण निम्न है-

प्रमाण क्या है?- न्यायालय के सामने आने वाले सभी मामलो में किसी-न-किसी तथ्य की कहानी होती है जो तथ्य मामलो को जन्म देते हैं । वह प्रायः जीवन के काम काज में साधारण रूप से घटित होते रहते हैं । जैसे- एक भीड़ वाली सड़क पर लोग चल रहे है और वाहन चला रहे है हर आदमी बहुत तेजी से जा रहा है तभी दो वाहन आपस में टकरा जाते हैं । उनमे से एक वाहन में विस्फोटक पदार्थ भरा होता है तथा दुर्घटना के कारण उसमे विस्फोट हो जाता है। जब यह मामला न्यायालय के सामने आता है तब दुर्घटना की प्रकृति और उसका कारण विवाद का विषय होगा तब सारे तथ्य पुनः न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करना होंगे जिससे न्यायाधीश वास्तविक रूप से घटना को समझ सकें । प्रमाण, सबूत, ऐविडेन्स, गवाही सभी पर्यायवाची शब्द हैं । तदनन्तर यह जानना आवश्यक है कि यह प्रमाण क्या है- १. प्रमाण किसी सत्य को स्थापित करने वाला कारक होता है । २. प्रमाण किसी धारणा को पुष्ट करने के लिये सहायक कारक होता है । ३. प्रमाण के माध्यम से किसी भ्रम या भ्रान्ति को वास्तविकता के दृष्टिकोण से परखा जाता है । ४. किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुचने के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले कारक को प्रमाण कहते हैं । ५. प्रमाण के माध्यम से निर्णय की सटीकता स्थापित होती है । ६. शंका आधार बिन्दु है, निर्णय (सत्य) अंतिम बिन्दु है और प्रमाण इनके बीच की सीढ़ी है । ८. अपराध/अपराधी/साक्षी के बीच संबंध करने वाले सभी कथन, दस्तावेज, वस्तुयें प्रमाण कहीं जा सकती हैं ।

प्रमाण को क्यों एकत्रित किया जाता है?- अपराधिक विधि में किसी भी अपराधकर्ता को दण्डित कराने हेतु न्यायालय में उसके विरूद्ध प्रमाण प्रस्तुत करना आवश्यक होता है । ताकि न्यायालय प्रमाण के आधार पर अपराधकर्ता का उत्तरदायित्व निर्धारित कर उसे विधि अनुसार सिद्ध होने पर दण्डित करें या आसिद्ध होने पर उसे दोष मुक्त कर सके । प्रमाण के अन्तर्गत वे सभी साधन आते हैं जिनके द्वारा किसी तथ्य को न्यायालय के संतोष के लिए सिद्ध किया जाता है । साथ ही प्रमाण में ऐसी कही बाते भी आती है जो मौखिक या दस्तावेजी प्रमाण नहीं होती फिर भी न्यायालय उनका उपयोग अपने निर्णय लेने में करता है जिसे न्यायालय द्वारा अनुसंधान के दौरान

एकत्रित किया जाता है। इसलिए प्रमाण का एकत्रण निम्न वजह से किया जाता है- १. अनुसंधान की दिशा तय करने के लिये, २. अभियोगी की सत्यता परखने के लिये, ३. अभियुक्त (आरोपी) की घटना से संबंद्धता जांचने के लिये, ४. घटना के सूत्रों को कड़ीबद्ध करने के लिये, ५. अनुसंधानकर्ता की निर्णयात्मकता को पुष्ट करने के लिये (अन्वेषक का निर्णय सही है या नहीं), ६. न्यायालय के विचारण और विश्लेषण के लिये, ७. न्यायिक अवधारणा की संतुष्टि के लिये, ८. न्याय के प्राकृतिक सिद्धान्त की सहायता के लिये, ९. पीड़ित को राहत और अभियुक्त की दोष सिद्धि हेतु, इत्यादि उल्लेखनीय है कि यहां साक्ष्यों का निर्माण या रचना नहीं है वरन् उनका संकलन मात्र है अर्थात् वे जैसे हैं उन्हें उसी रूप में प्राप्त करना होता है।

प्रमाण के कृत्य क्या हैं?- १. अपराध के निकटतम चलना, २. अपराध के निकटतम प्रहार क्रिया, ३. अपराध के निकटतम अवरोध, ४. अपराध के निकटतम स्थावरता (स्थिरता), ५. अपराध के निकटतम दृश्यता, ६. अपराध के निकटतम तकनीक का विश्लेषण।

प्रमाण के कथन क्या हैं?- १. अपराध की दृश्यता का सिलसिलेवार बताया जाना (चश्मदीद या चक्षुदर्शी साक्षी), २. अपराध की परिस्थिति का सिलसिलेवार बताया जाना (चश्मदीद या चक्षुदर्शी साक्षी, परिस्थितिजन्य प्रमाण), ३. अपराध की तकनीक का परीक्षण किया जाकर उसका विवरण दिया जाना, ४. अपराध की निकटतम संभावना के संबंध में जानकारी दिया जाना।

प्रमाण से संबंधित वस्तु- १. दस्तावेज- पत्र, प्रपत्र, इलेक्टॉनिक दस्तावेज आदि, २. शारीरिक अवयव- रक्त, बाल, मल, मूत्र, उल्टी, चमड़ी, वीर्य, हड्डी, डी.एन.ए., लार आदि, ३. भौतिक अवयव- जो घटनास्थल पर प्राप्त हों या उसे व्यक्त करते हों, ४. पारस्परिक अवयव- वे अवयव जो घटनास्थल और अपराध/अपराधी से संबंध रखते हों इनमें पस्पर विनिमय होने वाले प्रमाण आते हैं- जैसे मृतक के रक्त के धब्बों का आरोपी के वस्त्रों या वस्तुओं पर पाया जाना, रेशों का परस्पर विनिमय, लार या बालों का परस्पर विनिमय |

न्यायालय में प्रमाण का उपयोग किया जाना- १- यही वे प्रमाण हैं जो न्यायालय को अभियुक्त या आरोपी का परीक्षण करने में सहायता करते हैं, २- यही अवयव न्यायालय की शंका का समाधान करते हैं, ३- इन्हीं के परस्पर मिलान से घटना के सूत्र या कड़ियां स्थापित होती हैं, ४- इन्हीं के परस्पर मिलान से वास्तविक अपराधी का पता चलता है, ५- यही अवयव प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत की निकटतम स्थिति तक ले जाते हैं, ६- यही अवयव दोषी को सजा के स्तर तक लेकर जाते हैं।

अपराध अनुसंधान में प्रमाण का महत्व- १- प्रमाण से ही अनुसंधानकर्ता को दिशा प्राप्त होती है। २- प्रमाण के माध्यम से ही अनुसंधानकर्ता शंका से समाधान की ओर जाता है। ३-

प्रमाण के माध्यम से ही घटना स्थल की वास्तविकता स्थापित हेाती है । ४- प्रमाणों के विश्लेषण से ही अन्य प्रमाणों की विश्वनीयता स्थापित होती है । ५- प्रमाण संकलन से अपराध की प्रकृति, उद्देश्य व प्रबलता का ज्ञान होता है । ६- प्रमाण ही न्यायिक विश्लेषण का मुख्य आधार होता है । प्रमाण विधि पक्षकारो के अधिकारो को प्रभावित नहीं करती बल्कि यह केवल ऐसे नियमों का प्रतिपादन करती है जिससे न्याय प्रणाली को सुविधा से चलाया जा सकें ।

सन्दर्भ-सूची

मूल स्त्रोत-

- '*अग्निपुराण*', सम्पादक बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, १९६६
- '*अष्टादशस्मृति* (भाषा-टीका सहित)', पं. मिहिरचन्द (सम्पादक), नाग प्रकाशक, दिल्ली, १९९०
- *'अष्टाविंशति स्मृति संग्रह'*, हरिप्रसाद (सम्पादक), भागीरथ प्रेस, बम्बई
- *'अथर्ववेद संहिता (सायण भाष्य)'*, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९५८
- *'अथर्ववेद संहिता'*, डब्लू०डी० ह्विटनी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९९६
- *'अष्टादश उपनिषद् (भाग एक)'*, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९५८
- *'अष्टाध्यायी'*, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९९७
- *'आपस्तम्बधर्मसूत्रम् (उज्ज्वलाटीका सहित)',* उमेशचन्दपाण्डेय (सम्पादक), चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, १९९२
- *'आपस्तम्बधर्मसूत्रम्* (उज्ज्वलाटीका सहित)', जी बुहलर (अंग्रेजी अनुवादक), सेक्रेड बुक ऑफ दि ईस्ट, भाग-२, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६४
- *'आपस्तम्बधर्मसूत्रम्',* एम०जी० शास्त्री (सम्पादक), भण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टियूट, पूना १९३२
- *'इशादि नौ उपनिषद्'*, हरिकृष्ण गोयन्दका (सम्पादक), गीताप्रेस, गोरखपुर, १९५३
- *'ऋग्वेद'*, श्री राम शर्मा (सम्पादक), संस्कृत संस्थान, बरेली, १९६२
- *'कात्यायनस्मृति'*, पी. वी. काणे (अंग्रेजी अनुवादक), हिन्दू लॉ क्वार्टली, बम्बई, १९३३
- *'कात्यायनस्मृति'*, नारायण चन्द्र बन्दोपाध्याय (सम्पादक), कलकत्ता, १९१७
- *'कौटिल्यमर्थशास्त्र'*, वाचस्पति गैरोला (सम्पादक), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २००३
- *'कौटिल्य अर्थशास्त्र'*, आर. शामशास्त्री (सम्पादक), मैसूर, १९१९

- *'कौटिल्य अर्थशास्त्र'*, टी०गणपति शास्त्री (सम्पादक), इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, दिल्ली, १९८४
- *'गौतमधर्मसूत्रम् (मिताक्षराटीकासहित)'*, उमेशचन्द पाण्डेय (सम्पादक), चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, २००४
- *'गौतमधर्मसूत्रम् (मिताक्षराटीका सहित)'*, जी बुहलर (अंग्रेजी अनुवादक), सेक्रेड बुक ऑफ दि ईस्ट, भाग-२, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६४
- *'छान्दोग्य उपनिषद्'*, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता
- *'धर्मशास्त्र संग्रह'*, बाबूसाधूचरण प्रसाद (सम्पादक), खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन, बम्बई, १९९५
- *'धर्मकोश (व्यवहारकाण्ड)'*, लक्ष्मणशास्त्री जोशी (सम्पादक), प्रज्ञा पाठशाला मण्डल, सतारा, १९३६
- *'नारदस्मृति (तिलोत्तमाटीका सहित)'*, ब्रजकिशोर स्वैन (सम्पादक), चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, १९९६
- *'नारदस्मृति'*, आर०डब्ल्यू०लैरिवियरे (सम्पादक और अनुवादक), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, २००३
- *'पराशरस्मृति'*, जाह्नवी शेखर राय (सम्पादक), रामानन्द विद्या भवन, दिल्ली, १९९५
- *'पराशरस्मृति'*, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, १९९८
- *'बृहस्पतिस्मृति'*, जे. जॉली (सम्पादक), सेक्रेड बुक ऑफ दि ईस्ट, भाग-३३, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६५.
- *'बृहस्पतिस्मृति'*, श्री रंगस्वामी शर्मा (सम्पादक), गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज, बडौदा, १९४१
- *'बौधायनधर्मसूत्रम् (विवरणटीका सहित)'*, उमेशचन्द पाण्डेय (सम्पादक), चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, २००८
- *'बौधायनधर्मसूत्रम्'*, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, १९९९
- *'मत्स्यपुराण'*, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता,१८७६
- *'मनुस्मृति (मन्वर्थमुक्तावली टीका सहित)'*, मणिप्रभा हिन्दी व्याख्या- पं. हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत भवन, वाराणसी, २००६.

- *'मनुस्मृति (कुल्लूटभट्ट टीका)'*, आचार्य जगदीशलाल शास्त्री (सम्पादक), मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, २०००
- *'मनुस्मृति (मेधातिथि टीका)'*, गंगानाथ झा (सम्पादक), परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, १९९८
- *'मनुस्मृति'*, रामेश्वर भट्ट (सम्पादक), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९८७
- *'महाभारत (एक से छ: खण्ड)'*, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९९९
- *'याज्ञवल्क्य-स्मृति'*, विज्ञानेश्वरकृत मिताक्षरा व्याख्या एवं मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या सहित, दुर्गाधर झा विद्यावाचस्पति (हिन्दी व्याख्याकार), शशिनाथ झा (सम्पादक), भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, २००२
- *'याज्ञवल्क्य-स्मृति (मिताक्षराटीका सहित)'*, गंगासागरराय (हिन्दी अनुवादक), चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, २००६
- *'याज्ञवल्क्य-स्मृति (मिताक्षरा व्याख्या सहित)'*, उमेशचन्द पाण्डेय (सम्पादक), चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, २००६
- *'याज्ञवल्क्य-स्मृति (विज्ञानेश्वर मिताक्षरा सहित)'*, वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पंसीकर (सम्पादक), निर्णय सागरप्रेस, बम्बई, १९३६
- *'याज्ञवल्क्य-स्मृति (विश्वरूप टीका)'*, त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला, चौखम्बा सीरीज ऑफिस, वाराणसी
- *'व्यासस्मृति'*, धर्मशास्त्र संग्रह, खण्ड दो, कलकत्ता, १८७६
- *'वशिष्ठधर्मसूत्र'*, ए०ए०फ्यूरर (सम्पादक), बॉम्बे संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरिज, बम्बई, १९१६
- *'वायुपुराण'*, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, १९०५
- *'वाल्मिकी रामायणम्* (दो खण्डों में)', गीता प्रेस, गोरखपुर, १९९७
- *'विष्णु धर्मसूत्र'*, जे० जाली (सम्पादक), कलकत्ता, १८११
- *'वीरमित्रोदय-परिभाषाप्रकाश'*, श्री विष्णु प्रसाद शर्मा (सम्पादक),चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९८७
- *'वीरमित्रोदय-व्यवहारप्रकाश'*, श्री विष्णु प्रसाद शर्मा (सम्पादक),चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९८३

- *'शुक्रनीति,'* ब्रह्माशंकरमिश्र (सम्पादक), चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९९८
- *'शुक्रनीति सार'*, स्वामी जगदानन्द सरस्वती (सम्पादक), ऋषदेवी रूपलालकपूर धर्मार्थ ट्रस्ट, सोनीपत, हरियाणा, १९९७
- *'स्मृति-सन्दर्भ'*, श्रीमन्महर्षिप्रणीत- धर्मशास्त्रसंग्रहः, नाग प्रकाशन, दिल्ली, १९८८
- *'स्मृतिसार संग्रह'*, कैलाश चन्द्र स्मृतिपीठ, चैतन्य चतुष्पाठी, पं. बगाल, १९७९
- *'स्मृतिसारोद्धार'*, विश्वम्भर त्रिपाठी (सम्पादक), चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, १९०६
- *'स्मृतिप्रकाश'*, निहालचन्द्र राय (सम्पादक), मुजफ्फरनगर, १८९०

द्वितीयक स्त्रोत-

- अग्रवाल, जी.आर., **'*धर्मशास्त्र का समाजदर्शन*'**, वाराणसी, १९८६
- अल्टेकर, ए.एस., **'*प्राचीन भारतीय शासन पद्धति*'**, भारती भण्डार, इलाहाबाद, १९६९
- उपाध्याय, बलदेव, **'*संस्कृत साहित्य की इतिहास*'**, शारदा निकेतन, वाराणसी, २००१
- उपाध्याय, वेद प्रकाश, **'*हिन्दू विधि एवं स्त्रोत*'**, इन्टर नेशनल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, १९८६
- ऋषि, उमाशंकर शर्मा, **'*संस्कृत साहित्य की इतिहास*'**, चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, २०१०
- काणे, पाण्डुरंग वामन, **'*धर्मशास्त्र का इतिहास*'**, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी समिति विभाग), लखनऊ, १९९२
- केसरी, यू. पी. डी., **'*हिन्दू विधि*'**, सेन्ट्रल ला पब्लिकेशन, इलाहाबाद, २००३
- खेडा, आर. सी. (सम्पादक), **'*अपराध कानून संहिता*'**, ऐलाइड बुक कम्पनी, दिल्ली, २००८
- गुप्ता, ऊषा, **'*याज्ञवल्क्यस्मृति का समीक्षात्मक अध्ययन*'**, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, १९९८

- गैरोला, वाचस्पति, '*भारतीय धर्मशाखाएं और उनका इतिहास*', चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९९८
- चौहान, प्यारे लाल, '*स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति (न्याय व्यवस्था)*', नाग प्रकाशक, जवाहरनगर, दिल्ली, १९९५
- जौहरी, मनोरमा, '*प्राचीन भारत में राज्य और शासन व्यवस्था*', गणेश प्रकाशन, वाराणसी, १९७२
- ठाकुर, लक्ष्मीदत्त, '*प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन*', लखनऊ, १९६५
- तिवाडी, योगेन्द्र कुमार, '*हिन्दू विधि*', राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९९०
- त्रिपाठी, हरिहरनाथ, '*प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड*', चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९९९
- त्रिपाठी, हरिहरनाथ, '*प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका*', मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६५
- त्रिपाठी, प्रतिभा, '*अपराध एवं दण्ड स्मृतियों एवं धर्मसूत्रों के परिप्रेक्ष्य में*', राका प्रकाशन, इलाहाबाद, १९९१
- त्रिपाठी, वाचस्पति शर्मा, '*प्राचीन भारत की दण्ड व्यवस्था*', नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर, दिल्ली १९८९
- दीवान, पारस, '*आधुनिक हिन्दू विधि*', इलाहाबाद, १९९२
- पाण्डेय, राजेन्द्रप्रसाद, '*धर्मशास्त्र का इतिहास 'धर्मद्रुम''*, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २००३
- पाण्डेय, उदयशंकर, '*प्राचीन भारत की राजव्यवस्था वैदिक एवं स्मृतिकालीन*', नाग प्रकाशक, दिल्ली, १९९४
- पाण्डेय, श्यामलाल, '*कौटिल्य की राज्यव्यवस्था*', लखनऊ, १९५६
- मधुकर, सुरेन्द्र, '*भारत का विधिक इतिहास*', विधि साहित्य प्रकाशन, विधायी विभाग, विधि और न्याय मंत्रालय, भारत सरकार, १९८९
- मिश्र, रमानाथ, '*प्राचीन भारतीय समाज, अर्थव्यवस्था एवं धर्म*', भोपाल, १९९१
- मिश्र, जयशंकर, '*प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास*', बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९८३

- यादव, अच्छेलाल, '*प्राचीन हिन्दू विधि*', इण्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी, १९८१
- यादव, राजाराम, '*भारतीय साक्ष्य अधिनियम*', सन्ट्ल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद, २०१७
- विद्यालंकार, सत्यकेतु, '*प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग*', श्री सरस्वती सदन, दिल्ली, १९९८
- रवीन्द्रनाथ, '*धर्मशास्त्रीय अन्तर्राष्ट्रीय विधि*', किताब महल, दिल्ली, १९९९
- रतनलाल तथा धीरजलाल, '*भारतीय साक्ष्य विधि*', LexisNexis, अन्धेरी (पूर्व), मुम्बई २०१३
- राव, विजय बहादुर, '*उत्तरवैदिक समाज एवं संस्कृति*', वाराणसी, १९६२
- राव, राजवंत, '*प्राचीन भारत में धर्म एवं राजनीति*', साहित्य संगम, इलाहाबाद, १९९५
- राय, कौशलकुमार, '*अपराध और दण्डशास्त्र*', चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १९६४
- विभा, '*धर्मशास्त्र साहित्य में अपराध एवं दण्ड विधान (मनु तथा याज्ञवल्क्य के विशेष सन्दर्भ में*)', संस्कृत ग्रन्थागार, रोहिणी, दिल्ली, १९९५
- *'सिविल प्रक्रिया संहिता १९०८'*, नियन्त्रक भारत सरकार, दिल्ली, २००४
- सिंह, ओमप्रकाश, '*प्राचीन भारतीय समाज एवं शासन*', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, १९९६
- शुक्ला, साधना, '*प्राचीन भारत में अपराध एवं दण्ड*', प्रज्ञा प्रकाशन, कानपुर, १९८७

कोशग्रन्थ-

- '*अमरकोषः*', अमरसिंह, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम् मानितविश्वविद्यालयः, नई दिल्ली, २००३
- '*अमरकोष*', मणिप्रभा हिन्दीटीका सहित, हरगोविन्दशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज ऑफिस, बनारस, १९५७
- '*धर्मकोश व्यवहारकाण्डम्*', एल. जोशी (सम्पादक), प्राज्ञ-पाठशाला, सतारा, १९३७

- '*परिजातकोश: (संस्कृत-हिन्दी शब्दार्थकोश:)*', पं. ईश्वरचन्द्र (सम्पादक), परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, २००५
- '*शब्दकल्पद्रुम*', राधाकान्त बहादुर, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, १९६१
- '*हिन्दू धर्मकोश*', डॉ. राजबली पाण्डेय, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, १९८८

शोध प्रबन्ध-

- Maurya, Ratan Chand, Smiritiyon mein varnit vidhik Aur nyayik sankalpnayein, Department of History, V. B. S. Purvanchal University, 2006,
- Mishr, Neeraj Kumar, Smiriti sahitya mein uplabdh vidhi vyavastha, Department of Sanskrit, V. B. S. Purvanchal University, 2008,
- Ojha, V. K., Justice and Judicial Administration In Ancient India Researcher, Department of Ancient History, University of Allahabad, 2016,
- Pandey, Brijesh Kumar, Sanskrit sahitya mein uplabdh apradh evam dand vyavastha, Department of Sanskrit, V. B. S. Purvanchal University, 2009
- Pandey, Ramnath, Vidhi Aur nyaya ki pracheen Bhartiya sankalpnayein Aur tadvishyak prashasan, Department of Ancient History, V. B. S. Purvanchal University, 1999
- Rai, Anil Kumar, Dalapati Raj krit vyawhar sar ka aalochanatmak adhyayana, Department of Sanskrit, Panjab University, 2004
- Reddy, Kodigi Sujatha, Civil and Administrative law of third century B.C., Department of Sanskrit, Delhi University, 1993

- Singh, Durgesh Kumar, Smritiyon mein vidhi vyavastha ka adhyayan Manusmriti yagyavalkay smriti parashar smriti vrihaspati smriti narad smriti tatha katyayan smriti, Department of Ancient History, V. B. S. Purvanchal University, 2008
- Singh, Pramod Kumar, Pracheen Bhartiya vangdmai mein nyayik prakriya ka gaveshnatmak adhyayan, Department of Ancient History, V. B. S. Purvanchal University, 2005
- Singh, Ruchi, Kautilya arthshastra Ek vidhishastriya adhyayan, Department of Ancient History, V. B. S. Purvanchal University, 2009
- Singh, Shyam Narayan, Pracheen Bharat mein vyavhar vidhi prarambh se chhathi shatabdi Isvi tak, Department of Ancient History, Culture and Archaeology, V. B. S. Purvanchal University, 2000
- Yadav, Ravindra Nath, Nyaye Pranali mein vigyaneshwar krit mitakshara ke yogdan ka moolyankan, Department of Ancient History, V. B. S. Purvanchal University, 1999
- Yashoda, Yashoda, Dharmasootra sahitya ka samalochnatmak addhyayana, Department of Sanskrit, Maharshi Dayanand University, 2009
- चोपडा, रजनी, धर्मशास्त्रों में दण्ड व्यवस्था के मूल सिद्धान्त (संस्कृत विभाग), दिल्ली विश्वविद्यालय, 1988
- त्रिपाठी, प्रतिभा, प्रमुख स्मार्त एवं धर्मसूत्रों में अपराध एवं दण्ड विधान (संस्कृत विभाग), दिल्ली विश्वविद्यालय, 1984
- पंकज, स्मृतियों में प्रमाण सिद्धान्त एवं आधुनिक प्रमाण सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन (संस्कृत विभाग), दिल्ली विश्वविद्यालय, 1995

अन्तर्जालीय स्त्रोत-

- http://www.allindialaw.com
- https://teesarakhamba.com
- http://accessofjustics.blogspot.com
- http://shodhganga.inflibnet.ac.in
- https://sa.wikibooks.org
- http://sanskrit.jnu.ac.in